सर्वोदय साहित्य माला

१०७वाँ ग्रन्थ

---

[१०७]

तीस दिन

मालवीयजी के साथ

लेखक

श्री रामनरेश त्रिपाठी

सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली

—शाखाएँ—

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : कलकत्ता : इलाहाबाद

२१ जनवरी, १९४२ : २०००

मूल्य

सजिल्द—दो रुपया

अजिल्द—डेढ़ रुपया

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नयी दिल्ली

मुद्रक
देवीप्रसाद शर्मा
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस
नयी दिल्ली

प्रकाशक का निवेदन

हमें बड़ी प्रसन्नता है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की रजत-जयंती (वसंत पंचमी) पर इस पुस्तक का प्रकाशन कर सके। पर यह प्रसन्नता बहुत ही अधिक बढ़ जाती अगर हम मान्य श्री टण्डनजी की भूमिका के सहित उसी समय इसे तैयार करा पाते। उनकी अत्यन्त कार्यव्यस्तता और बीमारी तथा हमारे दिल्ली से बाहर रहने के कारण इच्छा रहते हुए भी हम उसे पुस्तक में नहीं दे पाये। अतः मन मारकर कुछ प्रतियाँ बिना भूमिका के ही तैयार करायी गयी थीं। अब बाकी प्रतियों में भूमिका जोड़ दीगयी है और जिनके पास बिना भूमिका के प्रतियाँ गयी हैं उनको भी भूमिका का फार्म भेजने का प्रबन्ध किया है।

हमारी और इस पुस्तक के विद्वान् लेखक श्री रामनरेश त्रिपाठी की प्रार्थना और आग्रह पर अपना अमूल्य समय प्रदान कर श्री. टण्डनजी ने भूमिका भेजने का प्रयत्न किया इसके लिए हम उनके बड़े आभारी हैं और उसका उपयोग तुरन्त नहीं कर पाये इसके लिए क्षमा-प्रार्थी हैं।

मंत्री

सस्ता साहित्य मण्डल

भूमिका

इस पुस्तक की भूमिका लिखने का संदेसा मुझे फ़तेहगढ़ सेंट्रल जेल में पहले प्रकाशक की ओर से और फिर लेखक की ओर से मिला। छपे हुए फ़ार्म भी कुछ दिनों बाद वहीं प्राप्त हुए। मैंने भूमिका का एक अच्छा भाग लिखा भी। फिर जेल से छूटने के समाचार आने लगे और कुछ बातों की जाँच के लिए मुझे ऐसे कागद-पत्रों की आवश्यकता जान पड़ी जो जेल के बाहर मिल सकते थे। इससे मैंने यह निर्णय किया कि जेल से बाहर होकर भूमिका समाप्त करूँगा। परन्तु जेल से बाहर आने के बाद सार्वजनिक कामों और यात्राओं के दबाव से और शरीर भी अस्वस्थ हो जाने के कारण इस विषय पर फिर कलम चलाने कल ही बैठ सका। प्रकाशक ने इच्छा प्रकट की थी कि जहाँतक बने हिन्दू विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर पुस्तक तैयार होकर पहुँच जाये। पुस्तक के लेखक का तो इस विषय में विशेष आग्रह है ही। इस कारण मैंने जिस क्रम पर भूमिका लिखने का विचार किया था उसे छोड़ दिया। वह लम्बा था। दूसरे क्रम से और छोटे रूप में इस कार्य को करता हूँ।

पूज्य मालवीयजी हमारे देश के देदीप्यमान रत्न हैं। उनका नाम ऐतिहासिक है। उनका मानसिक और आध्यात्मिक निर्माण जिन कारणों से प्रभावित हुआ है उनको ठीक रीति से जानने का यत्न हमारे लिए शिक्षा-प्रद है। मेरे मित्र श्री रामनरेश त्रिपाठी हिन्दी के कुशल और प्रसिद्ध लेखक हैं। मालवीयजी के साथ कुछ दिन स्वयं रहकर और उनके

मुख से बातें सुनकर तथा दूसरों से उनके बारे में बातें पूछकर और कुछ कागद-पत्र के सहारे इस पुस्तक में उन्होंने जो रोचक और सुन्दर चित्रण उनका किया है उसके लिए वह हमारी कृतज्ञता के अधिकारी हैं। यह स्पष्ट ही है कि पुस्तक मालवीयजी की क्रमबद्ध जीवनी नहीं है। अपने निश्चित दिवसों में जिन-जिन बातों का चर्चा लेखक के कान में जब आया अथवा उनका ध्यान जब किसी बात पर गया, तब उसी समय उन्होंने उन बातों को और उनपर अपने विचारों को कलम-बद्ध कर लिया, किन्तु घटनाओं और स्थितियों की विशेष जाँच-परताल की ओर उनका ध्यान नहीं गया।

पूज्य मालवीयजी के समीप आये मुझको ४१ वर्ष से ऊपर हुए। उनके काम और जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जिन घटनाओं का इस पुस्तक में उल्लेख है उनमें से कई मेरे सामने की हैं और सार्वजनिक क्षेत्र में रहने के कारण कुछ में मैं भी स्वभावतः सम्मिलित रहा हूँ। इससे मुझे उनकी कुछ सीधी जानकारी है। पुस्तक के कई स्थानों पर ऐसी बातें मिलीं जिनकी सूरत वैसी नहीं है जैसी मैंने देखी है। कुछ की ओर ध्यान दिलाता हूँ।

छठे दिन के अन्तर्गत 'त्रिवेणी-संगम का सत्याग्रह' जिन शब्दों में वर्णित किया गया है उनमें कुछ परिवर्तन की आवश्यकता मुझे लगती है। मेरा भी उस घटना से घनिष्ठ सम्बन्ध था। जिस दिन की वह बात है उससे पिछली साँझ को मालवीयजी ने मुझे इसी विषय में सलाह करने के लिए गंगा-तट पर बुलाया था। मैं लगभग ७ बजे रात्रि को उनके डेरे में पहुँच गया था। उस समय से दूसरे दिन घटना की समाप्ति तक मैं उसमें बराबर (लगभग आध घंटे के अतिरिक्त) सम्मिलित

रहा। किस प्रकार सत्याग्रह की तैयारी हुई वह रोचक कहानी है, किन्तु यहाँ अपनी जानकारी की अन्य बातें न लिखकर इतना मुझे अवश्य कहना है कि सत्याग्रह लगभग दोपहर के समय आरम्भ हुआ था और साँझ के लगभग ५ बजे समाप्त हुआ था और त्रिपाठीजी ने पृष्ठ ४९ पर जो यह लिखा है कि "पैदल और घुड़सवार दोनों तरह की पुलीस ने हमला बोल दिया", इस प्रकार की कुछ भी सूरत न थी। विशेष पैदल पुलीस के होने का तो मुझे कोई स्मरण नहीं है। साधारण प्रबन्ध में दो-चार सम्भवतः रहे होंगे। घुड़सवार लगभग चालीस के रहे होंगे। किन्तु उनकी ओर से तनिक भी यत्न किसीको कष्ट देनें का नहीं हुआ था। यह स्पष्ट जान पड़ता था कि उनकी सहानुभूति सरकारी आज्ञा का विरोध करनेवाले सत्याग्रहियों के साथ है।

सातवें दिन की बातें लिखते हुए पृष्ठ ५४ के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि "थोड़े दिनों बाद श्री सी० वाई० चिंतामणि नें प्रयाग से 'इंडियन पीपुल' नाम का पत्र निकाला उससें भी मालवीयजी ने सहायता की थी।" जहाँतक मुझको मालूम है 'इंडियन पीपुल' नाम का अंग्रेज़ी साप्ताहिक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ श्री सच्चिदानंदसिंह ने (जो अब बिहार में हैं) निकाला था और उन्होंने चिंतामणिजी को उस काम में सहायता करने के लिए बुलाया था। चिंतामणिजी का प्रयाग से नाता जुड़ने का यही पहला कारण था।

इसी सातवें दिन की बातों में 'अभ्युदय' शीर्षक के नीचे उसके प्रारम्भ का कुछ वर्णन है। पुस्तक के पृष्ठ ५६ पर लिखा है—"१९०७ में बसंत-पंचमी के दिन से 'अभ्युदय' साप्ताहिक रूप में प्रयाग से निकलने लगा। पहले दो वर्षों तक मालवीयजी ने स्वयं उसका सम्पादन किया।

जब वे प्रान्तीय कौंसिल के सदस्य हो गये, तब कुछ दिनों तक बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने उसका सम्पादन किया। फिर पण्डित सत्यानन्द जोशी सम्पादक रहे।" जहाँतक मुझे स्मरण है बसंत-पंचमी से 'अभ्युदय' निकालने का विचार अवश्य था किंतु उस तिथि को वह निकल नहीं पाया। उसके पहले अंक पर 'मंगलवार, माघ शुक्ल पूर्णिमा, संवत १९६३' तिथि दी हुई है। यह भी सही नहीं है कि पहले दो वर्षों तक मालवीयजी ने उसका सम्पादन किया और उसके बाद मैंने। मालवीयजी का वास्तविक सम्पादन तो प्रारम्भिक कुछ अंकों तक ही था। अप्रैल १९०७ में तो निश्चय ही मैं सम्पादन कर रहा था। मेरे मित्र स्वर्गीय पंडित सत्यानन्द जोशी उस समय भी सहायक सम्पादक थे। मेरे छोड़ने के बाद वह सम्पादक हुए।

सोलहवें दिन की बातें कहते हुए अदालतों में नागरी-प्रचार की आज्ञा-सम्बन्धी पूज्य मालवीयजी के यत्नों का उल्लेख है। पृष्ठ १३३ पर त्रिपाठीजी ने लिखा है। "सर एन्टोनी ने मालवीयजी की सब माँगें स्वीकार करलीं और अदालतों में उर्दू के साथ नागरी लिपि के भी चलन की आज्ञा जारी करदी।"

सर एण्टनी मैकडानल ने वास्तव में बहुत सीमित रूप में हिन्दी-सम्बन्धी प्रार्थना को स्वीकार किया था। न उन्होंने सब माँगें स्वीकार कीं और न हिन्दी को उर्दू के बराबर का स्थान अदालतों में दिया। उन्होंने यह सुविधा अवश्य की कि अदालतों में नागरी अक्षरों द्वारा भी नालिशें और प्रार्थनाएँ हो सकें तथा अदालतों की ओर से जारी किये गये 'समन' आदि नागरी अक्षर में भी रहें। यह सुविधा मूल्यवान है किन्तु इसने अदालतों के सम्बन्ध में हिन्दी की माँग पूरी नहीं की।

लगभग ४२ वर्ष के बाद इस समय भी सरकार की ओर संयुक्तप्रान्त की अदालतों और कचहरियों में उर्दू को जो सुविधाएँ हैं हिन्दी को नहीं हैं।

उपसंहार में पृष्ठ ३०५ पर त्रिपाठीजी का यह कथन है—"मालवीयजी ने हिन्दू-विश्वविद्यालय में एम० ए० तक हिन्दी की पढ़ाई का प्रबन्ध करके हिन्दी के मूल को दृढ़ कर दिया। यही नहीं प्रायः सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम भी उन्होंने हिन्दी ही को रक्खा।"

हिन्दू विश्वविद्यालय में सब विषयों के शिक्षा का माध्यम इस समय भी हिन्दी नहीं है। एम० ए० तक हिन्दी की पढ़ाई का प्रबन्ध अवश्य है किन्तु कई अन्य विश्वविद्यालयों में भी उस प्रकार का प्रबन्ध है।

ऊपर थोड़ी-सी वे बातें मैंने उदाहरणरूप से दी हैं जिनमें मुझे जाँच की कमी दिखाई पड़ी। मैं आशा करता हूँ कि दूसरे संस्करण निकलने से पहले विशेष जाँच-परताल के बाद जहाँ त्रुटि दिखाई पड़ेगी उसका संशोधन त्रिपाठीजी कर देंगे।

मैंने जान-बूझकर ऊपर के उदाहरण देते हुए भी उनके बारे में अपनी जो विशेष जानकारी थी उसका उल्लेख नहीं किया। उससे भूमिका लम्बी हो जाती।

मैंने स्वयं पूज्य मालवीयजी के समीप रहकर और उनका एक स्नेह-पात्र होकर बहुत अंश में अदृष्ट रूप से और कभी-कभी स्पष्ट शब्दों में शिक्षा पायी है। सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी पीढ़ी से पहले के जिन व्यक्तियों को पास से या दूर से जानने का मुझे सौभाग्य मिला उनमें से मालवीयजी पर अपनी छात्रावस्था के समय से ही मेरी विशेष श्रद्धा रही है। उनको बराबर पास से देखते रहने से उस श्रद्धा में कमी नहीं हुई।

उनके सब मतों को अथवा कार्यशैलियों को मेरी बुद्धि और भावना ने स्वीकार नहीं किया है। किन्तु कई विषयों में मतभेद होते हुए भी उनके व्यक्तित्व की मेरे हृदय पर गहरी छाप है और मेरे जीवन पर उनका गहरा प्रभाव है। उनकी ऊँची भावनाओं की स्मृति आज भी मेरी अमूल्य सम्पत्ति है।

प्रयाग, **पुरुषोत्तमदास टंडन**

मकर-अमावस्या, १९९८

प्रस्तावना

१० जुलाई, १९४० को मुझे काशी से श्री घनश्यामदास बिड़ला का यह तार मिला—

Please see me here tomorrow positively,

तार में शीघ्र काशी आकर मिलनें का समाचार था। बिड़ला-जी से मेरा परिचय गत दस-पन्द्रह वर्षों से है, पर तार देकर बुलाने का कभी कोई प्रसंग नहीं आया था, इससे तार पाकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ और मन में तरह-तरह की कल्पनाएँ उठनें और विलीन होने लगीं।

दूसरे दिन इलाहाबाद से सवेरे की गाड़ी से चलकर दोपहर होते-होते मैं बनारस, बिड़लाजी के मकान पर, जा पहुँचा।

बिड़लाजी ने अपनी यह इच्छा प्रकट की कि मैं पूज्य मालवीयजी महाराज के पास कुछ दिन ठहरकर उनके जीवन के कुछ संस्मरण, जो उनसे बातचीत करने में मिलें, लिख दूँ। उन्होंने यह भी चिंता प्रकट की कि महाराज का शरीर बहुत शिथिल हो रहा है और निर्बलता बढ़ती जा रही है, अतएव बहुत-सी बातें उनकी स्मृति से उतर भी जा सकती हैं; उनको शीघ्र लिखकर संग्रह कर लेना आवश्यक है।

बिड़लाजी का अंदाज़ था कि यह काम एक महीने में पूरा हो सकता है।

अब उत्तर का भार मुझपर था। बिड़लाजी मेरी वर्तमान परिस्थिति से अनभिज्ञ; उनको मालूम नहीं कि गत तीस वर्षों से लगातार बुद्धि-व्यय करते-करते मैं अब उससे ऐसा ऊब गया हूँ कि वर्षों से अपने 'हिन्दी-मन्दिर' के झंझटों से सदा के लिए

छुटकारा पाने की राह खोजने में लगा हूँ; और अब किसी भी बंधनवाले काम में फँसने की न मुझमें शक्ति शेष है, और न इच्छा ही है।

पर बिड़लाजी का प्रस्ताव सुनकर मेरे सामने दो नये आकर्षण उपस्थित हुए। एक भावुकता का, दूसरा पूज्य मालवीयजी महाराज जैसे सर्वमान्य हिन्दू-नेता की संगति में रहने का। रहना चाहे महीने ही भर क्यों न हो, उसका सुख समस्त जीवन में प्राप्त हुए सुखों से श्रेष्ठ और स्मरणीय ही होगा।

तुलयामि लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

भावुकता इस बात की थी कि बिड़लाजी की एक साधारण-सी इच्छा की अवहेलना साहित्य-क्षेत्र से चलते-चलाते अब क्यों करूँ? अतएव मैंने चुपचाप उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

उस समय यह तै पाया कि हम लोग साढ़े तीन बजे मालवीयजी महाराज से मिलेंगे।

तीन बजे मैं मालवीयजी महाराज के बँगले पर पहुँचा। ठीक उसी समय, घड़ी की सुई की तरह, घनश्यामदासजी भी आ गये। हम दोनों साथ ही मालवीयजी के समक्ष उपस्थित हुए।

मालवीयजी महाराज को मालूम था कि मुझे तार देकर बुलाया गया है। मुझे देखकर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की।

मैं उनके लिए नया नहीं था। बीस-इक्कीस वर्ष हुए, तबसे मैं उनके स्नेह का पात्र हूँ। मेरा 'पथिक' खंड-काव्य प्रकाशित हुआ, तब सबसे पहले मालवीयजी महाराज ही ने मुझे अपने घर पर, प्रयाग में, बुलवाकर आशीर्वाद दिया था और 'पथिक' की प्रशंसा की थी। उसके बाद जब मैंने ग्राम-गीतों का संकलन किया, तबसे मैं अपने ऊपर उनके विशेष स्नेह का सुख लगातार अनुभव करता रहा हूँ।

मेरे आने से महाराज को प्रसन्नता होगी, यह समझने में मुझे संदेह नहीं था। दस-पन्द्रह दिनों में 'हिन्दी-मन्दिर' का प्रबंध करके आने का वादा मैंने किया और महाराज से छुट्टी ली।

जुलाई का महीना हाथ में लिये हुए कामों को जल्दी-जल्दी निपटाने में बीत गया। ५ अगस्त तक कहीं मैं अपने को स्वतंत्र कर पाया और ६ अगस्त को सबेरे की गाड़ी से मैं काशी के लिए रवाना हो सका।

ट्रेन के साथ मन भी दौड़ने लगा। तरह-तरह की कल्पनाएँ उठने लगीं। मालवीयजी भारत के एक महान् नेता हैं, मुझपर स्नेह रखते हैं, इससे उनके प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा होनी स्वाभाविक थी। पर मालवीयजी के राजनीतिक कामों में मुझे सामयिकता ही अधिक दिखाई पड़ती थी, ठोसपन कम। इस तरह का विरोधी भाव लिये हुए मैं मालवीयजी महाराज की ओर प्रत्येक क्षण सरकता जा रहा था।

दस बजते-बजते मैं बनारस छावनी स्टेशन पर पहुँचा और वहाँसे ताँगे पर बैठकर मालवीयजी के बँगले पर।

ताँगे से उतरते ही मैं शीघ्र ही उनके पास पहुँचाया गया। उन्होंने देखते ही कुशल-मंगल पूछा—रास्ते में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? स्नान तो अभी नहीं किया होगा; जाकर स्नान कीजिए; भोजन करके कुछ विश्राम कर लीजिए, तब बात करेंगे। आत्मीयता से सजीव उनके ये शब्द मुझे बहुत मधुर लगे, और उनके आदेश के अनुसार मैं उन्हींके बँगले के एक कमरे में, जहाँ मेरा सामान रखवा दिया गया था, आकर ठहर गया।

उसी दिन से मैं मालवीयजी महाराज के निकट संपर्क में रहकर उनके संस्मरणों को लिपिबद्ध करने लगा।

मालवीयजी विश्वविद्यालय के जिस बँगले में निवास करते

हैं, उसमें टिका तो रहा पूरे दो मास तक, पर जिस दिन मैं उनसे बात नहीं कर सका हूँ, उस दिन को मैंने दिन नहीं गिना ।

इन तीस दिनों में मालवीयजी के दृष्टि-पथ में बैठकर मैंने जो कुछ देखा, जो कुछ सुना और अपनी अल्पमति से जो कुछ समझा, सबको मैंने संग्रह कर लिया है । कुछ बातें स्मृति से रह भी गयी होंगी, पर मुख्य-मुख्य बातें प्रायः नहीं छूटने पायी हैं ।

मैं कितना संग्रह करता ! वर्षों का काम एक मास में कैसे हो सकता था ! मालवीयजी का जीवन एक अथाह और अपार समुद्र के समान है; उसे पार करना मेरी शक्ति के सर्वथा बाहर की बात है ।

मालवीयजी का जीवन एक आदर्श हिन्दू-जीवन है । पर खेद है कि उनके कार्यों से जितना हम परिचित हो पाये हैं, उतना उनके व्यक्तिगत जीवन से नहीं । मालवीयजी के कार्यों को तो हम अधिक जानते हैं, मालवीयजी को बहुत कम । मालवीयजी ख़ुद तो श्लोकों के साँचे में ढलते रहे और सर्वसाधारण को इसका कुछ पता ही न था ।

व्याख्यानों-द्वारा बाहर की जनता में जो मालवीयजी व्यक्त हो रहे हैं वे और ये मालवीयजी, जिनके निकट मैं बैठा हूँ, दोनों सचमुच दो हैं । सार्वजनिक मालवीयजी से अपने घर के अंदर अवस्थित मालवीयजी कहीं अधिक मनोहर, मधुर और महान् हैं ।

मालवीयजी के साथ रहनेवालों से मालूम हुआ कि वे जो काम करते हैं, उसे आदि से अंत तक स्वयं करते हैं । उनका अपने ही पर अधिक विश्वास है । किसी अन्य पर उनका मन जमता ही नहीं । नतीजा यह होता है कि कुल-का-कुल परिश्रम उनको अकेले ही करना पड़ता है । और वे सदा आगे ही बढ़ने में लगे रहते हैं, सृजन और निर्माण करने ही में तत्पर रहते हैं; इससे

निर्माण हो चुके पदार्थों की सँभाल में समय कम दे सकते हैं। उन्होंनें अपने कार्यों और समय की कोई डायरी भी नहीं रक्खी। बड़े लाटों, छोटे लाटों, राजा-महाराजाओं और साथी नेताओं के पत्रों की कोई सुव्यवस्थित फ़ाइल भी उनके आफ़िस में नहीं मिलेगी।

जो व्यक्ति लगातार साठ वर्षों तक, एक क्षण के लिए भी अन्यमनस्क हुए बिना, अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने विस्तृत देश और विशाल जाति का हृदय बनकर उनकी धमनियों में बल की अजस्र धारा फेंकता रहा है; जो राह में पड़े हुए अनाथ भिक्षुक से लेकर राजा-महाराजाओं, संतों-महंतों और वाइसरायों और बादशाह तक, अनेक रंग के फूलों की माला में एक डोरे की तरह, निरन्तर प्रवेश करता रहा है; जिसने अपनी मधुर वाणी से लाखों क्या करोड़ों मनुष्यों के मर्मस्थल को स्पर्श किया है और जिसने यश की ओर एक क्षण के लिए भी गर्दन नहीं घुमायी है, उसके जीवन के संस्मरण क्या एक महीने में लिखे जाकर ओरा सकते हैं? असंभव है। ऐसे व्यापक पुरुष का जीवन-चरित काग़ज़ पर लिखा भी तो नहीं जा सकता। आगे किसी दिन सुख-समृद्धि-सम्पन्न हिंदू जाति और स्वतंत्र भारत ही उसका जीवन-चरित होगा।

फिर भी, कोई वृद्ध पुरुष यदि अपनें एक लंबे जीवन के अनंत अनुभवों की रत्न-राशि बटोरे हुए महाप्रस्थान के पथ पर चला जा रहा हो, और कोई माँगे तो वह उसे कुल-का-कुल सौंपने को भी तैयार हो, तो क्या उन लोगों को उसकी रत्न-राशि माँग नहीं लेनी चाहिए, जिन्हें अपने जीवन का लंबा रास्ता अभी तै करना है? और जिन्हें अपनें अंधकारमय जीवन-पथ में उसके अनुभव-रत्नों के प्रकाश की आवश्यकता पद-पद पर पड़ेगी?

घनश्यामदासजी की प्रेरणा से मैंने इस काम के लिए एक मास का समय दिया तो सही, पर इस छोटे से समय में भी

जितना लाभ मुझे उठाना चाहिए था, उतना मैं नहीं उठा सका।

पहली बाधा तो यह थी कि मालवीयजी अपने जीवन-चरित के लिए अधिक समय नहीं दे सके। मुझे ऐसा एक भी दिन स्मरण नहीं आता, जिस दिन उनसे मिलनेवालों का ताँता, सबेरे से लेकर रात्रि के भोजन के समय तक, और कभी-कभी उसके बाद तक भी, टूटा हो। प्रत्येक दिन उनके पास देश और धर्म की चर्चा करने और सुननेवालों की भीड़ तो लगी ही रहती थी, भिन्न-भिन्न प्रांतों के बहुत-से तीर्थ-यात्री भी, जो काशी-विश्वनाथ का दर्शन करने आते थे, विद्या के इस तीर्थ का भी दर्शन करने को पहुँच जाते थे।

मालवीयजी के खुले दरबार में किसी के लिए कभी रोक तो रहती ही नहीं; वे सुनभर लें कि कोई मिलना चाहता है, यदि वह उनके निकट तक नहीं पहुँच सकता तो स्वयं उसके पास पहुँच जाते हैं। ऐसी दशा में मुझे समय मिलता ही कैसे ?

दूसरी बाधा मालवीयजी के स्वभाव की थी। उन्होंने जीवनभर काम ही काम किया है। वे स्वभाव ही से निरभिमान, विनम्र और विनयी हैं। और इस समय तक बहुत-सी बातें वे भूल भी गये हैं; और जो याद भी हैं, उन्हें वे जहाँ अपनी व्यक्तिगत प्रशंसा पाते हैं, बताते वक्त छोड़ भी देते हैं। उन्हें अपनी व्यक्तिगत प्रशंसा से सदा अरुचि रही है। अपनी विशेषताओं और सफलताओं की बातें खुलकर बताने में उन्होंने सदा संकोच किया है। मैं या अन्य कोई पार्श्ववर्त्ती जब उनके कार्यों की प्रशंसा करता, तब वे ऊपर की ओर संकेत करके कहते—"सब उसीकी कृपा का फल है। मैं तो एक निमित्त मात्र हूँ।" ऐसे निष्कामकर्मी व्यक्ति के सामने तर्क और कल्पनाएँ रखकर मैं जो कुछ निकाल पाया हूँ, इतने थोड़े समय में मैं उसे ही बहुत समझता हूँ।

मैंने कहीं-कहीं मालवीयजी महाराज के लिए केवल महाराज शब्द का प्रयोग किया है; क्योंकि मैं स्वयं उनको इसी नाम से संबोधित करता हूँ। और मैं ही नहीं, उनसे मिलनेवाले छोटे-बड़े प्रायः सभी उनके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं।

मुझे मालवीयजी के नाम के साथ 'महामना' शब्द अजीब-सा मालूम देता है। पता नहीं, किसने और कब मालवीयजी को 'महामना' की उपाधि दे डाली है। महात्मा तो गांधीजी और मालवीयजी दोनों ही हैं। दोनों हिन्दू-गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। कौन छोटा है, कौन बड़ा, यह प्रश्न उठाना एक नैतिक अपराध है। दोनों को अच्छे विशेषणों से स्मरण करना हमारी श्रद्धा का द्योतक है। पर हमारी परम्परागत धारणा के अनुसार 'महात्मा' शब्द में जो भाव व्यक्त होता है, वह 'महामना' में नहीं।

गांधीजी की सबसे सुन्दर उपाधि तो 'ग़रीब' की थी, क्योंकि उन्होंने अपनी ही आत्म-प्रेरणा से ग़रीबी का बाना धारण किया है और ग़रीब उनको प्रिय भी हैं। और अनुप्रास भी ठीक मिलता; पर किसी की हिम्मत उनको यह उपाधि देनें की नहीं हुई। यद्यपि गांधीजी को छूकर 'गरीब' शब्द आज हीरों के मोल का हो गया होता।

जान पड़ता है कि गांधीजी के नाम के साथ महात्मा की उपाधि लगी हुई देखकर लोगों को यह कमी प्रतीत होने लगी कि मालवीयजी के नाम के साथ भी कोई वैसी ही उपाधि क्यों न हो; और यह उचित ही था। आत्मा को गांधीजी अपना चुके थे, मन शेष था, और अनुप्रास भी मिलता था, इससे उसके साथ एक और 'महा' शब्द जोड़कर अनुप्रास-रसिक लोगों ने 'महामना' की उपाधि से मालवीयजी को मंडित कर दिया।

पर मालवीयजी की सबसे सार्थक उपाधि तो 'भारत-भूषण' की

है, जो महात्मा गांधी की दी हुई है। ता० २ अक्तूबर, १९४० को श्रीयुत महादेव देसाई (गांधीजी के प्राइवेट सेक्रेटरी) ने मुझे एक पत्र भेजा। उसके लिफ़ाफ़े पर अपना पता c/o भारत-भूषण पंडित मालवीयजी पाकर मैंने देखा कि गांधीजी को दी हुई उक्त उपाधि का सम्मान उनके सहवासी भी करते हैं।

अन्त में मैं ठाकुर शिवधनीसिंह का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ; क्योंकि पुस्तकों, रिपोर्टों और पैम्फलेटों की उपलब्धि उन्हींकी कृपा से हुई है और उन्होंने बहुत-सी घटनाएँ भी बतायीं जो शायद महाराज के सिवा अन्य कोई न बता सकता। मेरी हस्त-लिखित पुस्तक की प्रतिलिपि भी उन्हींने की है। ठा० शिवधनीसिंह महाराज के साथ तेरह-चौदह वर्षों से रह रहे हैं और महाराज में अनन्य श्रद्धा रखते हैं। मैं उन्हें महाराज का 'गृह-सचिव' समझता हूँ।

घनश्यामदासजी ने स्वच्छन्दतापूर्वक, मित्र-भाव से, बुलाकर मुझे यह काम सौंपा, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मुझसे जैसा बन पड़ा, वैसा मैंने कर दिया। जैसा वे चाहते थे, यदि यह वैसा ही हुआ है तो जानकर मुझे हर्ष होगा। पर इसका कुछ एहसान मैं उनके ऊपर नही रक्खूँगा, क्योंकि जितना मैं उनको दे रहा हूँ, उससे कहीं अधिक आनंद मैं मालवीयजी महाराज की संगति में रहकर ले चुका हूँ।

अन्त में ईश्वर से प्रार्थना है कि वह मालवीयजी महाराज को दीर्घायु करे और वे अपनें जीवन-काल ही में भारत को स्वराज का सुख भोगता हुआ देखें, जिसके लिए उन्होंने अपना समस्त जीवन लगा दिया है और जो उनकी दैनिक प्रार्थना का एक मुख्य विषय भी है।

काशी, **रामनरेश त्रिपाठी**

२५-१०-४०



[मालवीयजी : १९४० की वर्षगाँठ के अवसर पर लिया गया चित्र]

तीस दिन

मालवीयजी के साथ

पहला दिन

६ अगस्त

स्नान, भोजन और विश्राम करके तीन बजे के लगभग मैंने चाहा कि महाराज से मिलूँ और जिस अभिप्राय को लेकर आया हूँ, उसकी चर्चा छेड़ूँ।

कपड़े पहनकर मैं दफ्तर में, जो मेरे कमरे की बग़ल ही में है, गया तो महाराज के निकटस्थ विश्वास-पात्र कर्मचारी ठाकुर शिवधनीसिंह को दस-बारह आगंतुकों के बीच में बैठे पाया।

आगंतुकों की वेष-भूषा भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की थी। कुछ तो सूटेड-बूटेड थे, कुछ पंडिताऊ पोशाक में थे, और कुछ सम्प्रदाय-विशेष के थे, उनके माथे पर उनके सम्प्रदाय के तिलक थे। कुछ यूनिवर्सिटी के छात्र थे और कुछ केवल दर्शनार्थी, जो दूर के किसी ज़िले से आये हुए किसान-श्रेणी के मालूम पड़ते थे।

ठाकुर शिवधनीसिंह से मालूम हुआ कि अभी कुछ लोग महाराज से मिल रहे हैं। इससे मैं सबके मिल चुकने की प्रतीक्षा में अलग एक कुरसी खींचकर बैठ गया।

बैठे-बैठे शाम हो गयी। मिलनेवालों का ताँता टूटता ही न था। सुहावना समय था। बादल घिरे हुए थे। ठंडी हवा चल रही थी। धुले हुए पेड़-पौधे बहुत सुन्दर लग रहे थे। मैंने सोचा कि तबतक विश्व-विद्यालय की सैर ही कर आऊँ।

तत्काल ही मैं बँगले से बाहर आकर विश्व-विद्यालय की चौड़ी सड़क पर एक तरफ़ को चल निकला।

विश्व-विद्यालय की आलीशान इमारतें देखकर जी खुश हो गया। मन में सोचता जाता था कि एक पुरुषार्थी व्यक्ति ने अपना जीवन लगाकर कैसी विराट् रचना रच दी है! इस जीवन को धन्य है!

थोड़ी ही दूर घूम-घामकर मैं लौट आया। तबतक मिलनेवाले चुक चुके थे। मैं महाराज के पास पहुँचा। वे थके-से जान पड़ते थे। पलँग पर लेटे थे। देखते ही उन्होंने कुरसी पर बैठने का इशारा किया। मैं बैठ गया।

मैं जान चुका था कि मिलनेवाले जो आते हैं, वे या तो कुछ पूछने, या दर्शन के लिए, या किसी प्रकार की सहायता प्राप्त करने के लिए ही आते हैं। वे पूछते थोड़ा हैं और उत्तर अधिक चाहते हैं। महाराज को बोलना अधिक पड़ता है। अधिक बोलने का उनको अभ्यास भी है। अस्सी वर्ष की अवस्था में, दिनभर बीसों आदमियों के साथ, और पचासों विषयों पर बोलना क्या कम परिश्रम का काम है? नौजवान भी थक सकता है।

महाराज को कुछ झपकी आने लगी। मैं धीरे से उठकर अपने कमरे में आ गया। उस दिन फिर नहीं मिला।

कमरे में आकर मैं सोचने लगा—

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः।

दूसरा दिन

७ अगस्त

आज भी सबेरे ८ बजे के पहले ही से मिलनेवाले जमा होने और ८ बजते-बजते महाराज के कमरे में पहुँचने भी लगे।

महाराज से कोई मिलने आये और वह मिलने न पाये और महाराज को मालूम हो जाय तो उनको कष्ट होता है। महाराज के द्वितीय पुत्र पंडित राधाकांतजी जब साथ होते हैं, तब मिलने-वालों को वे अक्सर रोक देते हैं। और उनकी उपस्थिति में मिलनेवाले आते भी कम हैं; ऐसा मैंने दफ्तर में सदा के बैठने-वालों से सुना।

इस सम्बन्ध में एक बड़ी मज़ेदार घटना सुनने को मिली। विश्व-विद्यालय के पास ही बाबू शिवप्रसादजी गुप्त की कोठी है। गुप्तजी महाराज पर बड़ी श्रद्धा और बड़ा प्रेम रखते हैं। बहुत-सी बातों में मौलिक मत-भेद होने पर भी गुप्तजी की श्रद्धा में अंतर नहीं पड़ता, यह गुप्तजी के विशाल हृदय की एक ख़ास विशेषता है।

पहले महाराज गुप्तजी के यहाँ प्राय: अधिक ठहरा करते थे। एक बार जब वे उनके यहाँ ठहरे थे, मिलनेवालों से महाराज को तंग न होने देने के लिए गुप्तजी ने पहरा बैठा दिया। किसी का बहुत ज़रूरी काम होता तो वह पहले गुप्तजी की आज्ञा प्राप्त कर लेता, तब महाराज के सामने जाने पाता।

महाराज को जब मालूम हुआ कि बहुत से मिलनेवाले रोक दिये जाते हैं और देर तक बाहर बैठे रहकर वे वापस चले जाते हैं, तब उन्होंने दूसरी राह से, जिधर पहरा नहीं था, मिलनेवालों को बुलाना शुरू किया। गुप्तजी को पता चला तो उन्होंने उधर भी पहरे का कड़ा प्रबंध कर दिया।

महाराज को जब इसका पता भी चल गया, तब वे कोठी से निकलकर, कुछ दूरी पर, एक पीपल के पेड़ के नीचे, चबूतरे पर जाकर बैठने लगे। वहाँ तक भीड़ को पहुँचने में कोई रुकावट नहीं थी। गुप्तजी को पता चला; मन-ही-मन उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली होगी।

अबतक दोनों ओर पेंच और उसकी काट चुपचाप चलती थी। जब गुप्तजी ने मन के मुताबिक भीड़ का नियंत्रण नहीं होते देखा, तब एक दिन उन्होंने महाराज को कहा—मैं तो परास्त हो गया।

महाराज ने बड़े प्रेम के स्वर में कहा—भाई ! न जाने कौन कितनी दूर से क्या दुःख लेकर आया है, उसे सुने बिना कैसे वापस कर दूँ ? और यह तो मेरी हमेशा की आदत है, अब नहीं छूट सकती। एक बार गाँधीजी ने कहा था—'पंडितजी की दया अब उनका दुश्मन बन गयी है।'

गुप्तजी के पास इसका उत्तर ही क्या हो सकता था ?

शाम को मैं महाराज के साथ टहलने निकला। विश्व-विद्यालय की सीमा के बाहर वे घूमने नहीं जाते। घूम-फिरकर लौटे तो सीधे विश्राम-गृह में जाकर वे बिछौने पर लेट गये।

मैं पास बैठकर कुछ देर तक सामयिक बातें करता रहा; फिर मैंने महाराज के लड़कपन का कुछ हाल जानने की इच्छा प्रकट की। महाराज अपने बचपन की मधुर स्मृति का कुछ आनंद अनुभव करते हुए कहने लगे—

"मेरा जन्म पौष कृष्ण ८, बुधवार, संवत् १९१८; ता० २५ दिसम्बर, १८६१ को हुआ।

मैं लड़कपन में बड़ा प्रसन्न और चैतन्य रहता था। मेरे मुहल्ले में एक घुरहू साहु रहते थे, वे मुझे 'मस्ता' कहा करते थे।

जब मैं ५ वर्ष का हुआ, तब मेरा विद्यारंभ कराया गया।

उस समय प्रयाग में, अहियापुर मुहल्ले में कोई पाठशाला नहीं थी। लाला मनोहरदास रईस की कोठी के चबूतरे पर, जो तीन-सवा तीन फुट चौड़ा और १०-१५ फुट लम्बा था, उसीपर टाट बिछाकर एक गुरुजी लड़कों को महाजनी पढ़ाया करते थे।

गुरुजी कहीं पश्चिम के रहनेवाले थे। वे पहाड़ा पढ़ाते थे। मैंने पहले-पहल पढ़ना वहीं से प्रारंभ किया।

वहाँ से हरदेवजी की पाठशाला में चला गया। उसका नाम था—धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला।

पंडित हरदेवजी मथुरा की तरफ के थे। भागवत के अच्छे विद्वान् और योग-साधक थे।

वे गौ पालते थे और विद्यार्थियों को दूध भी पिलाया करते थे।

धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला सबेरे ६ बजे से शुरू होती थी। ९॥ बजे घंटा बजता, तब सब लड़के सभा-भवन में आ जाते थे।

जब सब जमा हो जाते, तब कोई एक विद्वान् या ऊपर की श्रेणी का कोई विद्यार्थी पंडितजी के आदेश के अनुसार कोई एक श्लोक पढ़ता था। उसके एक-एक टुकड़े को सब विद्यार्थी दुहराते जाते थे। इस प्रकार सब विद्यार्थियों को मनुस्मृति, गीता और नीति के कितने ही श्लोक कंठ हो गये थे। मुझे कुछ श्लोक और स्तोत्र पिताजी ने याद करा दिये थे और कुछ गुरु हरदेवजी की पाठशाला में याद हो गये थे। आज तक मेरे मूलधन की पूँजी वही है।

पंडित हरदेवजी संगीत के भी प्रेमी थे। पहले उन्होंने एक अक्षर-पाठशाला भी खोली थी। उनका अभिप्राय था कि कोई बालक निरक्षर न रहे। उसी पाठशाला का नाम पंडितजी ने पीछे धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला रक्खा। धार्मिक शिक्षा की तरफ़ गुरुजी का ज्यादा ध्यान था। साथ ही साथ शारीरिक बल बढ़ाने की शिक्षा भी वे देते थे। पाठशाला में वे कुश्ती भी लड़वाते थे।

हरदेवजी की पाठशाला में मैं संस्कृत, लघु कौमुदी आदि पढ़ता था। यह पाठशाला अब मेरे मकान के पास दक्षिण की तरफ़ है और 'हरदेवजी की पाठशाला' के नाम से प्रसिद्ध है।

यह पाठशाला अब तक कायम है और इसमें संस्कृत कालेज की आचार्य परीक्षा के लिये विद्यार्थी तैयार किये जाते हैं। प्रान्तीय संस्कृत पाठशालाओं में इसका स्थान ऊँचा है।

आठ वर्ष की अवस्था में मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिताजी ही ने गायत्री-मंत्र की दीक्षा दी थी।

शायद सन् १८६८ में गवर्नमेंट हाई स्कूल खुला। मेरी

इच्छा अंग्रेजी पढ़ने की हुई। माताजी से आज्ञा लेकर मैं स्कूल में भरती हो गया। उस समय फीस बहुत कम लगती थी। मेरे भाई को तीन आने देने पड़ते थे और मुझे डेढ़ आने।

घंटा-घर के पास जिस मकान में आजकल चुंगी-घर है, उसी में हाई स्कूल था। उसमें ग्यारह क्लास थे। दो-दो सेक्शन थे। ग्यारहवें क्लास के दूसरे सेक्शन में मैं भरती हुआ था। बड़े भाई पंडित जयकृष्ण (पं० कृष्णकान्त मालवीय के पिता) को हेड-मास्टर साहब बकते थे कि इतने छोटे बच्चे को स्कूल क्यों लाते हो ? पंडित जयकृष्ण मुझसे ६ वर्ष बड़े थे। मैं उन्हींके साथ स्कूल जाया करता था।

अंग्रेजी शुरू करने के बाद संस्कृत में मैं कम ध्यान देने लगा, तब मेरे चाचा ने मेरी माँ को कहा——इसको अंग्रेजी पढ़ने में क्यों लगा दिया ? संस्कृत पढ़ता तो बड़ा पंडित होता। मुझ पर इसका प्रभाव पड़ा और मैं स्कूल और कालेज तक संस्कृत पढ़ता चला गया।

स्कूल में मैं पानी नहीं पीता था। प्यास लगती तो घर जाकर पी आता था। एक दिन मौलवी साहब ने छुट्टी देर से दी। प्यास बहुत लगी थी। घर गया तो रोता हुआ गया। माँ से शिकायत की कि मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी और प्यास के मारे मुझे बड़ी तकलीफ हुई, मैं अब स्कूल नहीं जाऊँगा। उसी वक्त मेरे ताऊ पंडित लीलाधर, जो मेरी बातें सुन रहे थे, वहाँ आ गये। उन्होंने मेरी पीठ पर एक थप्पड़ दिया और घुड़ककर कहा—जाओ स्कूल। नहीं जायँगे ! क्यों नहीं जाओगे ?

मैं बिना पानी पिये ही, रोता हुआ, उलटे पाँव लौट गया। तबसे पानी की व्यवस्था स्कूल ही में की गयी। एक लोटा रक्खा गया। नन्हकू कहार लोटे को माँजकर अलग रखता था। मुझे प्यास लगती तो उसीसे पानी पिया करता था।

जब मेरी अवस्था १५ वर्ष की हुई, तबसे मैं घर में रखी हुई पोथियों के बेठन खोलने और बाँधने लगा। बीच-बीच में पोथियाँ पढ़ता भी रहता था। कुछ पोथियाँ ख़राब भी हुई होंगी, पर उनमें से मैंने बहुत से श्लोक कंठ कर लिये थे। इन पोथियों में 'इतिहास-समुच्चय' नाम की एक पोथी थी, जिसमें महाभारत के चुने हुये ३२ इतिहास हैं। मेरे धर्म-सम्बन्धी विचारों और ज्ञान के बढ़ाने में यह पुस्तक बड़ी सहायक हुई।

स्कूल में भरती होने के बाद भी पाठशाला में जाना नहीं छूटा था। पाठशाला में एक पंडित ठाकुरप्रसाद दुबे थे। वे भागवत के बड़े विद्वान् थे। वे विद्यार्थियों को संस्कृत का श्लोक सिखाया करते थे। वे ऐसा शुद्ध उच्चारण करते थे कि उनके उच्चारण को सुनकर हम लोग शायद ही कभी अशुद्ध लिखते हों।

१६ वर्ष की अवस्था में मैंने एंट्रेंस पास किया।

मेरे चाचा पंडित गदाधर मालवीय का ५२ वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। वे संस्कृत बड़े भारी विद्वान् थे। उनके शोक में मैंने एक 'निर्वाणाञ्जलि' लिखी थी। उसका एक दोहा याद है:—

हाय गदाधर तत्त्वधर, मालवीय-कुल-केतु।
इतने थोडे समय में, प्रान तज्यो केहि हेतु॥

संस्कृत की जो शिक्षा मुझे प्राप्त हुई है, वह मेरे चचेरे भाई

पंडित जयगोविंद के अनुग्रह से हुई है। एंट्रैंस पास कर लेने पर मैंने उनसे सम्पूर्ण काशिका पढ़ी। किन्तु फिर उसे दोहराया नहीं। अपने चाचा श्री पंडित गदाधरजी से मैंने भागवत पढ़ी या नाटक, ठीक याद नहीं। पंडित गदाधरजी संस्कृत के भारी षट्-शास्त्री विद्वान् थे। उन्होंने पहले-पहल 'वेणी-संहार' का भाषा में अनुवाद किया था। बाद में प्रबोध-चन्द्रोदय, शुक्र-नीति, मृच्छकटिक और प्रचंड कौशिक का भी अनुवाद उन्होंने किया। वे बहुत अच्छी हिन्दी लिखते थे।

मेरा विवाह मिर्ज़ापुर के पंडित नंदरामजी की कन्या से १६ की अवस्था में हुआ था। मेरे चाचा पंडित गदाधरप्रसादजी मिर्ज़ापुर के गवर्नमेंट हाई स्कूल में हेड पंडित थे। मैं प्रायः छुट्टियों में उनके पास जाया करता था। एंट्रैंस पास होने के बाद एक बार मैं मिर्ज़ापुर गया था। गया तो था पत्नी के मोह से, पर एक धर्म-सभा का अधिवेशन हो रहा था, उसमें चला गया। एक महंत सभापति थे। कई वक्ताओं के बोल चुकने के बाद गदाधर चाचा से पूछकर मैंने भी धर्म-विषय पर भाषण किया। उसकी बड़ी प्रशंसा हुयी। लोग पीठ ठोंकने लगे। तबसे मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया।"

आज बहुत देरी हो गयी। महाराज यद्यपि अपनी बाल-काल की मधुर-स्मृति का सुख अनुभव करते हुए उत्साह-युक्त थे; पर मैंने उन्हें थका हुआ समझा और प्रणाम करके विदा ले ली।

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च धीरत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्॥

तीसरा दिन

८ अगस्त

आज का सबेरा बड़ा सुन्दर था। रात में जोर की वर्षा हो गयी थी, इससे ज़मीन गीली थी और पेड़-पौधे धुल उठे थे। किन्तु आकाश अत्यन्त निर्मल था। नीले नभ में उदयोन्मुख सूर्य की किरणें बड़ी ही मनोहर लगती थीं।

महाराज के बँगले के सामने एक छोटी-सी गोल घेरेवाली फुलवाड़ी है। उसके बीच में एक चबूतरा है। चबूतरे के किनारों पर कई जात के करोटन के गमले सजाकर रक्खे गये हैं और चबूतरे के नीचे अलग-अलग क्यारियों में गुलाब के पौधे लगाये गये हैं। सबमें फूल आ गये हैं।

फुलवाड़ी के चारोंओर पक्की सड़क है। सामने फाटक है। फाटक के पायों पर बेगुन-बेलिया जवानी के उन्माद में सिर उठाये खड़ी है। उसकी हरी-हरी पत्तियों में लाल रंग की पत्तियाँ ऐसी खिलती हैं, मानों धानी रंग की साड़ी पर बेल-बूटे काढ़े गये हैं। उसके पास ही हुस्ने-हिना की झाड़ी है, जो रात भर सुगन्ध का वितरण कर अब विश्राम लेने की तैयारी में थी।

विश्व-विद्यालय तो एक तपोवन-सा लगता है। चारोंओर हरे-भरे वृक्षों, सुन्दर लताओं, आनन्दमय फूलों और दूब के गलीचों से वह सँवारा और सजाया गया है। पक्षियों के लिए तो वह नन्दन-वन हो रहा है। घंटा रात रहे ही से उनकी

चहचहाहट शुरू हो जाती है।

पास के एक रसाल वृक्ष से कोयल की सुरीली कूक सुनाई पड़ रही थी; कहीं से पपीहे के 'पी-पी हो' की आवाज़ भी आ रही थी।

मैं चबूतरे पर चढ़कर कुछ देर तक तो करोटनों की सुन्दर-सुन्दर पत्तियाँ देखता रहा। फिर नीचे उतरकर गुलाब के एक पौधे के पास आया, जिसमें बहुत-से फूल खिले हुए थे। कई फूल तो आज ही की रात के खिले हुए थे। कुछ फूल दो एक दिन के थे; और एक फूल तो अपनी आयु के अन्तिम छोर पर पहुँचा हुआ जान पड़ता था। उसकी पंखड़ियाँ मुरझाकर काली पड़ने लगी थीं। संसार को देखने की लालसा से उसने पहले-पहल जब आँखें खोली होंगी, तब उसमें कितनी अभिलाषायें भरी रही होंगी! कितने अरमान छिपे होंगे! पर संसार में उसने क्या देखा? केवल जीवन और मृत्यु का संग्राम और अन्त में मृत्यु की विजय। फूल निराश होकर, सौरभ का निःश्वास छोड़कर, मुरझा गया। इसी तरह मनुष्य को भी संसार की क्षण-भंगुरता का सामना करना पड़ता है। पर—

शरीरस्य गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः॥

यकायक महाराज का स्मरण हो आया। महाराज को इतने निकट से मैंने उनके जीवन के अन्तिम प्रहर में देखा। उनसे और उनकी ख्याति से मेरा साधारण परिचय बहुत पहले से था, पर अब उनके निकट आकर उनको जैसा देखा, उसकी कभी

मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

काश्मीरी ब्राह्मणों जैसे उनके गौर वर्ण पर अब किसी उपवन में संध्या के आगमन की तरह वृद्धावस्था की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी है। सुन्दर मुखाकृति पर कुम्हलाये हुए फूल की-सी उदासी झलकने लगी है।

उनकी वह आवाज़, जो दस-दस, बीस-बीस हज़ार की भीड़ के अन्तिम छोर तक तीर की तरह पहुँचती थी, अब सिकुड़कर पाँच ही सात फुट लम्बी रह गयी है।

उनकी वह कमर, जो चार-चार, पाँच-पाँच घंटे उनके शरीर को खड़ा रखकर उनसे सुमधुर और प्राण सींचनेवाली वाणी से पीड़ितों को आश्वासन दिलाती और अन्यायियों और अत्याचारियों के हृदयों में आतङ्क उत्पन्न कराती थी, अब १०० अंश के कोण तक पहुँच गयी है।

उनके वे पैर, जो स्वदेश की सेवा का भारी भार उठाये हुए सारे देश में निरन्तर दौड़ते रहकर भी नहीं थकते थे, अब एक फर्लांग तक चलने में भी असमर्थ हो गये हैं।

उनके हाथ काँपने लगे हैं। मानो सहायता के इच्छुकों को इशारे से कहते हैं, 'अब वह बल नहीं है।'

उनकी बाहर की आँखें अब पृथ्वी को देखती चलती हैं और भीतर की आँखें भगवान् के चरणों से हरवक्त टँगी ही रहने लगी होंगी।

और महाराज के मुख में अब दाँत भी नहीं रहे।

किन्तु मन ? मन की गति अवर्णनीय है। वह इसी शरीर

से सब अरमानों को पूरा कर लेने के लिए उत्तरोत्तर व्याकुल-सा लगता है। "विश्व-विद्यालय में १० हज़ार छात्रों के लिए शिक्षा का प्रबंध हो जाय, तब अहक बुताय; म्यूज़िक कालेज के लिए तीन लाख रुपया चाहिए, एक लाख से भी कार्य प्रारंभ हो सकता है। लड़ाई में अगर अंग्रेज़ हार गये तो ? तो हिन्दुस्तान में गृह-कलह उत्पन्न होगा; हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ेंगे; कोई तीसरी ही शक्ति देश पर शासन करने के लिए आ पहुँचेगी। गाँव-गाँव में हिन्दुओं का संगठन होना चाहिए; घर-घर में सनातन- धर्म का प्रचार होना चाहिए; शिवाजी, राणा प्रताप और गुरु गोविंदसिंह फिर पैदा होने चाहिएं; हिन्दुओं में सामूहिक एकता होनी चाहिए; युवकों में देश के लिए बलिदान हो जाने की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। डाक्टर साहब ! मुझे जल्द अच्छा कीजिए; मैं एक बार फिर अपने प्यारे देश में घूमना चाहता हूँ।" महाराज का मन इन्हीं तरंगों में डूबता-उतराता रहता है।

महाराज रेडियो से जर्मनी और इंग्लैंड से आई हुई खबरें सुनते हैं और फिर कहते हैं :—दोनों अपनी-अपनी कहते हैं। सत्य क्या है, पता नहीं चलता। अंग्रेज़ अपने वादे के सच्चे नहीं हैं। वे हमको बातों में फँसा रखना चाहते हैं। वे हमको स्वराज्य नहीं देंगे; और अब तो वे 'डोमिनियन स्टेटस' की भी बात नहीं करते।

यह उनकी नित्य की चिन्ता है। न उन्हें घर की कोई चिन्ता है, न बाल-बच्चों की। न उन्होंने अपने लिए एक कौड़ी जमा की है और न अपने किसी वारिस को वे एक कौड़ी दे जायँगे।

महाराज की वृद्धावस्था का स्मरण करके मन सिहर उठा। मैंने इस विचार-धारा को यहीं रोक दिया।

कई महीने हुए महाराज ने संसार की शान्ति और हिन्दू-जाति तथा भारत के कल्याण और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए काशी में यज्ञ का अनुष्ठान किया था। आज यज्ञारंभ का दिन था। वे सवेरे नौ बजे के बाद यज्ञ-मंडप में, जो शहर के एक मन्दिर में बनाया गया था, गये और ग्यारह बजे के बाद लौटे।

आज दिन में मिलने का समय दोहपर के बाद दो बजे के लगभग मिला। महाराज भोजनोपरांत विश्राम लेकर उठ बैठे थे, तब मैं उनके पास जा बैठा।

उन्होंने पूछा—'वैष्णव जन' वाला पद याद है?

मैंने कहा—हाँ।

मैंने महाराज को नरसी मेहता का सुप्रसिद्ध पद, जो महात्मा गाँधी को बहुत ही प्रिय है, सुनाया:—

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड पराई जाणे रे।
पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे॥
सकळ लोक माँ सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टी ने तृष्णा - त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झाले हाथ रे॥
मोह माया व्यापे नहि जेनें, दृढ़ वैराग्य जेना मनमाँ रे।
राम नाम शुं ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमाँ रे॥
वण लोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे 'नरसैंयो' तेनुं दरसन करताँ कुळ एकोतेर तार्या रे॥

नरसी मेहता का पद समाप्त होने पर महाराज स्वयं तुलसीदास का एक पद सुनाने लगे—

ऐसे राम दीन-हितकारी ।
अति कोमल करुनानिधान बिन कारन पर उपकारी ।

उनको इतना ही याद था, और इतना ही उनके जीवन में भी था ।

इसके बाद मैंने तुलसीदासजी का यह पद सुनाया:—

अब लौं नसानी अब न नसैहों ।
रामकृपा भव-निसा सिरानी जागे फिरि न डसैहौं ॥
पायों नाम चारु चिन्तामनि उर कर ते न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि कसैहौं ॥
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुकर पन करि तुलसी रघुपति पदकमल बसैहौं ॥

महाराज को कल युक्तप्रांत के गवर्नर से प्रयाग में मिलना है । आज शाम की ट्रेन से वे प्रयाग चले जायँगे, इससे मैं अधिक समय न ले सका ।

आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः ।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ॥

चौथा दिन

११ अगस्त

आज रविवार है। रविवार को आर्ट्स कालेज के हॉल में सबेरे सवा आठ बजे से सवा नौ बजे तक गीता-प्रवचन होता है। उसमें महाराज जायँगे। महाराज के साथ जाने के लिए मैंने भी अपने प्रातः कृत्यों में जल्दी की।

बँगले के सामने विश्व-विद्यालय का राज-पथ है। उसपर सबेरे से लेकर रात के दस बजे तक चलनेवालों का ताँता लगा रहता है।

छुट्टी का दिन है, इससे विश्व-विद्यालय के छात्रों का आना-जाना सबेरे ही से जारी हो गया है। कुछ घूमने-घामने जा रहे हैं, कुछ मिलने-जुलने जा रहे हैं और कुछ लौट रहे हैं।

सभी नवयुवक हैं; हृष्ट-पुष्ट और फुर्तीले हैं। स्फूर्ति का प्रमाण उनकी चाल से मिलता है। चमकते-दमकते चेहरोंवाले युवक छाती तानकर, ठाट से, चलते हैं। सफेद वस्त्र पहने हुए, हँसते-बोलते हुए, मित्रों से छेड़खानी करते हुए, चहकते-महकते चले जा रहे हैं।

मुझे यह दृश्य बड़ा ही सुन्दर लगा। ये नवयुवक इस विश्व-विद्यालय रूपी कल्प-वृक्ष के बीज हैं, जो अपने-अपने गाँवों में जाकर अलग-अलग एक-एक कल्प-वृक्ष बन जायेंगे।

ये देश की आशाओं के केंद्र हैं। देश का भविष्य इनके हाथ में है; ये उसके उत्तराधिकारी हैं।

ये मालवीयजी महाराज के बच्चे हैं। उनको ये प्राण की तरह प्यारे हैं। इनको हँसते-खेलते और कूदते-किलकते देखकर उनको अपने बचपन की याद आती है और वे पुलकित हो उठते हैं। मानो ये लड़के उनके बचपन का अभिनय करते चलते हैं।

राज-पथ पर हरएक प्रांत के लड़के अपनी-अपनी मातृ-भाषा में बात-चीत करते हुए चलते हैं। कोई गुजराती में, कोई मराठी में और कोई तमिल-तेलगू में। कई बार मैंने रात को मद्रासी लड़कों को जोर-जोर से अपनी मातृ-भाषा में बोलते हुए जाते देखा है। यदि हृदय उत्साह और आनन्द से परिपूर्ण है तो भीगी बिल्ली की तरह क्यों बोलें ? सिंह की तरह क्यों न बोलें ?

मैं बँगले के बाहर खड़े-खड़े लड़कों का आवागमन देखते हुए अपने मन से बातें कर रहा था कि गीता-प्रवचन में जाने के लिए महाराज बाहर आ गये। मोटर जैसे ही सड़क पर आयी, लड़कों के झुंड आते-जाते मिलने लगे। साफ़-सुथरे और अच्छे डील-डौल के लड़के अगर मस्तानी चाल से चलते हैं तो महाराज को अच्छा लगता है। कुछ ऐसे ही लड़के सामने से आ रहे थे। उनको देखकर महाराज ने मुझसे पूछा—शिवाजी हॉल देखा है ? ज़रूर देखिए; वहाँ मोटी-मोटी गर्दनवाले लड़के मिलेंगे।

यह कहते हुए उन्होंने मुट्ठी बाँधकर, कुहनियों को पीछे लेजाकर, और छाती उठाकर दिखाया भी कि उनका क्या अभिप्राय है।

वह दृश्य मुझे बहुत कौतूहलवर्द्धक लगा। मैंने देखा कि महाराज केवल शरीर से वृद्ध हुए हैं, उनके मन में अभी नौजवानों की सी उमंग शेष है।

हम गीता-प्रवचन में पहुँचे। उस दिन महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ भट्टाचार्य व्यास-गद्दी पर थे। भट्टाचार्य महोदय एक विश्रुत विद्वान् हैं। उन्होंने गीता के कुछ श्लोकों की व्याख्या बड़ी ही मार्मिकता से की। महाराज एकचित्त होकर उनके प्रवचन का रस ले रहे थे। विश्व-विद्यालय के छात्र, जो उपस्थित थे, संख्या में ४०-५० से अधिक नहीं थे, यह अवश्य चिंतनीय बात थी।

प्रवचन के पश्चात् गायनाचार्य पण्डित शिवप्रसाद त्रिपाठी ने बड़े ही मधुर स्वर तथा ताल और लय के साथ सूरदास का एक पद गाकर सुनाया।

प्रवचन से उठकर महाराज फिर मोटर पर आ बैठे और उस ओर गये, जिधर विश्व-विद्यालय के प्रोफेसरों के लिए नयी इमारतें बन रही हैं। बँगले नयी डिज़ाइन के, एक क़तार में बन रहे हैं, जो बहुत सुन्दर लगते हैं।

उनके सामने चौड़ी सड़क पर सागौन के वृक्षों की दोहरी कतारें हैं, जो विश्व-विद्यालय का नक़शा बनानेवाले की सुरुचि का द्योतक है। इसी तरह दूसरी सड़कों पर एक-एक जाति के वृक्षों की पंक्तियाँ उनकी शोभा बढ़ा रही हैं।

नयी इमारतें देखकर जब हम लौट रहे थे, दाहिनी ओर विश्व-विद्यालय की प्रायः कुल मुख्य-मुख्य इमारतें दृष्टि-पथ में आ रही थीं।

सबेरे का सुहावना समय था। आकाश बादलों से घिरा हुआ

था। बादलों की शीतल छाया में, सघन वृक्षों की आड़ में, विश्व-विद्यालय के भव्य विद्या-मंदिरों की शोभा अवर्णनीय थी।

मैं अतृप्त नेत्रों से उसे देखने में लग गया और महाराज मन-ही-मन उस माली की तरह आनन्द अनुभव करने लगे होंगे, जिसकी फुलवाड़ी खूब फूली हो।

आगे चलने पर महाराज को गीता-प्रवचन की याद आयी। वे कहने लगे—रामनरेशजी ! हिन्दुओं के पास कोई ऐसा विषय नहीं है, जिसको लेकर वे एक साथ बैठ सकें। इसीसे मैंने गीता-प्रवचन की प्रथा चलायी है। सप्ताह में एक दिन भी वे साथ बैठना सीख जायँगे तो उनमें संगठन की भावना आपसे आप जाग उठेगी।

मैंने भीतर ही भीतर मन से कहा—हिन्दू-जाति को सुसंगठित देखने की महाराज की लालसा कैसी प्रबल है !

संध्या को भोजनोपरांत मैं महाराज के पास फिर जा बैठा और मैंने पूछा—जिस हिन्दू-जाति की उन्नति के लिए आप इतने चिंतित रहते हैं, जबकि देश में अन्य कई जातियों के लोग अच्छी संख्या में रहते हैं, तब उनमें वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता कैसे कायम रख सकती है।

इसपर महाराज ने स्वरचित 'हिन्दू-धर्मोपदेश' देखने के लिए आदेश किया, जिसमें उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है।

'हिन्दू-धर्मोपदेश' की एक प्रति मैंने महाराज के आफिस से प्राप्त कर ली थी; पर उसे पढ़ने का अवसर अभी तक मुझे नहीं मिला था।

पाठकों की जानकारी के लिए हिन्दी-अनुवाद-सहित उसका मूल पाठ यहाँ दे रहा हूँ।—

हिन्दू-धर्मोपदेशः

मालवीयकृतः

संघे शक्तिः कलौ युगे

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ॥ १ ॥

ग्रामे ग्रामे सभा कार्या ग्रामे ग्रामे कथा शुभा ।
पाठशाला मल्लशाला प्रतिपर्व महोत्सवः ॥ २ ॥

अनाथाः विधवाः रक्ष्याः मन्दिराणि तथा च गौः ।
धर्म्यं संघटनं कृत्वा देयं दानं च तद्धितम् ॥ ३ ॥

स्त्रीणां समादरः कार्यो दुःखितेषु दया तथा ।
अहिंसका न हन्तव्या आततायी वधार्हणः ॥ ४ ॥

अभयं सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा ।
सेव्याः सदाऽमृतमिव स्त्रीभिश्च पुरुषस्तथा ॥ ५ ॥

कर्मणां फलमस्तीति विस्मर्तव्यं न जातु चित् ।
भवे पुनः पुनर्जन्म मोक्षस्तदनुसारतः ॥ ६ ॥

स्मर्तव्यः सततं विष्णुः सर्वभूतेष्ववस्थितः ।
एक एवाऽद्वितीयो यः शोकपापहरः शिवः ॥ ७ ॥

'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम् ।
दैवतं देवतानां च लोकानां योऽव्ययः पिता' ॥ ८ ॥

सनातनीयाः सामाजाः सिक्खाः जैनाश्च सौगताः ।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरताः भावयेयुः परस्परम् ॥ ९ ॥

विश्वासे दृढ़ता स्वीये परनिन्दा विवर्जनम् ।
तितिक्षा मतभेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता ॥ १० ॥
'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ ११ ॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परस्य कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ १२ ॥
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथ सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्' ॥ १३ ॥
न कदाचिद्बिभेत्वन्यान्न कंचन विभीषयेत् ।
आर्यवृत्ति समालंब्य जीवेत्सज्जनजीवनम् ॥ १४ ॥
सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥१५॥
इत्युक्त लक्षणा प्राणि दुःख-ध्वंसन-तत्परा ।
दया बलवतां शोभा न त्याज्या धर्मचारिभिः ॥१६॥
पारसीयैर्मुसल्मानैरीसाईयैर्यहूदिभिः ।
देश-भक्तैर्मिलित्वा च कार्या देश-समुन्नतिः ॥ १७ ॥
पुण्योऽयं भारतो वर्षो हिन्दुस्थानः प्रकीर्तितः ।
वरिष्ठः सर्वदेशानां धन-धर्म-सुखप्रदः ॥ १८ ॥

'गायन्ति देवाः किल गीतकानि ।
धन्यास्तु ये भारतभूमि भागे ॥
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु भूते ।
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥१९॥

मातृभूमिः पितृभूमिः कर्मभूमिः सुजन्मनाम् ।
भक्तिमर्हति देशोऽयं सेव्यः प्राणैर्धनैरपि ॥ २० ॥

चातुर्वर्ण्यं यत्र सृष्टं गुणकर्म-विभागशः ।
चत्वार आश्रमाः पुण्याः चतुर्वर्गस्य साधकाः ॥ २१ ॥
उत्तमः सर्वधर्माणां हिन्दू-धर्मोऽयमुच्यते ।
रक्ष्यः प्रचारणीयश्च सर्वलोक-हितैषिभिः ॥ २२ ॥

हिन्दी-अनुवाद

कलियुग में एकता ही में शक्ति है।

परमेश्वर को प्रणाम कर, सब प्राणियों के उपकार के लिए, बुराई करनेवालों को दबाने के लिए, धर्म-संस्थापन के लिए, धर्म के अनुसार संगठन-मिलाप कर गाँव-गाँव में सभा करनी चाहिए ।।१।।

गाँव-गाँव में कथा बिठानी चाहिए । गाँव-गाँव में पाठशाला खोलनी चाहिए । गाँव-गाँव में अखाड़ा खोलना चाहिए और पर्व-पर्व पर मिलकर बड़ा उत्सव मनाना चाहिए ।।२।।

सब भाइयों को मिलकर अनाथों की, विधवाओं की, मन्दिरों की और गौ की रक्षा करनी चाहिए, और इन सब कामों के लिए दान देना चाहिए ।।३।।

स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए । दुखियों पर दया करनी चाहिए । उन जीवों को नहीं मरना चाहिए जो किसी पर चोट नहीं करते । मारना उनको चाहिये जो आततायी हों अर्थात् जो स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन-धर्म या प्राण पर वार करते हों, या किसी घर में आग लगाते हों । यदि ऐसे लोगों को मारे बिना अपना या दूसरों का धर्म, धन या मान न बच सके तो उनको मारना धर्म है ।।४।।

स्त्रियों को, पुरुषों को भी निडरपन, सचाई, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, धीरज और क्षमा का अमृत के समान सदा सेवन करना चाहिए ।।५।।

इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है, और कर्मों के अनुसार ही प्राणी को बार-बार जन्म लेना पड़ता है या मोक्ष मिलता है ।।६।।

घट-घट में बसनेवाले भगवान् विष्णु का, सर्वव्यापी ईश्वर का सुमिरन सदा करना चाहिए, जो कि एक ही अद्वितीय हैं अर्थात् जिनके समान दूसरा कोई नहीं और जो दुःख और पाप के हरनेवाले शिव स्वरूप हैं। जो सब पवित्र वस्तुओं से अधिक पवित्र, जो सब मंगल कर्मों के मंगल स्वरूप, जो सब देवताओं के देवता हैं और जो समस्त संसार के आदि सनातन अजन्मा अविनाशी पिता हैं ।।७-८।।

सनातन-धर्मी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिक्ख, जैन और बौद्ध आदि सब हिन्दुओं को चाहिए कि अपने-अपने विशेष धर्म का पालन करते हुए एक दूसरे के साथ प्रेम और आदर से बर्तें ।।९।।

अपने विश्वास में दृढ़ता, दूसरे की निन्दा का त्याग, मतभेद में (चाहे वह धर्म-सम्बन्धी हो या लोक-सम्बन्धी) सहन-शीलता और प्राणीमात्र से मित्रता रखनी चाहिए ।।१०।।

सुनो धर्म के सर्वस्व को और सुनकर इसके अनुसार आचरण करो। जो काम अपने को बुरा और दुखदायी जान पड़े, उसको दूसरे के साथ नहीं करना चाहिए ।।११।।

मनुष्य को चाहिए कि जिस काम को वह नहीं चाहता है कि कोई दूसरा उसके साथ करे, उस काम को वह भी किसी दूसरे के प्रति न करे। क्योंकि वह जानता है कि यदि उसके साथ कोई ऐसी बात करता है जो उसको प्रिय नहीं है, तो उसको कैसी पीड़ा पहुँचती है ।।१२।।

जो चाहता है कि मैं जीऊँ, वह कैसे दूसरे का प्राण हरने का मन करे। जो-जो बात मनुष्य अपने लिए चाहता है, वही-वही औरों के लिए भी सोचनी चाहिए ।।१३।।

चाहिए कि न कोई किसी से डरे, न किसी को डर पहुँचावे। श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेश के अनुसार आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों की वृत्ति में दृढ़ रहते हुए ऐसा जीवन जीवे जैसा सज्जन को जीना चहिए ।।१४।।

हरएक को उचित है कि वह चाहे कि सब लोग सुखी रहें, सब नीरोग रहें, सबका भला हो। कोई दुःख न पावे। प्राणियों के दुःख को दूर करने में तत्पर, यह दया बलवानों की सेवा है। धर्म के अनुसार चलनेवालों को कभी इसका त्याग नहीं करना चाहिए ।।१५-१६।।

देश की उन्नति के कामों में जो पारसी, मुसलमान, ईसाई, यहूदी देशभक्त हों, उनके साथ मिलकर भी काम करना चाहिए ।।१७।।

यह भारतवर्ष जो हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध है, बड़ा पवित्र देश है, धन, धर्म और सुख का देनेवाला यह देश सब देशों से उत्तम है ।।१८।।

'कहते हैं कि देवता लोग यह गीत गाते हैं कि वे लोग धन्य हैं जिनका जन्म इस भारत-भूमि में होता है, जिनमें जन्म लेकर मनुष्य स्वर्ग का सुख और मोक्ष दोनों को पा सकता है।' ॥१९॥

यह हमारी मातृभमि है, यह हमारी पितृ-भूमि है। जो लोग सुजन्मा हैं—जिनके जीवन बहुत अच्छे हुए हैं, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि महापुरुषों के, महात्माओं के, आचार्यों के, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के, गुरुओं के, धर्मवीरों के, शूरवीरों के, दानवीरों के, स्वतन्त्रता के प्रेमी देशभक्तों के उज्ज्वल कामों की यह कर्म-भूमि है। इस देश में हमको परम भक्ति करनी चाहिये और प्राणों से और धन से भी इसकी सेवा करनी चाहिए ॥२०॥

जिस धर्म में परमात्मा ने गुण और कर्म के विभाग से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण बनाये और जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के साधन में सहायक, मनुष्य का जीवन पवित्र बनानेवाले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम स्थापित हैं ॥२१॥

सब धर्मों से उत्तम, इसी धर्म को हिन्दू-धर्म कहते हैं। जो लोग सारे संसार का उपकार चाहते हैं उनको उचित है कि इस धर्म की रक्षा और इसका प्रचार करें ॥२२॥

मानुष्यं वरवंशजन्म विभवो दीर्घायुरारोग्यता।
सन्मित्रं सुसुतः सती प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे।
विद्वत्त्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः सत्पात्रदाने रति-
स्ते पुण्येन विना त्रयोदश गुणाः संसारिणां दुर्लभाः।

पाँचवाँ दिन

१२ अगस्त

आज दिन के तीन बजे के लगभग महाराज से मिलने की इच्छा से मैं बैठक में गया। बैठक के बीच में एक सुन्दर-सी गोल मेज़ रखी है, उसके चारों ओर ऊँची और नीची कुरसियाँ रखी हैं। इस समय बैठक की सभी कुरसियाँ भरी हुई थीं। उनकी मौजूदगी में 'आँधी के आगे बेना के बतास' की क्या वक़त होगी, यह सोचकर मैं घूम-फिरकर बँगले के कमरों का साज-समाज देखने लगा।

कुछ लोग समझते होंगे, और जैसा सन् १९२६ में कांग्रेस की स्वराज्य-पार्टी और नेशनलिस्ट पार्टी के संघर्ष के दिनों में गाँवों में प्रचार भी किया गया था कि मालवीयजी तो राजसी ठाट से रहते हैं, राजा-महाराजाओं के प्रीति-पात्र हैं, उनमें गरीब किसानों के लिये क्या हमदर्दी हो सकती है ?

उन समझदारों को यह जानकर आश्चर्य होगा। कि महाराज की रहन-सहन में राजसी ठाट-बाट की कहीं गंध भी नहीं है। वे जिस कमरे में रहते हैं, वह १५ फुट लम्बा-चौड़ा होगा। उसी में एक दीवार से सटकर एक पलंग पड़ा है, जिसपर महाराज विश्राम करते हैं। सिरहाने की तरफवाली दीवार से सटकर एक तख्त रखा है, जिसपर ख़ास-ख़ास पुस्तकें और फाइलें रक्खी रहती हैं। पलंग के सामने तीन-चार कुरसियाँ रक्खी रहती हैं, जिनपर

मिलनेवाले आकर बैठते हैं। फर्श पर दरी और उसपर सफेद चादर बिछी रहती है; संस्कृत के छात्र प्रायः उसी पर बैठना पसंद करते हैं। आमने-सामने की दीवारों पर दो चित्र टँगे हैं। एक महाराज के पिता का है, दूसरा माता का। महाराज के हृदय में अपने माता-पिता के लिए अपरिमेय श्रद्धा है। महाराज अपने दोनों पूजनीयों का दर्शन बराबर करते रहकर हार्दिक आनंद अनुभव करते रहते हैं।

बैठक के फर्नीचर को छोड़कर बाकी सब मेज और कुरसियाँ बहुत साधारण दशा में हैं। कमरों की खिड़कियों और दरवाजों के किवाड़ पुराने हो गये हैं। किसी जमाने में उनपर पालिश की गयी होगी, पर उनकी जीर्णता को वह नहीं ढँक सकी। जैसे कोई वृद्ध पुरुष तेल और साबुन से अपने चेहरे को साफ चमकीला तो बना सकता है, पर वह उसकी झुरियाँ नहीं मिटा सकता, किवाड़ों की हालत ठीक उसी वृद्ध पुरुष के चेहरे-जैसी हो रही है।

आँगन बड़ा है। उसके बीचो-बीच तुलसी का चौरा है।

बाकी ज़मीन में कभी छोटी-सी फुलवाड़ी रही होगी, अब तो घास जमी है। एक तरफ गायों के रहने के लिए ओसारा है, पर अब गायें नहीं रहतीं। एक ओर रसोई-घर है, महाराज दुर्बल होने पर भी रसोई-घर ही में जाकर भोजन करते हैं।

भोजन वे पीढे पर बैठकर करते हैं। दो-तीन पतली-पतली रोटियाँ, ताजे मक्खन से निकाला हुआ घी और एक या दो तरकारियाँ, यही उनका दोपहर का और यही रात का भी आहार है। चौबीस घंटे में एक सेर दूध और आधी छटाँक ताजा

मक्खन या मक्खन का ताज़ा निकाला हुआ घी वे ज़रूर लेते हैं; क्योंकि उनकी माँ की यही आज्ञा है। चावल और मसाला वे नहीं खाते।

घर में तीन सेवक हैं, एक सजातीय मालवीय ब्राह्मण रसोई बनाता है, एक बरतन और घर की सफाई करता है और एक महाराज के निजी काम में रहता है। सबको महाराज कुटुम्बी की तरह रखते हैं।

यही राजा-महाराजाओं के कृपा-पात्र और सेठ-साहूकारों के पूज्य तथा हिन्दू-विश्वविद्यालय के संस्थापक और बीस वर्षों तक वाइस चांसलर रहे हुये व्यक्ति का ठाट-बाट है।

राजा-महाराजाओं और सेठ-साहूकारों से उन्होंने काफी घनिष्ठता रक्खी, इसमें सन्देह नहीं, पर अपने लिए नहीं। जहाँ तक मालूम हुआ है, अपने लिए जीवनभर उन्होंने किसी से याचना नहीं की।

एक दिन बता रहे थे कि एक रईस ने पचास हज़ार रुपये की हुण्डी भेजी थी इसलिये कि वे सरकार के किसी उच्च पदाधिकारी से उसका कोई स्वार्थ सिद्ध करा दें। महाराज ने उसे साफ इन्कार कर दिया और हुण्डी लौटादी और कहा—मैं वही करूँगा, जो उचित होगा।

राजा-रईसों से उनके सम्पर्क का पूरा लाभ ग़रीबों को मिला है, और मिल रहा है। हिन्दू-विश्वविद्यालय राजा-महाराजाओं और धनियों ही के दान से चल रहा है और उससे साधारण श्रेणी ही के गृहस्थों को विशेष लाभ पहुँच रहा है। यदि महाराज

ने अपने जीवनभर की तपस्या से इतना प्रभाव डालने की शक्ति न उपार्जन की होती तो राजा-महाराजा और धनी लोग क्या उनकी बात पर कान देते ? स्वेच्छा से सुसंगठित होकर क्या वे एक विश्व-विद्यालय चलाते होते ? और आत्म-प्रेरणा से क्या वे देश-हित और धर्म के प्रचार के किसी आयोजन में भाग लेते होते ? असम्भव ही था। उनकी शक्तियों को संग्रह करके उन्हें जन-साधारण के हित में लगाने का श्रेय महाराज ही को है।

महाराज बड़े निरभिमान और बड़े ही विनम्र हैं। उन्होंने चुपचाप काम किया है और कभी अपनी महिमा के बखान के लिए प्रचारक नहीं तैयार किये। लोकहित के उनके काम ही उनके प्रचारक रहे हैं और रहेंगे।

गर्वं नोद्वहते न निन्दति परान्नो भासते निष्ठुरं।
प्रोक्तं केनचिदप्रियं च सहते क्रोधं च नालम्बते॥
श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं संतिष्ठते मूकवत्।
दोषांश्छादयते स्वयं न कुरुते ह्येतत्सतां लक्षणम्॥

यह विचार करता-करता मैं महाराज के कमरे की तरफ गया। मिलनेवाले मिलकर जा चुके थे और महाराज ख़ाली बैठे थे। सामनेवाली कुरसी पर बैठकर मैंने कहा—आपने इतने अधिक काम अपने ऊपर ले रक्खे हैं कि सबको कुछ न कुछ समय देने में आपपर बहुत परिश्रम पड़ता है।

महाराज ने कहा—सच है; मैंने एक साथ इतने अधिक काम हाथ में ले लिये कि किसी एक को भी मैं अपने इच्छा-

नुसार पूरा नहीं कर पाया। यह एक भूल थी। मेरी बड़ी लालसा थी कि विश्व-विद्यालय में एक म्यूजिक कालेज (संगीत-विद्यालय) भी होता; जिससे विश्व-विद्यालय के प्रत्येक छात्र के कंठ में कुछ राग-रागिनी अवश्य रख दिये जाते। पर इसके लिए तीन लाख रुपये हों तो उसकी इमारत बने, तब काम शुरू हो। कम से कम एक लाख मिल जाय, तब भी काम चालू हो सकता है। अब मैं बीमारी से छुट्टी पाऊँ तो किसी दानी से याचना करूँ। अभी तो विश्वनाथजी का एक नया मन्दिर विश्व-विद्यालय में बनवाना है। दूसरी मेरी उत्कट इच्छा विश्व-विद्यालय के प्रारम्भ ही से यह रही है कि नालंद विश्व-विद्यालय की तरह हिन्दू विश्व-विद्यालय में भी एक कुलपति के नीचे १० हजार छ त्र विद्याध्ययन करते। अभी तो केवल चार हजार ही छात्रों के लिए प्रबन्ध हुआ है, बाकी बनाना है।

इसके बाद महाराज ने कुछ ग्रामगीत सुने, खूब रस लिया और कहा——आप तो नित्य गंगाजी में स्नान करते हैं। गंगाजी से उनका अभिप्राय ग्रामगीतों की काव्यधारा से था।

महाराज कुछ विश्राम लेना चाहते थे। कहने लगे——अब थोड़ा सुस्ता लें तो फिर काम में लगें।

थोड़ी ही देर विश्राम लेकर उन्होंने आँखें खोलीं। मैंने फिर उनके लड़कपन की कुछ बातें सुनने की इच्छा प्रकट की।

महाराज कहने लगे——

"धार्मिक भावों की ओर मेरा झुकाव लड़कपन ही से था। स्कूल जाने के पहले मैं रोज़ हनुमानजीका दर्शन करने जाता था



मालवीयजी के पिताजी

और यह श्लोक पढ़ता था——

मनोजवं मारुततुल्य वेगं, जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठं।
वातात्मजं वानर-यूथ-मुख्यं श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥

लोकनाथ महादेव के पास मुरलीधर चिमनलाल गोटेवाले के चबूतरे पर पिताजी कथा बाँचने जाते थे। मुट्ठीगंज के मंदिर में भी वे कथा कहने जाया करते थे। मैं दोनों कथायें सुनने के लिए नित्य जाता था और उनकी चौकी के पास बैठ जाता था। और बड़े ध्यान से कथा सुनता था। पिताजी ने एक दिन कहा——तू बड़ा भक्त है। यह सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

मैं गायत्री का जप बहुत किया करता था। एकबार घर-वालों को शंका हुई कि मैं साधु न हो जाऊँ और वे मेरी निग-रानी रखने लगे थे।

एंट्रेंस पास करने के बाद मैं म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ने लगा। कालेज में एक 'फ्रेंड्स डिबेटिंग सोसायटी' थी। उसमें मैंने पहली स्पीच अंग्रेजी में दी। वह इतनी अच्छी समझी गयी कि इन्स्टीटय़ूट के सेक्रेटरी लाला साँवलदास ने मेरी पीठ ठोंकी और बड़ी प्रशंसा की।

लाला साँवलदास बाद को डिप्टी कलक्टर हो गये और उससे रिटायर होने के बाद वे रेवेन्यू मेम्बर के पद पर कुछ समय तक काम करते रहे। बच्चाजी (लाला मनमोहनदास, इलाहाबाद के एक रईस) के बगल में उनकी कोठी है।

जब मैं कालेज में पढ़ता था, उन दिनों माघ-मेले के सरकारी इन्तज़ाम से हिन्दू लोग बहुत असन्तुष्ट थे। पंडित आदित्यराम

भट्टाचार्य कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे। लोक-सेवा के कार्यों में मेरी रुचि देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वे मुझपर बहुत कृपा रखते थे। जीवन भर वे मुझपर पुत्र का-सा स्नेह रखते रहे। मैं भी उनसे गुरु के योग्य भक्ति-युक्त बर्ताव रखता था। उनसे मुझे पबलिक कामों में भाग लेने में बड़ा प्रोत्साहन मिला। उन्होंने प्रयाग में 'हिन्दू-समाज' नामकी एक सभा सन् १८८० में क़ायम की। मैं उस सभा में जाने लगा। उन्होंने हिन्दुओं की एकता के सम्बन्ध में एक बड़ी ही सुन्दर अपील तैयार की थी।

जब मैं बी० ए० पास हुआ, घर में ग़रीबी बहुत थी। घर के प्राणियों को अन्न-वस्त्र का भी क्लेश था।

मामूली-सा घर था। घर में गाय थी; माँ अपने हाथ से उसको सानी चलाती और उसका गोबर उठाती थी। स्त्री आधा पेट खाकर संतोष कर लेती थी और फटी हुई धोतियाँ सीकर पहना करती थी। मैंने बहुत वर्षों बाद एक दिन उससे पूछा—तुमने कभी सास से खाने-पहनने के कष्ट की शिकायत नहीं की? स्त्री ने कहा—शिकायत करके क्या करती? वे कहाँ से देतीं? घर का कोना-कोना जितना वे जानती थीं, उतना ही मैं भी जानती थी। मेरा दुःख सुनकर वे रो देतीं, और क्या करतीं?

बी० ए० पास होनें के बाद मेरी बड़ी इच्छा थी कि बाबा और पिता के समान मैं भी कथा कहूँ और धर्म का प्रचार करूँ। किन्तु घर की ग़रीबी से सब प्राणियों को दुःख हो रहा था। उन्हीं दिनों उसी गवर्नमेण्ट स्कूल में, जिसमें मैंने पढ़ा था, एक अध्यापक की जगह ख़ाली हुई। मेरे चचेरे भाई पण्डित



मालवीयजी की माताजी

जयगोविन्दजी उसमें हेड पंडित थे। उन्होंने मुझसे कहा कि इस जगह के लिए कोशिश करो। मेरी इच्छा धर्म-प्रचार में अपना जीवन लगा देने की थी। मैंने नाहीं कर दी। उन्होंने माँ से कहा।

माँ मुझे कहने के लिए आई। मैंने माँ की ओर देखा। उसकी आँखें डबडबा आयी थीं। वे आँखें मेरी आँखों में अब-तक धँसी हैं। मेरी सब कल्पनायें माँ के आँसू में डूब गयीं और मैंने अविलम्ब कहा—माँ, तुम कुछ न कहो; मैं नौकरी कर लूँगा। जगह ४०) महीने की थी। मैंने इसी वेतन पर स्कूल में अध्यापक की नौकरी कर ली। दो महीने बाद मेरा मासिक वेतन ६०) हो गया।'

अपनी धर्मपत्नी के बारे में मालवीयजी ने कहा, "वह माता-पिता के दुलार में पली हुई थी। लड़कपन में उसे किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं था। मेरे घर में आकर उसने बड़े धैर्य और साहस से ग़रीबी के कष्टों का सामना किया। उसने सदा कुल की मर्यादा का ध्यान रक्खा है। एक बार वह गंगाजी में स्नान कर रही थी। उसका पैर एक गड्ढे में चला गया और वह डूबने लगी। मेरा पुराना नौकर बेनी, जो अब पेंशन पाता है, उसका हाथ पकड़ने दौड़ा। स्त्री ने उसे झिड़ककर कहा—दूर हटो। ऐसे संकट-काल में भी उसने पर-पुरुष को अपना हाथ छूने नहीं दिया। यद्यपि मैं इसे बुद्धिमानी की बात नहीं मानता, पर हर एक को अपने धर्म का पालन अपने ही दृष्टिकोण से करने की स्वतंत्रता है।"

मालवीयजी और उनकी धर्म-पत्नी दोनों ने पूरी निष्ठा से अपने धर्म का पालन किया है। उसीके बल से वे ग़रीबी के घोर दलदल से निकलकर इस उच्चता पर पहुँचे हैं। लाखों और करोड़ों मनुष्यों के अंधकारमय जीवन-पथ में प्रकाश पहुँचानेवाले और संसार-सागर में भटकनेवाली जीवन-नौकाओं के लाखों नाविकों के लिए ध्रुव-तारा बननेवाले पति की पत्नी होने का गौरव जिसे प्राप्त है, क्या वह स्त्री-समाज में सबसे अधिक भाग्यशालिनी नहीं समझी जायगी ?

जीवन-रथ के दोनों पहियों ने उन्नति के पहाड़ी मार्ग पर चोटी तक रथ को सही-सलामत पहुँचा दिया है। क्या हममें से हरएक दम्पति को इस सफलता पर उनको बधाई नहीं देनी चाहिए ?

मैंने सुन रक्खा था कि महाराज ने लड़कपन में किसी नाटक में अभिनय भी किया था। वे लड़कपन में बड़े ही सुन्दर थे। सुन्दरता का फल उनको यह मिला था कि उन्हें स्त्री ही का पार्ट करना पड़ता था।

बात कौतूहल-वर्द्धक थी।

अभिनय की बात जानने की मेरी जिज्ञासा देखकर पहले तो महाराज मुसकुराये और फिर उन्होंने बताया कि शकुन्तला और मर्चेंट आफ वेनिस नाम के दो नाटकों में उन्होंने स्त्री का पार्ट किया था।

प्रयाग में 'आर्य-नाटक-मंडली' नाम की एक संस्था थी, जिसमें प्रयाग के प्रायः सभी प्रमुख व्यक्ति सदस्य थे। पं०

सुन्दरलालजी भी उसके सदस्य थे। उस मंडली ने एक बार 'शकुंतला' नाटक का अभिनय करना स्थिर किया। पर शकुन्तला कौन बने ? साथियों ने मालवीयजी को शकुंतला का अभिनय करने के लिए विवश किया।

नाटक खेला गया। परदा उठने पर प्रियंवदा और अनुसूया सखियों के साथ शकुंतला हाथ में घड़ा लिये रंग-मंच पर आयी, तब दर्शक चकित हो गये। शृंगार और करुण दोनों रसों के हाव-भाव दिखलाकर शकुंतला के अभिनेता ने दर्शकों को मुग्ध कर लिया।

कालेज में वसन्त-पञ्चमी के अवसर पर एक 'रि-युनियन' (सम्मिलन) हुआ, उसमें अंग्रेज़ी का 'मर्चेंट आफ वेनिस' नाटक खेला गया था। उसमें पोर्शिया का पार्ट मालवीयजी ने ऐसी खूबी से किया था कि देखनेवाले कह उठे कि कोई अंग्रेज महिला भी यह पार्ट इतनी खूबी से शायद न कर सकती।

मालवीयजी के घनिष्ठ मित्रों के संस्मरणों से मालूम हुआ है कि लड़कपन में वे बड़े नटखट थे। सभा-सोसाइटी, कसरत-कुश्ती, खेल-कूद और हँसी-मज़ाक में खूब रस लिया करते थे। स्कूल से घर आते ही कहीं किताब, कहीं जूता, कहीं कपड़े फेंक-फाँककर खेलने निकल जाते थे और कभी गुल्ली-डंडा, कभी गेंडी और कभी कबड्डी खेलते और कभी लड़कों की गुटबंदी करते फिरते। कभी दूसरे गुट के लड़कों से मुक़ाबला होता तो डटकर लड़ते। हारने और भागने का नाम तो वे जानते ही न थे।

मालवीयजी के यहाँ जन्माष्टमी का उत्सव बड़ी धूम-धाम से

मनाया जाता था। शहर के बड़े-बड़े रईस और छोटे-छोटे महाजन दर्शन को आते थे और भजन-कीर्त्तन खूब होता था। घर में राधाकृष्णजी और चतुर्भुजजी की दो मूर्त्तियाँ हैं। उन्हें वे बड़ी श्रद्धा और भक्ति से पूजते थे।

घर में पुस्तकों के होने से 'पुस्तकी भवति पंडितः' की कहावत के अमुसार जैसे बाल मालवीयजी को धार्मिक विषयों का उपदेश प्राप्त हुआ, वैसा ही घर में मूर्त्तियों के रहने से उनको ईश्वर की भक्ति प्रांप्त करने में प्रबल प्रेरणा मिली।

यज्ञोपवीत होने के बाद से वे सन्ध्या-वन्दन और पूजा-पाठ बड़े मनोयोग से करने लगे थे।

सोलह वर्ष की अवस्था में एंट्रेंस की परीक्षा पास करने के बाद १८८१ में उन्होंने सेंट्रल कालेज से एफ़० ए० और १८८४ में कलकत्ते से बी० ए० पास किया। एम० ए० पास करने की उनकी इच्छा बहुत थी और दो-तीन महीने उन्होंने घर पर एम० ए० की पढ़ाई की भी थी, पर घर की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी और पिता पर अंग्रेजी की पढ़ाई का व्यय-भार बहुत बढ़ गया था, इससे आगे की पढ़ाई उन्हें बन्द कर देनी पड़ी।

बी० ए० तक संस्कृत पढ़ने से और घर पर भी लगातार अभ्यास करते रहने से उन्होंने संस्कृत पर पर्याप्त अधिकार प्राप्त कर लिया था। यद्यपि अंग्रेज़ी के समान वे धारा-प्रवाह संस्कृत नहीं बोलते, पर संस्कृत वे इतनी मधुर बोलते हैं कि संस्कृत के विद्वान् भी मुग्ध हो जाते हैं।

श्री घनश्यामदास बिड़ला से वे एकबार कहते थे कि मेरी आज भी बड़ी इच्छा है कि एम० ए० पास करूँ। और कभी-कभी भावावेश में कह भी जाते हैं कि करूँगा।

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत-इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

छठा दिन

१३ अगस्त

आज सवेरे चार ही बजे नींद खुल गयी। बिछौने से उठकर बँगले के सामने खुली जगह में मैं टहलने लगा। पिछले किसी दिन महाराज के मिलनेवालों की कथा सुन चुका था, उसकी याद फिर आ गयी।

महाराज का स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। बिछौने पर पड़े रहते हैं, मगर मिलनेवालों को मानो उनपर दया ही नहीं आती। जो आज उनकी दशा देख जायगा, और पछता जायगा, वह कल फिर आयेगा और घंटों बातें करेगा। ऐसे भयंकर मित्रों से महाराज घबराते भी नहीं।

और सबसे दिलचस्प तो वह छेद है जो बाहर की बैठक और महाराज के कमरे के बीचवाले दरवाजे के एक किवाड़ में है। पता नहीं, किस चतुर ने उस छेद का आविष्कार किया था। दरवाजा बंद रहता है। नित के मिलनेवाले अक्सर उसी छेद से आँख लगाकर देख लिया करते हैं। मैंने उसका नाम ब्रह्म-रन्ध्र रख दिया है। ब्रह्म-रन्ध्र से जहाँ ब्रह्म के हाथ-पैर हिलते हुए दिखाई पड़े कि उसकी सृष्टि के संचालक-गण सृष्टि के अद्भुत-अद्भुत समाचारों के साथ आ धमकते हैं। उन्हें फिर कोई रोक नहीं सकता।

मिलनेवाले सात ही बजे से घर घेरने लगते हैं। कोई

सनातन-धर्म-सभाओं की बात लेकर आता है तो कोई हिन्दू-संगठन के समाचार लाता है। महाराज सबकी बातें बड़े ध्यान से सुनते हैं और ज़रूरी आदेश देते हैं। 'गाँव-गाँव जाओ, घर-घर जाओ, जन-जन से मिलो, सबको धर्म की बातें बताओ और हिन्दुओं को संगठित करो;' यही आदेश देकर वे उनको विदा करते हैं।

कोई धर्मोपदेशक अपना वेतन लेने आता है, उसे वे वेतन दिलाते हैं। कोई विद्यार्थी कोर्स की पुस्तकों के अभाव में अपनी पढ़ाई की रुकावट का कष्ट लेकर आता है, वह दो रुपये, चार रुपये, पाँच रुपये, जैसी आवश्यकता होती है, ले जाता है।

कोई अपनी ग़रीबी सुनाने आता है, वह भी कुछ ले जाता है। कोई स्वरचित कविता सुनाने आता है, कोई श्लोक बनाकर लाता है और कोई गाना सुनाने आता है। महाराज सबकी सुन लेते हैं और सबको स्वदेश के लिए, स्वजाति के लिए कविता रचने और गान करने का आदेश करते हैं।

कितने ही पंडित और कितने ही कोट-पैंटवाले भी आते रहते हैं। महाराज सबसे मिलते हैं; किसी को निराश वापस नहीं जाने देते।

दिन के दूसरे पहर में वे एक घंटा मालिश कराते हैं, फिर घंटा-डेढ़ घंटा भोजन और विश्राम में लगता है; बाक़ी दिनभर का उनका सारा समय देश और धर्म की चर्चा और भरसक दूसरों को सहायता देने में बीतता है।

शाम को रेडियो सुनते हैं। उसके बाद भोजन होता है।

फिर वही देश के भविष्य की चिंता, हिन्दू-संगठन और धर्म-प्रचार की उत्कंठा आ घेरती है। इस तरह दस बजे के लगभग यह वृद्ध तपस्वी अपने अरमानों में लिपटा हुआ सो जाता है।

यही महाराज की रोज़ की दिन-चर्या है।

महाराज समय के पाबंद बिलकुल नहीं हैं। मिलनेवालों से कभी एक बजे छुट्टी मिली, तो एक बजे भोजन किया और कभी डेढ़ बजे या दो बजे।

आज दोपहर से पहले महाराज से भेंट न हो सकी। तीसरे पहर दरबार ख़ाली पाकर मैं उनके पास गया। सवेरे कुछ ग़रीब विद्यार्थी आये थे, कुछ सिफारिश चाहते थे। जैसा वे चाहते थे महाराज ने लिख दिया; बल्कि दो-एक ज़ोरदार शब्द और भी डाल दिये। मैंने बैठते ही कहा—ग़रीब विद्यार्थियों के लिये आपके हृदय में बड़ी जगह है।

महाराज कहने लगे—मैं ग़रीब माता-पिता का पुत्र हूँ, इससे ग़रीब विद्यार्थियों के कष्ट को समझता हूँ। जिनके माता-पिता की मासिक आय तीन-चार रुपये भी नहीं, वे विश्व-विद्यालय की लम्बी फीस न दे सकने के कारण विद्या से वंचित रह जाते हैं, यह बात मुझे बड़ी पीड़ा पहुँचाती है। मैंने १५ फी सदी विद्यार्थियों की फ़ीस माफ़ करने का नियम चला रक्खा था, अब वह १० फी सदी कर दिया गया। इससे मुझे बड़ा कष्ट होता है।

आज इसी सम्बन्ध की एक कथा और मालूम हुई—१९३४ में विहार में जो भूकम्प आया था, उसका प्रभाव विश्व-विद्यालय के विद्यार्थियों पर भी पड़ा और बहुत से विद्यार्थियों ने

फीस माफ कराने के प्रार्थना-पत्र दिये। तत्कालीन प्रिंसिपल ने कहा कि जितनी फीस कौंसिल के निर्णय के अनुसार माफ़ हो चुकी है, उससे अधिक मैं माफ़ नहीं कर सकता। उन्होंने यह भी कहा कि जो लोग फ़ीस नहीं दे सकते हैं, उनके लिए बेहतर होगा कि पढ़ना छोड़ दें और दूसरे काम में लग जायँ।

इसपर विद्यार्थी-गण महाराज के पास पहुँचे। महाराज ने प्रिंसिपल से इस सम्बन्ध में बात-चीत की। प्रिंसिपल का तर्क सुनकर महाराज ने कहा—आप इतने ऊँचे बैठे हैं कि आपको पता ही नहीं कि नीचे क्या हो रहा है? कौन कह सकता है कि इन ग़रीबों में कितने ध्रुव, कितने शिवाजी और कितने राणा प्रताप छिपे हैं!

महाराज के कहने पर कौंसिल ने पाँच फ़ी सदी विद्यार्थियों की फीस और माफ़ कर दी।

गरीब विद्यार्थियों के प्रति महाराज की सहानुभूति स्वाभाविक है। मैंने पूछा—यदि आप ग़रीब माता-पिता की संतान न होते तो?

महाराज ने तत्काल उत्तर दिया—तो मैं आज यहाँ न होता।

इसी समय गोरखपुर जिले के कुछ दर्शनार्थी किसान आ गये। सूचना पाकर महाराज ने उनको अपने कमरे के सामने बुलवाया। उनके आते ही मैं उठकर चला आया; क्योंकि पता नहीं, महाराज कबतक उनसे बतियाते।

कमरे से बाहर आकर मैंने ठाकुर शिवधनीसिंह को महाराज

की अन्तर्पीड़ा की बात सुनायी। ठाकुर साहब ने कहा—१५ फी सदी की छूट तो कहने के लिए थी। महाराज २०, २२ फी सदी तक पहुँचा देते थे। जहाँ किसी विद्यार्थी ने अपने कुटुम्बियों का कष्ट सुनाया कि महाराज पिघले और वह फिर निष्फल नहीं जायगा।

शाम को टहलने निकले। महाराज ने कई दिनों से दाढ़ी के बाल नहीं बनवाये थे। ता० ९ अगस्त को क्या दाढ़ी साफ किये बिना ही वे गवर्नर से मिले होंगे? मैंने अपना संदेह पंडित राधाकांतजी को कहा। उन्होंने उत्तर दिया—यज्ञ की दीक्षा लिये हुए हैं, यज्ञ की समाप्ति तक क्षौर-कर्म नहीं करायेंगे।

मैं आश्चर्य के साथ सोचने लगा—इस जमाने में और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त पुरुष में धर्म-पालन की ऐसी दृढ़ता क्या आश्चर्य-जनक नहीं है?

धर्म में मालवीयजी की आस्था अकृत्रिम है। धर्म और सदाचार के नियमों का पालन वे शुद्ध हृदय से, शास्त्रीय विधि के अनुसार करते हैं।

उनके जीवन में धर्म-प्रचार का एक विशेष अंग है। वे स्वयं हिन्दू-धर्म की एक जीती-जागती मूर्ति हैं।

हिन्दू-धर्म पर जहाँ कहीं कोई आघात, चाहे वह जनता की तरफ से हुआ हो, चाहे सरकार की तरफ से, पहुँचता हुआ मिला है, मालवीयजी ने निर्भय होकर उसका सामना किया है, और सच्ची लगन के कारण वे विजयी भी हुए हैं।

उनके इस प्रकार के कामों के कुछ विवरण छपी हुई पुस्तकों से लेकर यहाँ दिये जाते हैं—

गंगा-नहर का आन्दोलन

१८४९ के लगभग सरकारी नहर-विभाग ने हरिद्वार से एक नहर निकाली। तबसे नहर की एक धारा अलग चलती थी और गंगाजी की प्राकृतिक धारा गंगासागर तक अविच्छिन्न जाती थी। १९१४ के लगभग नहर-विभाग ने एक ऐसा बाँध बनाने की स्कीम तैयार की, जिससे गंगाजी की प्राकृतिक धारा का सब जल नहर में डाल दिया जाता। यदि यह स्कीम चल जाती तो गंगाजी की असली धारा हरिद्वार ही तक रह जाती।

महाराज ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के उत्सव में हरिद्वार गये हुए थे। उनको स्कीम का पता चला तो वे बड़े दुःखी हुए। स्कीम पर लाखों रुपये ख़र्च हो चुके थे। सब लोग निराश हो चुके थे। मालूम होता था कि कलियुग में गंगाजी के लुप्त हो जाने की भविष्यवाणी सत्य हो जायगी।

महाराज की सम्मति से सनातनधर्म-सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि जो बाँध बनाया जारहा है, उससे सनातन-धर्म को आघात पहुँचता है। अतएव सरकार इस काम को बन्द करे।

प्रस्ताव पास कराके मालवीयजी ने एक महीना देहरादून में बैठकर उक्त अभिप्राय का एक मेमोरियल तैयार किया और उसे छपवाकर सरकार के पास और महाराजाओं तथा सर्व-साधारण के प्रतिनिधियों और समाचार-पत्रों को भेजा।

महाराज ने उस सभा में बड़े जोरदार शब्दों में हिन्दुओं के धार्मिक अधिकारों में सरकार के हस्तक्षेप से उत्पन्न और व्यापक

विक्षोभ की सूचना दी। गंगाजी की अविच्छिन्न धारा के लिए आन्दोलन खड़ा होगया। परिणाम यह हुआ कि युक्तप्रांत के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने एक कान्फ्रेंस की, जिसमें जयपुर, ग्वालियर, बीकानेर, पटियाला और बनारस आदि के छः महाराजा, सात सरकारी अफसर और सोलह अन्य सज्जन तथा सभाओं के प्रतिनिधि, जिनमें मालवीयजी और पंडित दीनदयालु शर्मा भी थे, सम्मिलित हुए। लाट साहब ने कांफ्रेंस की यह सिफ़ारिश मान ली कि बाँध में एक छेद ऐसा कर दिया जाय, जिससे गंगाजी की धारा अपने प्राकृतिक प्रवाह में गंगासागर तक बहती रहे।

इस प्रकार गंगाजी का अस्तित्व क़ायम रहा। मालवीयजी ने कहा कि मुझे अपने जीवन में सबसे अधिक संतोष इस कार्य की सफलता से हुआ है; मैं परमात्मा का बहुत धन्यवाद करता हूँ।

१९३३ में हिन्दुओं को फिर यह शिकायत हुई कि हर की पैड़ी पर जल पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचता है।

इसपर नहर-विभाग के अफसरों के साथ एक सभा की गयी, जिसमें महाराज उपस्थित थे। उसमें यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि गंगाजी की मूलधारा में जहाँ पहले प्रति सेकंड एक हजार घन-वर्ग जल आने दिया जाता था, वहाँ अब तीन हज़ार घन-वर्ग आने दिया जाय।

१९२७ में हरिद्वार में कुम्भ होनेवाला था। हिन्दुओं के धार्मिक भावों का ख़याल न करके मेले के सरकारी अधिका-

रियों ने ब्रह्मकुण्ड (हर की पैड़ी) पर एक पुलिया बना ली, जिसपर अफसर लोग जूता पहनकर चलते-फिरते थे। इससे हिन्दुओं को बहुत दुःख था।

महाराज हरिद्वार गये और उन्होंने सरकारी अफ़सरों से बात की, पर कुछ परिणाम न हुआ। इसपर महाराज ने सरकार को सूचित कर दिया कि पुलिया न हटायी गयी तो सत्याग्रह होगा।

महाराज ने एक लंबा तार संयुक्तप्रांत के गवर्नर के नाम भेजा, जिसमें सरकारी अफसरों की स्वेच्छाचारिता से हिन्दुओं में उत्पन्न हुए विक्षोभ और उसके परिणाम का उल्लेख था। महाराज की इस कार्रवाई का यह परिणाम हुआ कि गवर्नर ने मेले के अधिकारियों को पुल का उपयोग न करने का आदेश दे दिया। और पीछे शायद पुल भी हटा दिया गया।

त्रिवेणी-संगम का सत्याग्रह

१९२४ में प्रयाग में अर्द्ध-कुंभी का पर्व था। उस वर्ष गंगा और यमुना का संगम क़िले के बहुत निकट हुआ था, जिससे बीच का स्थान लाखों यात्रियों की भीड़ के लिए पर्याप्त नहीं था।

मेले के सरकारी प्रबन्धकों ने प्रान्तीय सरकार से लिखा-पढ़ी करके यह हुक्म निकाल दिया कि संगम पर कोई स्नान न करने पावे। इससे हिन्दुओं में बड़ी उत्तेजना फैली; क्योंकि संगम-स्नान ही के लिए भारतवर्ष के दूर-दूर के प्रान्तों से भी लाखों यात्री प्रयाग आते हैं।

संगम पर बहुसंख्यक यात्रियों के स्नान के लिए सचमुच काफी जगह नहीं थी। पर एकदम से सबके लिए संगम-स्नान बन्द कर देना मुनासिब भी नहीं था। यात्रियों की संख्या लाखों की थी। मेले के सरकारी अफसरों ने संगम-स्नान को बल्लियों की दीवार से घिरवा दिया और उसपर पुलिस का पहरा खड़ा कर दिया। महाराज को इसकी ख़बर लगी। महाराज ने युक्तप्रान्त की सरकार से लिखा-पढ़ी करके तथा स्थानीय अधिकारियों से भी शान्तिपूर्ण तरीके से संगम पर स्नान करने की आज्ञा माँगी; पर कोई अनुकूल परिणाम न निकला।

महाराज ने इसे अपना ही नहीं, सारी हिन्दू-जाति का अपमान समझा और हिन्दुओं के तीर्थ-स्थानों पर भी सरकार की यह स्वेच्छाचारिता उनको असह्य मालूम हुई।

वे त्रिवेणी-संगम पर स्नान करने के लिए चल खड़े हुए। सारा मेला इस दृश्य को देखने के लिये एकत्र हो आया। लगभग दो सौ व्यक्ति सत्याग्रह के लिए महाराज के साथ गये। महाराज के साथ दीवार पार करने के लिए एक सीढ़ी थी। पुलिस ने सबको आगे जाने से रोक दिया और सीढ़ी भी छीन ली। तब बल्लियों की दीवार के पास जाकर सब बैठ गये।

पंडित जवाहरलाल भी महाराज के साथ सत्याग्रह में शरीक थे।

बैठे-बैठे दोपहर होने को आया। पैदल और घुड़सवार पुलिस घेरकर खड़ी थी।

पंडित जवाहरलाल इस तरह हाथपर हाथ धरे देर तक बैठे-

बैठे ऊब गये। वे उठे और बल्लियों पर चढ़कर उस पार कूद गये।

उनके पीछे और भी कई नौजवान उसी तरीक़े से उस पार पहुँच गये और बल्लियाँ उखाड़ने लगे। वह दृश्य बड़ा ही अद्‌भुत था।

इसपर पैदल और घुड़सवार दोनों तरह की पुलिस ने हमला बोल दिया। पैदल पुलिस धक्के दे रही थी और डण्डा घुमा रही थी और घुड़सवार सिपाही बीच-बीच में घोड़े दौड़ा रहे थे। पर किसी को चोट नहीं आयी।

पंडित जवाहरलाल ने रास्ता खोल दिया। महाराज उठे और पुलिस के घोड़ों के बीच से होते हुए वे त्रिवेणी-संगम पर पहुँच गये।

पंडित जवाहरलाल ने अपनी जीवनी में इस घटना का मनोरंजक वर्णन किया है।

रास्ता खुल जाने पर पुलिस वहाँ से हट गयी और यात्रियों ने विजय के हर्ष के साथ संगम पर स्नान किया।

मानिनो हतमानस्य मानोऽपि न सुखप्रदः।
जीवनं मानमूलं हि माने म्लाने कुतः सुखम्॥

सातवाँ दिन

१७ अगस्त

यज्ञ, जप, पूजा-पाठ आदि हिन्दुओं के धार्मिक कृत्यों में महाराज की पूर्ण श्रद्धा है। ८ अगस्त को उन्होंने काशी में जो 'महारुद्र याग' प्रारंभ कराया था, आज उसकी पूर्णाहुति का दिन था। पण्डित-गण, जो कर्म-काण्ड के विशेषज्ञ थे, ८ से ११ बजे तक प्रातःकाल और ३ बजे से ६ बजे तक सायंकाल यज्ञ करते और कराते रहे। महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ भट्टाचार्य यज्ञ की देख-रेख रखते थे। प्रसिद्ध राजा बलदेवदासजी बिरला ने बड़ी उदारता से सहायता की थी।

कल तक बीच के तीन दिनों को छोड़कर, जब महाराज गवर्नर से मिलने प्रयाग गये थे, बाक़ी प्रतिदिन के यज्ञ में वे संध्या समय जाते थे और काफ़ी देर तक बैठते थे।

ज्यादा देर तक बैठकर यज्ञ से लौटकर आते तो जाँघें और पीठ जकड़ी हुई मिलतीं, उनमें पीड़ा उठती और वे बड़ा कष्ट अनुभव करते। डाक्टर और वैद्य रोज़ रोकते कि यज्ञ में जाकर देर तक न बैठें, पर यज्ञ-मण्डप में बैठकर सस्वर वेद-पाठ सुनने और सुगन्धित यज्ञ-धूम से तन और मन को स्नान कराने में उनको जो सुख मिलता था, उसको जाँघों की पीड़ा और डाक्टर की शिकायत सुनने के भय से वे छोड़ नहीं सकते थे। दोपहर तक जाँघ, घुटनों और पीठ में दवा की मालिश कराते और संध्या

को यज्ञशाला में फिर जा बैठते।

आज महाराज ठीक तीन बजे यज्ञ-शाला में पहुँचे। वहाँ दो या ढाई घण्टे बैठे रहे और पूर्णाहुति के साथ वेद-मंत्रों के सुनने में ऐसे तन्मय हो गये थे कि उन्हें अपनी शारीरिक निर्बलता का ध्यान ही नहीं था। यज्ञ के अन्त में महाराज ने भाषण किया। उनकी आवाज़ बहुत क्षीण थी; जनता निस्तब्ध होकर भाषण के कुछ शब्दों ही को चुन पाती थी। पूरा वाक्य निकट के कुछ उपस्थित जनों के सिवा और लोग नहीं सुन पाते थे। तब महाराज के चतुर्थ पुत्र श्री गोविन्दजी ने उनके भाषण को उच्च स्वर में दुहराकर सुनाया।

महाराज ने अन्त में यज्ञ-देवता से ये प्रार्थनायें कीं—

(१) संसार में शान्ति और न्याय और धर्म का राज्य स्थापित हो;

(२) भारत को स्वराज्य प्राप्त हो; और

(३) हिन्दुओं को हिन्दुस्तान में उचित गौरव और मान के साथ रहने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हुआ। महाराज को इसकी बड़ी ही प्रसन्नता थी। यज्ञ की समाप्ति पर १००० से ऊपर ब्राह्मणों को भोजन कराया गया और यज्ञ-कर्त्ताओं को दक्षिणा दी गयी।

रात की बैठक में मैंने पूछा—क्या आप कभी किसी पत्र के सम्पादक भी रहे ?

इसके उत्तर में महाराज ने अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारंभिक दिनों की कुछ बातें बतायीं, जो यहाँ दी जा रही हैं:—

प्रयाग में कुम्भ का मेला था। उस अवसर पर उन दिनों

जो सरकारी प्रबन्ध होता था, उससे हिन्दुओं को बड़ा कष्ट था। दूकानदारों का ठेका होता था। कोतवाल मुसलमान था। उसने बड़ी ज्यादतियाँ कीं। पैसा भी खींचा गया, तकलीफें भी हुईं।

पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य के बड़े भाई पण्डित बेनीमाधव सिद्धान्त के बड़े पक्के, न्याय और धर्म के बड़े प्रेमी और निडर पुरुष थे। उन्होंने माघ के मेले के प्रबन्ध पर टीका-टिप्पणी शुरू की। पण्डित आदित्यरामजी ने 'पायोनियर' में तीन-चार नोट लिखे और सब अत्याचारों को स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया। उसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा और अगले साल से प्रबन्ध बदल दिया गया और हिन्दू-मेले में हिन्दू ही मैनेजर नियुक्त हुआ।

इस बीच में पण्डित बेनीमाधव हिन्दुओं के हाथ में मेले का प्रबन्ध लाने का आन्दोलन करते ही रहे। यह बात कुछ मुसलमान अधिकारियों को बुरी लगी। उन्होंने सन् १८८५ में पण्डित बेनीमाधव पर यह झूठा मुक़दमा चलाया कि उन्होंने अपने साईस को बाँध रक्खा और मारा।

उस मुक़दमे में उनके समय और धन का बहुत अपव्यय हुआ। उनके विरुद्ध झूठे गवाह ऐसे सिखाकर खड़े किये गये, जिनको झूठा साबित करना मुश्किल था।

मुक़दमा सेशन-सुपुर्द हुआ, और पण्डितजी को हवालात में डाल दिया गया। वहाँ से वे ज़मानत पर छूटे। प्रयाग का वातावरण मुसलमान अधिकारियों के कारण ऐसा ख़राब हो गया था कि प्रयाग में इन्साफ़ की आशा नहीं की गयी और हाईकोर्ट में दरख्वास्त देकर मुक़दमा मिर्ज़ापुर के सेशन जज के यहाँ

भेजवाया गया। वहाँ से पंडितजी निर्दोष साबित हुए।

इस मुक़दमे में पण्डित बेनीमाधव के ५०००) ख़र्च हुए। और जो मानसिक वेदना हुई, उसकी कथा अलग रही। देश और समाज की शुद्ध सेवा करने का ऐसा विषम परिणाम देखकर मालवीयजी का हृदय क्षुब्ध हो गया।

इसी बीच में पण्डित देवकीनन्दन तिवारी, एक सरयूपारी ब्राह्मण, बंगाल में बहुत दिनों तक रहने के बाद प्रयाग आये। वे बंगला भाषा अच्छी जानते थे, और नाटक आदि से भी उनका परिचय था। उन्होंने 'प्रयाग समाचार' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला, जो 'प्रयाग-हिन्दू-समाज' के मुख-पत्र का काम देने लगा।

जनता में विचारों के प्रचार के लिए पण्डित आदित्यराम ने 'इण्डियन यूनियन' नाम से अंग्रेजी में एक साप्ताहिक पत्र निकाला। पण्डितजी को उसमें बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। कुल लेख प्रायः उन्हीं को लिखने पड़ते थे। इससे उनके स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा असर पड़ा। उन्होंने पत्र का सम्पादन छोड़ दिया, तब सम्पादन का काम मालवीयजी ने ले लिया और सन १८८५ से १८८९ या ९० तक उन्होंने उसका सम्पादन किया।

१८९० में मालवीयजी ने भी उसका सम्पादन छोड़ दिया। तब पण्डित अयोध्यानाथ ने उसका प्रबन्ध अपने हाथ में लिया। १८९२ में उनकी मृत्यु हो गयी, तब 'इंडियन यूनियन' लखनऊ के 'एडवोकेट' पत्र में, जिसका संचालन बाबू गंगाप्रसाद वर्मा करते थे, मिला दिया गया।

थोड़े दिनों के बाद प्रयाग से श्री सी० वाई० चिन्तामणि ने 'इण्डियन पीपुल' नाम का पत्र निकाला। उसमें भी मालवीयजी ने सहायता की थी।

मैंने पूछा—कालाकाँकर से निकलनेवाले 'हिन्दुस्थान' के सम्पादक आप कैसे हुए ?

महाराज ने कहा—कालाकाँकर के राजा रामपालसिंह से मेरी मुलाकात 'मध्य हिन्दू-समाज' के उत्सव में सन् १८८४ में हुई थी। सन् १८८६ में, कलकत्ते में काँग्रेस के दूसरे अधिवेशन में, मेरा भाषण सुनकर राजा साहब इतने प्रसन्न हुए कि प्रयाग आकर स्वयं बुलाकर मुझसे मिले और मुझे १०) भेंट दिये थे। उन दिनों मैं अध्यापक था।

इसके छः महीने बाद 'हिन्दुस्थान' के सहायक सम्पादक की जगह खाली हुई, तब राजा साहब ने मालवीयजी को बुलाया और उसका सम्पादन स्वीकार करने को कहा। डेढ़ सौ रुपये मासिक वेतन पर उन्होंने उनको बुलाया था, और पन्द्रह दिन बाद ही दो सौ रुपये मासिक कर दिया था।

राजा साहब विलायत हो आये थे, एक मेम भी लाये थे, शराब पीते थे, और सबके साथ सब कुछ खाते-पीते भी थे; किन्तु साथ ही बड़े निडर और निःस्वार्थ देश-भक्त, गुण-ग्राही और अच्छे जोशीले वक्ता भी थे। इधर मालवीयजी पूजा-पाठ और आचार-विचार के पक्के ब्राह्मण थे। दोनों का एकत्र होना एक अद्‌भुत घटना थी।

अन्त में मालवीयजी ने इस शर्त पर 'हिंदुस्थान' का सम्पादन

स्वीकार कर लिया कि जब राजा साहब खाते-पीते हों, तब किसी काम के लिए उन्हें न बुलायें।

राजा साहब ने शर्त स्वीकार कर ली। मालवीयजी ने १८८७ के जुलाई महीने में हाई स्कूल की नौकरी छोड़ दी और वे कालाकाँकर में रहकर 'हिन्दुस्थान' का सम्पादन करने लगे। कालाकांकर से हर हफ्ते वे नाव पर प्रयाग लौट आया करते थे।

मालवीयजी महाराज के सम्पादकत्व में 'हिन्दुस्थान' चल निकला। उसकी बड़ी क़दर हुई और उसके विचारों का खूब प्रचार होने लगा।

महाराज ढाई बरस तक 'हिन्दुस्थान' का सम्पादन करते रहे। एक दिन राजा साहब ने उनको किसी जरूरी बात के लिए बुला भेजा। उस वक्त राजा साहब नशे में थे। बातचीत कर चुकने के बाद मालवीयजी ने राजा साहब से कहा—आज से मेरा अन्न-जल आपके यहाँ से उठ गया। आपने मुझसे जो शर्त की थी, उसे तोड़ दिया। मैं आज रात में या कल सुबह चला जाऊँगा। आपकी उदारता और स्नेह को सदा याद रखूँगा।

राजा साहब ने मालवीयजी को बहुत-कुछ समझाया; पर वे किसी तरह रहने पर राजी नहीं हुए। अन्त में राजा साहब ने कहा—अच्छा जाइए, लेकिन वकालत पढ़ना न छोड़िएगा। वकालत की पढ़ाई का सारा खर्च मैं देता रहूँगा।

१८८९ में मालवीयजी ने 'हिन्दुस्थान' का सम्पादन छोड़ दिया।

वकालत पढ़ने के लिए मालवीयजी को राजा साहब सौ

रुपया मासिक बहुत वर्षों तक देते रहे। मालवीयजी वकील होकर अच्छा कमाने भी लगे, तब भी वे बराबर रुपये भेजते रहे।

मैंने पूछा—'अभ्युदय' और 'लीडर' से आपका कैसा और कब से सम्बन्ध रहा ? इसपर महाराज ने जो कुछ बताया, उसका सारांश यह है :—

अभ्युदय

१९०६ में कलकत्ते में कांग्रेस की बैठक हुई। कांग्रेस के गरमदलवालों की राय थी कि विद्यार्थियों को भी राजनीतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना चाहिए। पर नरमदलवालों की राय यह थी कि विद्यार्थी राजनीति का अध्ययन तो करें, पर आन्दोलन में भाग न लें। मालवीयजी ने नरमदल के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए एक साप्ताहिक पत्र निकाला।

'अभ्युदय' निकालने का मुख्य उद्देश्य तो नरमदल के राजनीतिक सिद्धातों का प्रचार करना था और गौण बात यह थी कि उससे कुछ आय होगी, और वे आर्थिक चिंता से मुक्त रहकर देश की सेवा में पूरा समय दे सकेंगे। पर आय तो कुछ हुई नहीं, उलटे उन्हीं को उसका खर्च पाटना पड़ता था।

१९०७ में वसंत-पंचमी के दिन से 'अभ्युदय' साप्ताहिक रूप में प्रयाग से निकलने लगा। पहले दो वर्षों तक मालवीयजी ने स्वयं उसका सम्पादन किया। जब वे प्रान्तीय कौंसिल के सदस्य हो गये, तब कुछ दिनों तक बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने उसका संपादन किया। फिर पण्डित सत्यानन्द जोशी संपादक रहे। १९१० से स्व० पं० कृष्णकांत मालवीय ने उसका संपादन-

भार लिया। बीच में स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी और पण्डित वेंकटेशनारायण तिवारी ने भी उसका संपादन किया था।

लीडर

प्रयाग का अँग्रेज़ी दैनिकपत्र 'लीडर' १९०९ में विजया दशमी के दिन से निकलने लगा। १९२७ में जब लीडर प्रेस में नई मशीनें विदेश से मँगाकर लगायी गयीं, उस अवसर के समारोह में मालवीयजी ने 'लीडर' की उत्पत्ति का वर्णन स्वयं इस प्रकार किया था——

"'लीडर' के स्थापित होने के पूर्व एक दैनिक समाचार-पत्र की इलाहाबाद में बड़ी आवश्यकता जान पड़ती थी। सन् १८७९ ई० में स्वर्गीय पण्डित अयोध्यानाथजी ने 'इंडियन हेराल्ड' निकाला था और उसपर बहुत धन व्यय किया था। वह पत्र तीन वर्ष तक चला और अभाग्य-वश बन्द हो गया। 'लीडर' के स्थापित होने का एक कारण यह भी था। मैंने वकालत छोड़ने का निश्चय कर लिया था और उस समय मेरा यह विचार था कि सार्वजनिक कार्यों से भी अलग हो जाऊँ, जिससे हिन्दू-विश्व-विद्यालय का कार्य ठीक तरह से कर सकूँ। उस समय मेरे मन में आया कि यदि बिना एक पत्र स्थापित किये मैं सार्वजनिक जीवन से अलग होता हूँ, तो मैं अपने प्रांत के प्रति अपने धर्म को नहीं निबाहता हूँ। मुझे उसकी आवश्यकता इतनी अधिक और अनिवार्य जान पड़ी कि मैंने विचार किया कि सार्वजनिक जीवन से अलग होने के पहले एक पत्र अवश्य यहाँ स्थापित हो जाना चाहिए। मैंने इसका कुछ मित्रों से ज़िक्र किया और उन्होंने

प्रसन्नता से उसके लिए धन दे दिया। प्रारम्भ में इसके लिए चौंतीस हज़ार रुपया जुटा। इतना रुपया एक दैनिक पत्र चलाने के लिए बहुत कम था; लेकिन मुझे अपने मित्रों पर विश्वास था, जिन्होंने सहायता करने को कह दिया था, और वह आशा सफल भी हुई। 'लीडर' ने निःस्वार्थ-भाव से देश की और प्रांत की बड़ी लगन से सेवा की है। नीति और विचारों में सदा मतभेद रहा है और रहेगा, लेकिन उसके कारण कोई उसकी सेवा में सन्देह नहीं ला सकता। शायद ही ऐसा कोई पत्र हो, जो अपने मित्रों के विचारों को सारे प्रश्नों पर प्रकट कर सके। श्री चिन्तामणि और पंडित कृष्णाराम मेहता दोनों 'लीडर' की जान हैं और दोनों ने बाँटकर उसे चलाने का सौभाग्य प्राप्त किया है। 'लीडर' के बढ़ते हुए प्रभाव को और उसकी सेवाओं को सारे प्रांत ने स्वीकार किया है। आपको याद होगा जब असहयोग आन्दोलन प्रारंभ हुआ, तब मेरे मित्र पंडित मोतीलाल नेहरू ने 'इंडिपेंडेंट' पत्र चलाया, जिसमें वे अपने विचारों को और 'लीडर' से मतभेद रखनेवाले विचारों को फैला सकें। उसपर दो लाख पचास हज़ार रुपया ख़र्च किया गया। जिसमें एक लाख स्वयं पंडित मोतीलाल-जी ने और पचास हजार श्री जयकर ने दिया था।"

महाराज-जैसे प्रिय वक्ता के मुख से, लीडर-बिल्डिंग में एक समारोह के अवसर पर ऐसा भाषण समयोचित ही था; पर 'लीडर' ने इस सूबे की राजनीतिक प्रगति पर जो प्रभाव डाला है, उसके सम्बन्ध में जनता के विचार महाराज से भिन्न भी हैं।

आठवाँ दिन

१८ अगस्त

कल यज्ञ की पूर्णाहुति थी। महाराज को दो-तीन घंटे यज्ञ-मंडप में बैठना पड़ा था, इससे आज सबेरे शरीर में थकावट बहुत थी और पीठ और जाँघों में दर्द भी था। पर महाराज ठीक समय पर प्रातः-कृत्यों से निवृत्त होकर गीता-प्रवचन में जाने को तैयार हुए, तब पंडित राधाकान्त ने कहा—आज मत जाइए। छुट्टी का दिन है। चार ही लड़के तो आये होंगे।

इसपर महाराज ने ज़रा तीव्र स्वर से कहा—तो पाँचवाँ मैं हो जाऊँगा।

यह कहकर चल खड़े हुए और मोटर में बैठकर ठीक समय पर गीता-प्रवचन में सम्मिलित हुए।

वहाँ से महाराज नयी बनती हुई इमारतों को फिर देखने गये। रास्ते में कहने लगे—रामनरेशजी, विश्वविद्यालय पर एक छोटा-सा काव्य लिख दीजिये।

विश्वविद्यालय पर महाराज की कितनी ममता है। उस समय मुझे महाराज दशरथ की वह दशा याद आयी, जो जनकपुर से आये हुए दूतों से राम और लक्ष्मण का यश बार-बार सुनने के लिए उत्पन्न हुई थी। मैंने उस कथा के साथ महाराज को उस प्रसंग की कुछ चौपाइयाँ, जो मुझे याद थीं, सुनायीं—

भैया कहहु कुसल दोउ बारे। तुम्ह नीके निज नयन निहारे॥

× × ×

पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेम बिबस पुनि-पुनि कह राऊ ।।

× × ×

कहहु विदेह कवन विधि जाने। सुनि प्रिय वचन दूत मुसुकाने ।

× × ×

राजा सबु रनिवास बुलाई। जनक-पत्रिका बाँचि सुनाई ।।
राम लखन की कीरति करनी। बारहि बार भूप वर बरनी ।।

महाराज समझ गये कि हिन्दू-विश्वविद्यालय के लिए उनको जो मोह है, मैं उसे लक्ष्य करके कह रहा हूँ। कथा सुनकर और महाराज दशरथ की उत्सुकता का अनुमान करके वे बहुत प्रसन्न हुए।

रात की बैठक में महाराज ने विश्व-विद्यालय के प्रारम्भिक दिनों की कुछ बातें बतायीं। बातें प्रायः वही थीं, जिन्हें बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने अपने एक लिखित वक्तव्य में दी हैं। मैं उसे गुप्तजी ही के शब्दों में दे रहा हूँ—

"सन् १९१० ई० के दिसम्बर मास में प्रयाग में बडी भीड़-भाड़ हो रही थी। एक ओर श्री विलियम वेडरवर्न की अध्यक्षता में कांग्रेस की बैठक हो रही थी और दूसरी ओर उसी के साथ सरकारी सहयोग में बृहत् स्वदेशी प्रदर्शिनी[1] हो रही थी। प्रान्तीय सरकार का लक्ष्य था कि सन् १९०४ की बम्बई की और सन् १९०६ की कलकत्ते की प्रदर्शिनियों को नीचा दिखाया जावे। पर वास्तव में कुछ लक्ष्य दूसरा ही था। एक

---

१. मालवीयजी ही ने इस प्रदर्शिनी के करने की प्रेरणा गवर्नर को की थी। रा० न० त्रि०

मास के लगभग प्रयाग में रहकर भी मैंने उस समय के विचार के अनुसार उस प्रदर्शिनी को नहीं देखा। इस कारण इसपर कुछ लिखना अनधिकार चेष्टा होगी।

"इसी वर्ष मैं पढ़ना छोड़कर बी० ए० में होता हुआ भी परीक्षा में नहीं बैठा। घर में मेरे सुपुर्द कोई काम नहीं था। समय, उत्साह और स्वास्थ्य की कमी न थी। पूज्यवर मालवीयजी महाराज से घनिष्टता हो गयी थी। मैंने उन्हें 'बाबू' पुकारना आरम्भ कर दिया था। और उन्होंने भी पिता के सदृश प्रेम और शिक्षा आरम्भ कर दी थी। किन्तु इतना होते हुए भी बाबू के उदार राजनैतिक विचार से हम बालक सहमत न थे और उनसे इस सम्बन्ध में प्रायः वाद-विवाद हो जाया करता था। वे बड़े प्रेम से समझाने का यत्न करते थे। पर मेरी उस समय 'गदह-पचीसी' थी, बात क्यों समझ में आती? अस्तु—यह वह समय था जब हिन्दू-कालेज के ट्रस्टियों में कृष्णमूर्ति की बात लेकर आपस में वैमनस्य की नींव पड़ चुकी थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा सन् १९०४-५ में उठकर एक प्रकार शान्त हो चुकी थी और सन् १९०६ में मुस्लिम यूनिवर्सिटी की चर्चा का प्रारम्भ होकर विचार स्वरूप पा चुका था। 'गुरु गुड़ ही रहे और चेला शक्कर हो गये' की कहावत इस सम्बन्ध में चरितार्थ हो चुकी थी। इसी समय हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा फिर उठ खड़ी हुई।

"सिद्धान्तों को लेकर प्रस्ताव फिर उपस्थित हुआ। श्रीमती एनी बेसेन्ट देवी चाहती थीं कि बादशाह का चार्टर लेकर एक

सार्वभौम भारतीय विश्वविद्यालय काशी में खोला जावे, जिसके अन्तर्गत देश के सब प्रान्तों के कालेज रह सकें और सब जगह यहाँ की परीक्षा का केन्द्र बन सके। इसपर विचार का अन्त भी एक प्रकार से हो चुका था, और उन्हें इस प्रयत्न में सफलता की आशा मिट चुकी थी। इसी अवसर पर मालवीयजी महाराज ने हि० वि० वि० का नया विचार नये रूप में फिर उपस्थित किया। प्रयाग में स्यात् इसकी प्रथम बैठक हुई। स्वनामधन्य परलोकवासी श्री पं० सुन्दरलालजी से इस नयी संघटित संस्था के मन्त्रित्व के लिए विनती की गयी। उनके पैरों पर सच्चे ब्राह्मण मालवीयजी की पगड़ी तक डाली गयी, पर उन्होंने हर प्रकार की सहायता का वचन देते हुए भी जबतक सरकार का रुख स्पष्ट रूप से न ज्ञात हो जावे, तबतक खुलकर स्पष्ट रूप में मन्त्रित्व-ग्रहण से इन्कार ही कर दिया। कुछ उपाय न देख पूज्य बाबूजी ने अपने पैरों पर खड़ा होना ही विचारा, और कलकत्ते के लिए प्रस्थान कर दिया। मैं भी उठल्लू के चूल्हे की तरह बेकार होने के कारण उनके साथ हो लिया। कलकत्ता पहुँचकर बाबू तो हरीसन रोड पर श्री पं० सुन्दरलाल सारस्वत के गृह पर उतरे और मैं अपनी कोठी (श्रीशीतलप्रसाद खड्गप्रसाद) में जा उतरा।

''पूज्य मालवीयजी ने प्रचार आरम्भ कर दिया। परलोकवासी, मेरे अत्यन्त प्रियवर वयस में छोटे चाचा श्री मङ्गलाप्रसाद एम० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, वा स्यात् परीक्षा दे चुके थे। उनके तथा श्री गोकुलचन्द के, जो उनसे और मुझसे भी

थोड़े बड़े थे, प्रयत्न और उत्साह से मेरी कोठी ने इस कार्य में सहायता देना स्वीकार कर लिया।

"कलकत्ता नगर के बड़े-बड़े महाजनों और साहुकारों और जनता ने भी दिल खोलकर इस कार्य में धन और मन से सहयोग दिया। स्वनामधन्य वर्तमान बीकानेर-नरेश ने भी इस सम्बन्ध में बड़ी सहायता का वचन दिया। और गाड़ी चल निकली। इसी अवसर पर सर हार्टकोर्ट बटलर, जो उस समय बड़े लाट के शिक्षा-मंत्री थे, मालवीयजी महाराज से मिले और उनसे बहुत-सी बातें कीं। आपने पहले ही कह दिया कि प्रस्तावित संस्था में मातृभाषा द्वारा पढ़ाने की व्यवस्था रही तो उसमें सरकार की सहायता और सहानुभूति की आशा रखना व्यर्थ है। उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया कि जिस समय तक आप अंग्रेजी भाषा में लिखते-बोलते, पढ़ते-पढ़ाते हैं, तबतक हमें शान्ति रहती है; क्योंकि उस समय तक हम आपकी सब बातों और चालों को भली-भाँति समझ सकते हैं और उसे सँभाल सकते हैं, प्र जिस समय आप अपनी भाषा में कार्य करना आरम्भ कर देते हैं, तब उसका समझना हमारे लिए कठिन हो जाता है। इस कारण मातृभाषा में उक्त शिक्षा देने की सरकार से किसी अवस्था में अनुमति नहीं मिल सकती। न जाने क्या विचार करके कुछ मित्रों के विरोध रहते हुए भी बाबू ने बटलर का इरादा समझकर इस बात को स्वीकार कर लिया और मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने का विचार एक प्रकार से छोड़ दिया या यह कहिए कि कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया।

"इसी समय श्रीमती एनी बेसेंट देवी के भी तीन व्याख्यान विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में कलकत्ते में हुए। इसके उपरान्त एक सार्वजनिक सभा में विश्वविद्यालय की घोषणा की गयी। कलकत्ते में जो आर्थिक सहायता का वचन मिला था, वह प्रकट किया गया और प्रायः ५ लक्ष का वचन मिला और धन भी कुछ मिला। हमारी गाड़ी आगे खसकी। गौरीपुर के ज़मींदार श्री ब्रजेन्द्रकिशोरराय चौधरी के मैनेजर श्री मनमोहन घोष बाबू, तथा श्री राधाकुमुद मुकुर्जी और विनयकुमार सरकार की, जो नेशनल काउंसिल आफ् एडुकेशन के सदस्य थे और अन्तिम दो सज्जन यहाँ के अध्यापक भी थे, सहायता से विश्वविद्यालय के विचार का प्रचार बंगाली सज्जनों में खूब हुआ और कुछ मिला भी। परलोकवासी श्री दरभंगा-महाराजाधिराज से भी इस संबंध की चर्चा और सहायता की आशा हुई। बाबू के लँगोटिया यार और प्रान्त के वयोवृद्ध नेता और कार्यकर्त्ता परलोकवासी श्री बाबू गंगाप्रसादजी वर्मा भी बाबू के साथ हो लिये और कलकत्ता आ गये। श्री ईश्वरशरणजी ने भी साथ दिया। परलोकवासी श्री पंडित गोकर्णनाथ मिश्रजी ने भी पूरा सहयोग का हाथ बटाया और गाड़ी चल खड़ी हुई। प्रिय मंगलाप्रसाद और मैंने बाबू के सफ़र का प्रबन्ध, धन के खजानची का काम और इसी प्रकार के फुटकर कार्यों का कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया।

इसने समय के बाद ठीक क्रम में चूक हो सकती है; पर जहाँ तक स्मरण है, विश्वविद्यालय का दौरा बंगाल में मालदह और फरीदपुर में हुआ। बिहार में पटना, मुजफ्फरपुर, भागलपुर

और दरभंगा में हुआ। युक्तप्रांत में जौनपुर, काशी, प्रयाग, कानपुर, इटावा में; पंजाब में अमृतसर और लाहौर में। इतने ही में प्रायः २० लाख रुपये की सहायता का वचन मिल चुका था। एक प्रकार से सारे भारत में विश्वविद्यालय के आगमन की दुंदुभी बज चुकी थी। कार्यकर्त्तागण फूले नहीं समाते थे।

भिन्न-भिन्न नगरों की सभाओं में दानियों की प्रतिस्पर्द्धा देखने योग्य होती थी। मुजफ्फरपुर में एक भिक्षा माँगनेवाली भंगिन ने अपने दिनभर की कमाई एक पैसा या एक अधेला जो उसे मिला था, इस यज्ञ-वेदी पर समर्पण कर दिया, और दर्शकों को 'शुल्क सत्र' की याद दिलाकर चली गयी। इसी प्रकार एक व्यक्ति ने एक फटी कमीज़ जो उसके बदन पर थी, उतारकर प्रदान कर दी थी।

इन चीज़ों को नीलाम करने पर सैकड़ों रुपये मिले थे। ये वस्तुएँ भी विश्व-विद्यालय को प्रदान कर दी गयी थीं कि ये उसके संग्रहालय में विवरण के साथ सुरक्षित रखी जावें।

वहीं मुजफ्फरपुर में एक बंगाली महोदय ने स्यात् ५ हज़ार रुपया दान किया था और पुनः उनके घर पर जाने पर उनकी पत्नी ने अपना बहुमूल्य स्वर्ण-कंकण बाबू को भेंट दिया, जिसे उनके पति ने उसका दूने से अधिक मूल्य देकर ले लिया और पत्नी को फिर वापस दे दिया।

यहीं मुजफ्फरपुर की एक और घटना भी उल्लेखनीय है। रात्रि हो चली थी। सभा में धन इकट्ठा हो चुका था। एक ओर उसकी गिनती हो रही थी, दूसरी ओर छोटी-छोटी चीज़ें नीलाम हो रही थीं। रोशनी ज़रा कम थी कि एक उचक्का दो

५

थैलियाँ हज़ार-हज़ार की उठाकर चल दिया। पीछे दौड़ हुई, पर वह यह जा-वह जा, नाले और झाड़ियों में होकर गायब ही हो गया।

सभी जगह कुछ न कुछ ऐसी घटनायें हुई हैं कि जिनका उल्लेख पाठकों के लिए शिक्षाप्रद और कौतूहलवर्द्धक हो सकता है, पर उस ओर न जा मैं दूसरी ओर झुकता हूँ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि विश्वविद्यालय की दुंदुभी बजाते हुए बाबू और उनके साथी कलकत्ता से लाहौर पहुँच गये थे। २०, २५ लाख का वचन मिल चुका था। हिन्दू-विश्व-विद्यालय का आन्दोलन ब्रह्मपुत्र की बाढ़ के सदृश समुद्र की ओर वेग से बह रहा था। उसके आगे का पथ रोकना असम्भव हो चुका था।

जब शिमला-शिखर से बाबू के लिए बुलावा आया, बाबू और उनके साथ मैं भी शिमला पहुँचा। परलोक-वासी राजा हरनामसिंहजी की कोठी में हम लोग ठहराये गये। बाबू उस समय के वाइसराय लार्ड हार्डिंज से मिलने गये और वहाँ से बड़े प्रसन्न आये और मुझे बुलाकर कहा कि वाइसराय ने विश्वविद्यालय को अपनाने का वचन दे दिया है। मेरे काटो तो बदन में खून नहीं। मैं तो सन्न रह गया और मुहँ से हठात् निकल पड़ा कि यह तो विश्वविद्यालय की मृत्यु-घोषणा है। अस्तु; हम लोग ऊपर से उतरकर फिर वापस आये। लाहौर की बड़ी सभा में स्वनामधन्य परलोकवासी लाला लाजपतराय ने कहा :—Charter or no charter, Hindu University must exist. जिसके उत्तर में बाबू ने कहा :—

Charter and charter and Hindu University must exist.

इन वाक्यों से दोनों महान् व्यक्तियों की मनोवृत्ति का भलीभाँति पता चल सकता है।

अस्तु; अब क्या था? अब तो चारोंओर से लोगों की सहानुभूति आने लगी। राजा-महाराजा, उपाधिधारी और देश में अपने को सर्वस्व समझनेवाले लोग इधर झुक पड़े और जहाँ ग़रीब व साधारण लोगों की जेबों में से गाढ़ी कमाई का पैसा एक-एक दो-दो की संख्या में भी आता था, वहाँ अब बड़े-बड़े लोगों का बड़ा-बड़ा दान लाखों की संख्या में आने लगा। विश्वविद्यालय जनता और ग़रीबों की न रहकर सरकारी छत्र-छाया के नीचे मुट्ठीभर राजा-महाराजाओं व बड़े आदमियों की संस्था रह गयी।

लाहौर से डेपुटेशन आगे बढ़ा। मेरठ में बड़े समारोह से सभा हुई। १२ घंटे का लम्बा जलूस निकला। परलोकवासी महाराजा दरभंगा ने आकर शिरकत की और सभापति बनना स्वीकार किया और ५ लाख का दान भी दिया। इसी के पहले पूज्य पं० सुन्दरलालजी ने भी हार्रकोर्ट बटलर के कहने पर मंत्रित्व स्वीकार कर लिया था। अब बहाव का रुख दूसरी ओर चला था और आगे क्या हुआ, वह सभी जानते हैं।"

आरभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।

नवाँ दिन

१९ अगस्त

आजकल डा० बालकृष्ण पाठक की देख-रेख में विश्वविद्यालय के एक विश्रुत विद्वान् आयुर्वेदाचार्य पण्डित सत्यनारायण शास्त्री का इलाज चल रहा है। डाक्टर पाठक एक गुजराती सज्जन हैं। अहमदाबाद से अपनी अच्छी आमदनीवाली प्रैक्टिस छोड़कर केवल सेवा-भाव से हिन्दू-विश्वविद्यालय में आये हैं। यहाँ आयुर्वेद-कालेज के प्रिंसिपल हैं। वैद्यक और डाक्टरी दोनों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। अच्छे वक्ता, सरल और सरस हृदय के व्यक्ति हैं। महाराज पर उनकी श्रद्धा भी बहुत है। विश्वविद्यालय के प्रमुख कर्मचारियों में डाक्टर पाठक ही सबसे पहले व्यक्ति हैं, जिनसे मेरा घनिष्ठ परिचय हुआ।

डाक्टर पाठक प्रायः प्रत्येक दिन सन्ध्या समय महाराज को देखने आते हैं। कभी-कभी साथ टहलने भी जाते हैं।

आज डाक्टर साहब शाम को ६ बजे के लगभग आये। उनके आने से महाराज बहुत प्रसन्न होते हैं; क्योंकि उनसे वे अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बातें पूछते हैं और उत्साह-वर्द्धक उत्तर पाकर प्रसन्न होते हैं।

उनके बैठते ही महाराज कहने लगे—पाठकजी ! मुझे जल्द नीरोग कीजिए, ताकि बाहर जाकर विश्वविद्यालय के लिए कुछ रुपया संग्रह कर लाऊँ। अभी बहुत-से काम अधूरे पड़े हैं

और कुछ अभी शुरू ही नहीं हुए।

डाक्टर पाठक ने महाराज को आश्वासन दिया कि ज़रा जाड़ा शुरू हो जाय तो स्वास्थ्य में सुधार शीघ्र होने लगेगा। नवम्बर-दिसम्बर तक महाराज बाहर जाने योग्य हो जायँगे।

मैं सोचने लगा—सच्ची लगन इसे कहते हैं। शरीर काम करते-करते घिसकर जर्जर हो गया है, पर मन का पराक्रम तो बढ़ता ही जाता है। शायद यह भय अब सामने आ गया है कि शरीर न जाने कबतक काम दे; जो करना हो, जल्द कर लो।

महाराज की आवाज़ अब बहुत धीमी पड़ गयी है। बोलते-बोलते कभी बहुत थक जाते हैं, तब शब्दों की ध्वनि बहुत मंद पड़ जाती है और उनके बहुत निकट कान लेजाने ही पर वे सुनायी पड़ते हैं।

किन्तु आँखों की ज्योति अभी बहुत कम क्षीण हुई है। उनमें अब भी वही तीक्ष्ण भेदक-शक्ति वर्तमान है; जो युवावस्था के उनके चित्रों में दिखायी पड़ती है।

अपनी आँखों के बारे में वे पाठकजी से शिकायत करने लगे—अब दूर की चीज़ें ज़रा कम दिखायी पड़ने लगी हैं; पर लिखने-पढ़ने के लिए चश्मे की ज़रूरत अब भी नहीं पड़ती।

शारीरिक निर्बलता के साथ-साथ महाराज में भावुकता का प्रभाव बढ़ चला है। अब करुणा उत्पन्न करनेवाली या किसी के आत्म-त्याग तथा हिन्दू-जाति के उत्थान या पतन की कोई भी बात वे सुनते हैं तो उनका हृदय उमड़ आता है और आँखें भर आती हैं।

आज रात में रेडियो की खबरें सुनने-सुनाने के बाद मैंने 'मिन्टो मेमोरियल' की चर्चा छेड़ी।

'मिन्टो मेमोरियल' की सूझ साधारण सूझ नहीं थी। सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणा करायी थी, उसकी याद भारत में शासन करनेवाले अंग्रेज़ों और भारतीयों में भी बनी रहे और शासन पर उसका प्रभाव भी पड़ता रहे, इसी उद्देश्य से मालवीयजी ने यह प्रयोग किया था। पर अंग्रेज़ शासक शीघ्र ही, मालवीयजी के समय तक, घोषणा की बातें भूल चुके थे। मालवीयजी ने अपने भाषणों और सरकारी अधिकारियों को लिखे हुए पत्रों में बार-बार उसकी दुहाई दी, पर किसी ने नहीं सुना। इससे वह स्मारक अन्त में व्यर्थ ही साबित हुआ।

फिर भी आज से तीस वर्ष पहले मालवीयजी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो सफल उद्योग किया, उसकी प्रशंसा तो करनी ही चाहिए।

घोषणा-स्तंभ (प्रोक्लेमेशन पिलर) की याद दिलाने पर मालवीयजी ने उसके सम्बन्ध की कुछ बातें बतायीं। वे ये हैं:—

जिस स्थान पर लार्ड केनिंग ने १ नवम्बर, १८५८ को दरबार करके महारानी विक्टोरिया की घोषणा पढ़कर सुनायी थी, उस स्थान पर उस घटना का कोई स्मारक नहीं था।

महाराज के ध्यान में यह बात आयी कि उक्त स्थान पर एक घोषणा-स्तंभ (प्रोक्लेमेशन पिलर) खड़ा करके उसपर घोषणा के वाक्य खुदवा दिये जायँ, ताकि उसकी यादगार बनी रहे और उसके चारोंओर एक पार्क बनाया जाय, जिसके साथ

लार्ड मिंटो का नाम लगा रहे।

सन् १९११ में लार्ड मिंटो का समय पूरा हो रहा था और वह भारत से जानेवाले थे। महाराज ने लार्ड मिंटो को शिला-रोपण के लिए निमन्त्रित कर दिया और उन्होंने स्वीकार भी कर लिया।

सर जॉन हिवेट उन दिनों युक्तप्रान्त के गवर्नर थे। उनको लार्ड मिंटो का प्रयाग आना और उससे महाराज का महत्त्व बढ़ाना प्रिय नहीं था। उन्होंने इस काम में सहायता तो दी ही नहीं, उल्टे बाधा डाली।

९ नवम्बर, १९१० को क़िले के पास, यमुना के तट पर, जहाँ अब मिंटो-पार्क है, एक बड़ा जलसा किथा गया, जिसमें बड़ी धूम-धाम से लार्ड मिंटो ने प्रवेश किया। महाराज को बड़ी चिन्ता थी कि कहीं कोई दुर्घटना न हो जाय; क्योंकि सर जान हिवेट के उदासीन होने के कारण सारी ज़िम्मेदारी उनपर आ पड़ी थी। पर भगवान् की कृपा से उत्सव निर्विघ्न समाप्त हो गया। 'आल इंडिया मिंटो मेमोरियल कमिटी' के संयुक्त मन्त्री पंडित मोतीलाल नेहरू थे। उन्हींने स्वागत-पत्र पढ़ा था।

उस दिन की एक मनोरञ्जक बात महाराज ने यह बतायी। कुँवर भारतसिंह ने महाराज से कहा—सर जॉन हिवेट कह रहे थे कि देखो न, मालवीय कैसा अकड़ता हुआ आगे-आगे जा रहा है और मैं चूहे की तरह पीछे-पीछे जा रहा हूँ।

पर यह बात ग़लत थी। महाराज तो शिलारोपण के समय सबसे पीछे खड़े थे और जब लार्ड मिंटो ने कार्य समाप्त करके

विदा लेनी चाही, तब वे खोजकर बुलाये गये थे।

मिंटो पार्क के निर्माण के लिए मालवीयजी ने एक लाख बत्तीस हज़ार आठ सौ सत्तानवे रुपये पत्र-द्वारा माँग-माँगकर एकत्र किये थे।

आज से तीस वर्ष पहले, सन् १९१० में, महाराज यहाँ तक लोकप्रिय हो चुके थे कि हिंदू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी, अंग्रेज़ सरकारी-गैरसरकारी, सब श्रेणी और भारत के प्रायः सभी प्रांतों के प्रमुख व्यक्तियों ने उनके पत्र का प्रभाव स्वीकार किया था।

परहित बस जिनके मन माहीं।
तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

दसवाँ दिन

२० अगस्त

आज सबेरे मिलनेवालों की भीड़ कम थी। प्रातःकाल नौ और दस बजे के बीच मैं महाराज के कमरे में गया, तब वे तेल की मालिश करा रहे थे। पिछले किसी दिन मुझे बताया गया था कि तेल की मालिश वे पचास-साठ वर्षों से प्रतिदिन नियम से कराते हैं। और जैसा वे स्वयं भी अनुभव करते हैं और कहते हैं कि उसीने उन्हें अबतक जीवन-संग्राम में खड़ा रक्खा है।

मैंने पिछले दस-बारह दिनों में महाराज के जीवन की बहुत-सी बातें उनके साथियों से सुनकर और छपी हुई पुस्तकों में पढ़कर जान ली हैं और उनका एक मानसिक चित्र-पट (फ़िल्म) भी तैयार कर लिया है।

मैं देखने लगा—महाराज का सारा जीवन एक योद्धा का जीवन रहा है। देश के विस्तृत भू-भाग पर वे हिन्दुओं की त्रुटियों से, हिंन्दुस्तानियों के पतन के कारणों से, सरकार से, राजनीति में भिन्न मत रखनेवालों से, कुतर्कों और मिथ्या संदेहों से और अपनी निर्धनता तथा अपनी निजी निर्बलताओं से निरन्तर घोर-संग्राम करते रहे हैं; और अब वे एक विजयी योद्धा की तरह सब विघ्नों और बाधाओं को परास्त करके अपने जीवन के मुख्य केन्द्र हिन्दू-विश्वविद्यालय पर आ बैठे हैं और उस मन्त्र की सिद्धि में लगे हैं, जो उनकी विजय को चिरस्थायी बना सके।

ज़रा उनके जीवन का चित्र-पट देखिए तो; कहीं वे हिन्दू-समाज में फैली हुई बुराइयों को निर्मूल करने में लगे दिखाई पड़ रहे हैं; कही बच्चों, युवकों, वृद्धों और स्त्रियों के लिए स्वास्थ्य, सदाचार, धन-वृद्धि और समाज-सुधार की असंख्य स्कीमें बनाते हुए मिलेंगे; कहीं युवकों को उनके पूर्वजों की वीर-गाथायें सुना-सुनाकर उन्हें देशपर बलिदान हो जाने को उत्साहित करते मिलेंगे; कहीं सनातन-धर्म के गूढ़ तत्त्वों का विश्लेषण कर हिंदुओं को कल्याण के पथपर ले जाते हुए मिलेंगे; कहीं ब्रह्मचर्य-पालन की महिमा का गान कर रहे हैं तो कहीं अखाड़े खुलवा रहे हैं। कहीं देश को स्वतन्त्र बनाने के लिए कौंसिल की बैठकों में तीन-तीन, चार-चार घंटे खड़े होकर सरकार से लड़ते हुए मिलेंगे तो कहीं पीड़ितों की सभा में धर्म की व्याख्या करते हुए। कभी गोरक्षा के लिए धनियों और सेठों को उत्साहित करते हुए मिलेंगे तो कभी कांग्रेस के मंचपर खड़े होकर निर्भीकता से भारतवर्ष के स्वराज्य का पक्ष समर्थन करते हुए मिलेंगे और कभी हिन्दू-विश्वविद्यालय के लिए झोली लटकाये हुए घर-घर चन्दा माँगते हुए मिलेंगे। ज्योतिषियों की सभा होगी तो उसमें भी वे मौजूद; वैद्यों की सभा होगी तो उसमें भी मौजूद। कहीं हिन्दी-साहित्य की उन्नति के लिए प्रयत्न-शील हैं, तो कहीं देव-नागरी लिपि के प्रचार के लिए लड़ रहे हैं। एक तरफ मन्दिर बनवा रहे हैं तो दूसरी ओर आर्यसमाज के प्लेटफार्म पर सभा-पति की हैसियत से विराजमान हैं। कहीं कवियों को उत्साहित करते हैं कि ऐसी कविता लिखो, जिससे युवकों में आत्म-बलिदान

की भावना जाग्रत हो, तो कहीं गाँव-गाँव में उपदेशक भेजने की व्यवस्था कर रहे हैं, जो वहाँ जाकर धर्म का प्रचार करें। उधर सरकार की प्रसन्नता का भी ध्यान है, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकारों का भी ख़याल है और इधर असहयोग आन्दोलन में जेल भी जा रहे हैं। देश के कल्याण का ऐसा कोई काम नहीं दिखायी पड़ता, जिसमें महाराज ने अपने को न ज़ोत दिया हो। शरीर का प्रत्येक कण और जीवन का प्रत्येक क्षण एक दानवीर की तरह उन्होंने हिन्दू-जाति और स्वदेश को दान किया है।

मैं पहले कह आया हूँ कि विद्यार्थियों को देखकर महाराज का हृदय उमड़ आता है, क्योंकि वे ही तो उनकी एकान्त साधना के फल हैं। उन्हींसे तो उनका स्वप्न सत्य होगा। वे ही भारत में अगली पीढ़ी बनायेंगे। इसीसे महाराज पुराने वृक्षों से इच्छित फल पाने की आशा छोड़कर नये पौधे लगाने में प्रवृत्त हुए हैं। या यों कहना चाहिए कि बुड्ढों को छोड़कर महाराज अब बच्चों की शरण में आ बैठे हैं और उनसे कह रहे हैं कि मेरी तपस्या को सफल बनाओ।

आज शाम को टहलने जाने के लिए बँगले से निकले। एक ग़रीब विद्यार्थी कोई सिफारिश लिखाना चाहता था। महाराज के स्वास्थ्य-रक्षकों ने उसे महाराज तक पहुँचने नहीं दिया था। विद्यार्थी हाथ में कागज़ लिये हुए मोटर से दूर खड़ा था। महाराज अब झुके हुए चलते हैं। उनकी आदत है कि चलते हुए दाहिने और बाँयें वे गर्दन घुमाकर देख लिया करते हैं और

प्रायः हरएक उपस्थित व्यक्ति को उसके वहाँ खड़े रहने का अभिप्राय पूछ लिया करते हैं—'क्या कुछ कहना है ?' और ऐसे मौक़ों पर प्रायः कुछ न कुछ कहनेवाले ही घेर भी लेते हैं। महाराज ने मोटर पर बैठने पर उस दूर खड़े विद्यार्थी को देखा। उसे पास बुलाया और सुना कि वह क्या चाहता है। महाराज ने कलम-दवात मँगाकर उसके इच्छानुसार सिफ़ारिश लिख दी; बल्कि एक शब्द अपनी इच्छा से भी बढ़ा दिया जो उसकी इच्छा-पूर्त्ति में बड़ा सहायक हुआ होगा। ग़रीब विद्यार्थी प्रिंसिपल के लिए वह काग़ज़ और अपने जीवन के लिए क्या महाराज की यह दीन-वत्सलता नहीं ले गया होगा ?

यह कोई नयी घटना नहीं है। यह तो रोज़ का धंधा है। विद्यार्थियों का कोई काम होता है तो महाराज अपने स्वास्थ्य की परवा नहीं करते। सबेरे से लेकर रात के सात-आठ बजे तक कोई भी विद्यार्थी अपनी ज़रूरत लेकर महाराज के पास पहुँच सकता है; और वे ज़रूरी-से-ज़रूरी काम छोड़कर पहले उसका काम कर देते हैं। अगर वह कोई सिफ़ारिश चाहता है तो अच्छी-से-अच्छी सिफारिश लिखवा देते हैं और ख़ासकर ग़रीबी से लड़ते हुए विद्याध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को देखकर तो वे मोह-मुग्ध हो जाते हैं। विद्यार्थी ही उनकी आशा के पौधे हैं न !

संध्या के भ्रमण में मैं प्रायः महाराज के साथ हो लेता हूँ। आज भी साथ था। रास्ते में मैंने उनसे कहा—आपके जो काम आँखों के आगे हैं, वे ही इतने अधिक हैं कि सबका विवरण

प्राप्त करना कठिन है। फिर आपके गुप्त दानों और गुप्त सहायताओं का पता कैसे चल सकता है ?

महाराज कहने लगे—सबका पुण्य बिरला को मिलेगा। बिरला ने बालक की तरह मेरी सेवा की है, जितना अपना पुत्र भी नहीं करता।

महाराज इतना ही कह सके। उनकी आँखों से आँसू निकल पड़े। महात्माओं की आँखों के मोती सच्ची सेवा ही से प्राप्त होते हैं। ये अनमोल उपहार बिरलों ही के भाग्य में हैं।

Mystery of life opens in this pearl
Furling beauty and purity in curls
Priz'd by sages, good drink for thee
Where mind does bathe a drop wide as sea.

(Ram Tirth)

ग्यारहवाँ दिन

२१ अगस्त

आज महाराज दिनभर काम में लगे रहे। शाम को ६ बजे के लगभग टहलने निकले। टहलकर आये तो ८ बजे के लगभग बाबू शिवप्रसाद गुप्त आये। आधे घण्टे के लगभग बात करके वे चले गये।

नौ बजे के लगभग मैं गया, तब महाराज भोजन से निवृत्त होकर बिछौने पर लेटे-लेटे विश्राम कर रहे थे।

मैंने पूछा—टाँग में जो पीड़ा रहती है, वह घट रही है या बढ़?

महाराज ने कहा—बढ़ रही है।

"दवा की मालिश से क्या लाभ नहीं हो रहा है?"

"अभी तक चल-फिर लेता हूँ, यही लाभ है।"

यह कहकर महाराज ने रहीम का एक बरवै सुनाया—

जब लग लगै न पूरी, बढ़ै न पीर।
तब लग तुहूँ कजाकी, करिले गीर॥

गीर का अर्थ महाराज ने निन्दा बताया। पर मुझे तो कुछ पाठान्तर मालूम होता है। खैर;

इसके बाद कुछ देर तक रहीम खानखाना की कविता की चर्चा होती रही। मैंने रहीम के जीवन की कुछ घटनायें बतायीं, खासकर चित्रकूट में रहीम के रहने की घटना; जिसका यह दोहा

सुनकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध-नरेस।
जापर विपदा परति है, सो आवत यहि देस॥

फिर महाराज ने अपने रचे हुए ये तीन दोहे सुनाये:—

[१]

एक अनन्त त्रिकाल सच, चेतन शक्ति दिखात।
सिरजत, पालत, हरत जग, महिमा बरनि न जात॥

[२]

मन पिरात धीरज छुटत, समुझि चूक अरु पाप।
सब प्रानिन के प्रान प्रभु, छमहु मिटै संताप॥

[३]

करना था सो नहिं किया, अधरम किये अनेक।
दीनबंधु करुनायतन, सरन तुम्हारी एक॥

दूसरे दोहे में 'पिरात' (पीड़ा करता है) शब्द बड़ा मार्मिक है। उसका भाव हिन्दी के दूसरे किसी पर्यायवाची शब्द से व्यक्त नहीं हो सकता।

लगभग एक वर्ष पहले मैं महाराज को कलकत्ते में मिला था, उस समय भी महाराज ने यह दोहा मुझे सुनाया था और 'चूक' शब्द की आड़ में जो एक करुणापूर्ण घटना छिपी है, उसे भी बताया था। घटना यह है:—

मिंटो पार्क (प्रयाग) में घोषणा-स्तंभ (विक्टोरिया प्रोक्लेमेशन) की नींव रखने का कार्य प्रारम्भ ही होनेवाला था कि महाराज के घर से ख़बर आयी कि माताजी मरणासन्न हैं और वे पुत्र को देखना चाहती हैं। माता का प्रेम एक तरफ़, साम-

यिक कर्त्तव्य एक तरफ। महाराज ने कर्त्तव्य ही को प्रधानता दी और माता को देखने वे नहीं गये। थोड़ी देर बाद फिर समाचार आया। फिर नहीं गये। तीसरी बार जब लार्ड मिंटो के लिये स्वागत-पत्र पढ़ा जानेवाला था, तब फिर घर से माता का अन्तिम सन्देश लेकर आदमी आया। महाराज फिर भी नहीं गये। समारोह की समाप्ति पर जब लार्ड मिंटो सकुशल वापस गये, तब महाराज माता के पास गये, पर उस समय उनकी बोली बन्द हो चुकी थी। उस दिन की चूक का अब कोई इलाज नहीं, पर उसकी हूक तो जीवनभर सालती ही रहेगी।

दोहों के सिलसिले में उन्हें एकाएक अपनी पत्नी का कहा हुआ एक दोहा याद आया, जिसका अब एक ही चरण उन्हें याद है :—

"ऐसा कोई घर नहीं, जहाँ न मेरा राम।"

पत्नी की याद आने पर उनके कुछ और मधुर संस्मरण वे सुनाने लगे।

एक बार महाराज ने अपनी धर्मपत्नी से घर-गृहस्थी के सम्बन्ध में कुछ पूछताछ की, इसपर उन्होंने कहा—आपको घर-गृहस्थी के कामों से क्या मतलब ? जो करते हैं, वही करते रहिए।

मैंने तो इसे पत्नी का उपालम्भ समझा, पर महाराज इसे प्रेम-पूर्वक कही हुई बात समझते हैं।

अपनी पत्नी के विषय में महाराज ने बहुत सम्मान और सन्तोष प्रकट किया। वे सदा शान्त और जो कुछ मिल गया उसीमें सन्तुष्ट रहनेवाली गृह-लक्ष्मी हैं।



मालवीयजी की धर्मपत्नी

महाराज कहने लगे—अपनी स्त्री के साथ गृहस्थी का सुख धर्म के अनुसार मनुष्य जितना भोग सकता है, मैंने उतना भोगा। हम दोनों पति और पत्नी वैवाहिक जीवन के प्रारम्भ ही से राम-कृष्ण के उपासक रहे। हम कोई भी काम करते हैं, चाहे दूध पीते हों, चाहे पानी पीते हों, राम-कृष्ण का स्मरण किये बिना नहीं करते।

महाराज ने आज की एक रोचक घटना सुनायी। कहने लगे—बिछौने पर एक चींटी चढ़ आयी थी, उसे पकड़कर मैं नीचे उतार देना चाहता था, पर वह हाथ आती ही न थी। इधर पकड़ने जाता तो उधर भाग जाती। उधर पकड़ने जाता तो इधर भाग आती। अपने बचाव के लिए उसका प्रत्येक बार का नया प्रयत्न बड़ा ही प्रिय लग रहा था। एक चींटी में भी जीवन-रक्षा का वैसा ही उद्योग है, जैसा मनुष्य में है। सुख-दुःख का अनुभव जैसा हममें है, वैसा ही प्रत्येक प्राणी में है। सबमें समान जीव है। जब कोई आदमी चींटी को लापरवाही से मार देता है, तब मुझे बड़ा कष्ट होता है।

बँगले के पास ही कदम्ब का एक पेड़ है। आजकल उसमें फूल आये हुए हैं। कल गीता-प्रवचन में उसके कुछ फूल चढ़ाने के लिए वे साथ ले भी गये थे।

आज यकायक उसका स्मरण हो आया। कहने लगे—कदम्ब का फूल देखा है?

मैंने कहा—हाँ।

महाराज ने कहा—देखिए, कैसा गोल होता है, जैसे किसी

ने परकाल से नाप-नापकर बनाया है। हर पंखड़ी गोलाई की सीमा तक ही उठकर रुक जाती है। प्रत्येक का यह प्रयत्न रहता है कि वह फूल की गोलाई तक पहुँचकर उसकी पूर्ति में सहायक हो। क्या कोई कह सकता है कि यह सब बिना ईश्वर ही के हो रहा है ?

महाराज ने दृढ़ता-व्यञ्जक स्वर में कहा—मेरा दृढ़ विश्वास है कि मैं नास्तिक से नास्तिक को भी आस्तिक बना सकता हूँ।

इसके बाद ऐसा मालूम होने लगा, मानो महाराज मेरी ओर से हटकर किसी अदृश्य जगत् में विहार करने लगे। उस समय उनके मुख से कई बार यह पद सुनायी पड़ा।—

तेरी महिमा अपार। पारब्रह्म पारावार ॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः।

बारहवाँ दिन

२२ अगस्त

दिनभर मिलनेवालों की भीड़ लगी रही। इससे मुझे महाराज से मिलने का मौक़ा शाम को ६ बजे मिला, जब वे टहलने के लिए बाहर निकले।

महाराज मोटर में चलते-चलते कहने लगे—'सड़क' शब्द संस्कृत के 'सरक' का अपभ्रंश है। नाहक लोग इसे उर्दू का शब्द समझते हैं। मैंने विश्वविद्यालय की सड़कों के कुछ नाम सोच रक्खे हैं। जैसे सत्य-हरिश्चन्द्र सड़क, युधिष्ठिर सड़क, हनुमान सड़क, अशोक सड़क, राणा प्रताप सड़क।

मैंने कहा—तुलसीदास के नाम पर भी एक सड़क रखनी चाहिए।

महाराज ने कहा—हाँ, ज़रूर; मेरी सूची में अभी यह नाम नहीं आया था।

फिर महाराज तुलसीदास के बारे में कहने लगे—मेरी इच्छा है कि यूनिवर्सिटी में कुछ विद्वानों को नियुक्त करके तुलसीदास के ग्रन्थों के शुद्ध पाठ तैयार कराऊँ और उसी पाठ को सर्वमान्य किया जाये। इसी तरह अन्य प्राचीन सन्तों, महात्माओं और लोक-हितैषी कवियों के ग्रन्थों के शुद्ध पाठ तैयार करके जनता को दिये जायँ।

आज रात में ८-९ बजे के बीच एक गायक महाशय

महाराज को गाना सुनाने आये। वे महाराज के सुपरिचित हैं; अक्सर आ जाया करते हैं। मैं भोजन करके उठा ही था कि उनके सितार की तुनतुनाहट सुनायी पड़ी। मुझे भी संगीत से कुछ प्रेम है। मैं भी महाराज के पास जा बैठा।

गायक से महाराज ने मालकोश में कुछ गाने को कहा। गायक ने तुलसीदास का एक भजन गाया। फिर भीमपलासी, केदारा और विहाग में कई गान सुनाये। अन्त में महाराज ने सोहनी में कुछ गाने को कहा। गायक महाशय के कंठ में पहले गाये हुए रागों के स्वर ऐसे गूँज रहे थे, कि सोहनी पर वे चढ़ ही न सके।

संगीत के रसिक और रागों के स्वर-ताल से परिचित महाराज को उनका निष्फल प्रयत्न असह्य हो उठा। महाराज उठ बैठे और एक सोहनी उन्हें याद थी, उसे स्वयं गाने लगे:—

नींद तोहें बेंचौंगी, जो कोउ गाँहक होय।
आये रे ललना, फिरि गये अँगना, मैं पापिनि रही सोय।
जो कोउ गाँहक होय॥

कैसा सुन्दर दृश्य था! अस्सी वर्ष के वृद्ध पुरुष के कंठ से सोहनी के स्वर का एक सर्वांगपूर्ण सुन्दर स्वरूप निकलना क्या कम आश्चर्य की बात थी?

महाराज का संगीत-प्रेम नया नहीं, पैतृक है। उनके पितामह और पिता दोनो संगीत में अच्छी गति रखते थे। पिता पंडित व्रजनाथ व्यास वंशी बजाकर स्वयं भी आनन्द-मग्न हो जाते थे और अपने श्रोताओं को भी विमुग्ध बना लेते थे।

महाराज ने अपने दादा और पिता से सुन-सुनकर बहुत से श्लोक, स्तोत्र और भजन कंठ कर लिये थे। वे ही इनकी संगीत-प्रियता के बीज थे, जो आगे चलकर अन्य कलाओं और गुणों के साथ स्वच्छन्द रूप से विकसित होते रहे।

महाराज का कंठ-स्वर अब भी बहुत मधुर है, बालपन में तो रहा ही होगा। जो भजन और श्लोक आदि उस समय स्मरण थे, उन्हें वे मधुर स्वर से गाया भी करते थे।

बालपन में महाराज को जो भजन और पद याद थे और जिन्हें वे स्वर से गा लिया करते थे और जिनकी संख्या ५० से अधिक है, उनमें से दो-चार नमूने के तौर पर यहाँ दिये जाते हैं। इनसे यह भी प्रकट हो जाता है कि महाराज को करुण-रस स्वभाव ही से प्रिय है और उसका प्रभाव उनके जीवन के समस्त कार्यों पर दिखायी भी पड़ता है:—

[१]

रामकली

गारी मति दीजौ मो गरीबिनी को जायो है।
जो जो बिगारि कियो सो तो मोंसों आन कह्यो,
मैं तो काहू बातन सों नाहीं तरसायो है ॥१॥
दधि की मटुकी भरी धरी लाय आँगन में,
तौलि-तौलि लेहु भटू जाको जेतो खायो है ॥२॥
सूरदास प्रभु प्यारे निमिष न होहु न्यारे,
कान्ह ऐसो पूत मैं तो पूरे पुन्य पायो है ॥३॥

[२]

मल्लार

सिखिन सिखर चढ़ि टेर सुनायो ।
बिरही सावधान ह्वै रहियो सजि पावस दल आयो ।।

[३]

केदार

नेह न होइ पुरानो रे अलि ।
जीवित है आनन्द रूप रस बिन प्रतीति को नीन चढचो थल ।
अमी अगाध सिन्धु सर बिहरत पीवत हू न अघात इते जल ।।

कई बरस हुए, इसी कमरे में, जिसमें आज बैठा हूँ, मैंने महाराज को यह ग्राम-गीत सुनाया था:—

धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहु सैयाँ मोरा उतरइँगे पार ।
धीरे बहु नदिया ।।
काहेन की तोरी नैया रे काहे की करुवारि ।
को तेरा नैया खेवैया रे को धन उतरइँ पार ।।
धरमैं कै मोरी नैया रे सत कै लगी करुवारि ।
सैंयाँ मोरा नैया खेवैया रे, हम धन उतरब पार ।।
धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहु ।।

महाराज उस दिन कुछ अस्वस्थ थे। ज्वर था। डाक्टर और वैद्य दोनों उनको शान्ति से चुपचाप बिछौने पर पड़े रहने का अनुरोध करते रहते थे।

महाराज ने तार देकर मुझे प्रयाग से बुलवाया था। अतः

मेरा उनके सामने उपस्थित होना अनिवार्य था। मैं सामने गया, उन्होंने देखते ही पूछा—ग्राम-गीत की पुस्तक लाये हैं ? यद्यपि तार में पुस्तक साथ लाने की बात नहीं थी, पर मैं उनकी रुचि से कुछ-कुछ परिचित हो गया था, इससे उक्त पुस्तक साथ लेता गया था।

मैंने कहा—हाँ, ले आया हूँ।

आज्ञा हुई—कुछ गीत सुनाइये।

एक डाक्टर साहब पास बैठे थे। याद पड़ता है कि प्रिंसिपल ध्रुव भी वहाँ उपस्थित थे। दोनों की राय नहीं थी कि महाराज कोई दिमागी परिश्रम करें।

मैंने दो-तीन गीत, जो उनको बहुत प्रिय थे, और जिन्हें वे उस दिन के पहले भी कई बार सुनकर उनका रस ले चुके थे, सुनाये।

महाराज का हृदय बहुत सुकुमार है। इससे उसपर करुण-रस के गीतों का इतना प्रभाव पड़ता है कि उनकी आँखों में आँसू आये बिना नहीं रहते। सो आँसू छलक आये।

अन्त में मैंने 'धीरे बहु नदिया' वाला गीत सुनाया। मैंने उसे ज़रा स्वर से गाकर सुनाने की चेष्टा की। पर मैं उसे ठीक स्वर से नहीं गा रहा था, यह उनको असह्य हो गया। वे उठ बैठे और यह कहकर कि 'रामनरेशजी, यह मलार है, इस तरह गाया जाता है', स्वयं गाने लगे।

सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ; क्योंकि वे ठीक उसी स्वर में गा रहे थे जिस स्वर में सुलतानपुर ज़िले के एक गाँव, पापर

की भवानी के मेले में जाती हुई एक जीर्ण-शीर्ण बुढ़िया गा रही थी, जिससे सुनकर मैंने लिखा था। अवश्य ही उन्होंने उस गीत को कहीं गाँव में, विश्वविद्यालय के दौरे के समय सुना होगा। महाराज की मेधा-शक्ति इतनी प्रबल है कि उन्होंने बीस-पचीस वर्ष पहले के सुने हुए गीत के शब्दों ही को नहीं, उसके स्वर और लय को भी अभी तक वैसा ही कण्ठ में रख छोड़ा है।

मालवीयजी का उठकर बैठना और गाने लगना डाक्टर को प्रिय नहीं लग रहा था। जितना ही हम दोनों सुख अनुभव कर रहे थे, उतना ही डाक्टर साहब खिन्न हो रहे थे। अपना-अपना भाग्य !

गीत समाप्त करके, डाक्टर साहब की घबराहट को लक्ष्य करके महाराज कहने लगे—डाक्टर साहब ! मैं अपने रोग का इलाज जानता हूँ। मुझे दवा मिल गयी है। देखिए, मेरा ज्वर उतर रहा है न ?

डाक्टर ने नाड़ी देखी। वास्तव में ज्वर उतर गया था। डाक्टर साहब निश्चिन्त होकर, मुसकराते हुये, उठकर चल दिये।

महाराज सचमुच अपने रोग की दवा जानते हैं। उनको तो एक ही रोग है, परिश्रम। जबतक मस्तिष्क काम देता रहता है, वे अपनी शक्ति का एक-एक बूँद निचोड़कर लोकहित के किसी कार्य में व्यय करते रहते हैं। इसी से ज्वर आता है और इसी से मूर्च्छा आती है। इसका एक ही इलाज है, विश्राम। कभी वे शरीर को बिछौने पर डालकर विश्राम दे लेते हैं और मस्तिष्क को कविता, संगीत और कथा-वार्ता के रस में स्नान कराके।

आजकल वृद्धता का रोग उभड़ आया है, जो जन्म से साथ था, पर अदृश्य था। अब मन उन अरमानों के लिए छटपटाता रहता है, जो रह गये हैं, और जिनकी पूर्त्ति में वृद्धता घोर बाधक हो रही है। इन अरमानों में एक अरमान हिन्दू-विश्वविद्यालय में संगीत-महाविद्यालय (म्युज़िक कालेज) खोलने का भी है, जिसके लिए तीन लाख रुपये चाहिए। कम से कम एक लाख मिल जाय, तब भी वह खुल सकता है। संगीत-प्रेमी दानियों के पास गये विना रुपये कहाँ से मिलेंगे ? वृद्धता के कारण शरीर निर्बल हो गया है, दवा चल रही है, दवा के परिणाम की राह देखी जा रही है, शरीर में कुछ बल आ जाय, रेल के सफर का कष्ट वे सह सकें, तब किसी भाग्यवान् के पास जाकर संगीत-विद्यालय के लिए याचना की जाय। कितनी चिंतायें हैं !

बारे दुनिया में रहो ग़मज़दा या शाद रहो।
ऐसा कुछ करके चलो याँ कि बहुत याद रहो॥

तेरहवाँ दिन

२३ अगस्त

आज दिनभर तरह-तरह के मिलनेवालों से महाराज का दरबार गरम रहा। रात में भोजनोपरान्त मैं महाराज के पास जा बैठा। आज मैंने महाराज के इंग्लैण्ड-गमन का ज़िक्र छेड़ लिया। महाराज 'राउन्ड टेबुल कान्फ्रेन्स' में इंग्लैण्ड गये थे।

मैंने पूछा—महाराज, जब आप बादशाह पंचम जार्ज से मिले थे, तब क्या बातें हुई थीं ?

महाराज ने कहा—पहुँचते ही बादशाह ने पहला वाक्य यह कहा—आप मिस्टर गाँधी के अनुवर्ती हैं ? (you Are a follower of Mr. Gandhi.)

मैंने उत्तर दिया—नहीं, मैं उनका सहयोगी हूँ। (I am not a follower of Mr. Gandhi; I am a fellow-worker of Mr. Gandhi.)

इसके बाद ही बादशाह ने कहा—देखिए, मिस्टर मालवीय, हिन्दुस्तान में हमारे एक भी आदमी पर वार होगा तो उसके लिए मैं एक लाख आदमी यहाँ से भेजूँगा।

इसपर मैंने कहा—आप यह क्या कह रहे हैं ? आप हमारा हक़ स्वीकार करें और भारत में चलकर, दरबार करके औपनिवेशिक स्वराज्य की घोषणा करें, इससे भारत में आपको लोग धन्य-धन्य कहेंगे और एशिया में आपका कीर्त्तिगान होने लगेगा।

आपके एक आदमी पर वार हो और उसका बदला लेने के लिए यहाँ से एक लाख आदमी भेजे जायें, यह प्रश्न हल करने के लिए हम यहाँ नहीं आये हैं।

इसके उत्तर में बादशाह ने कुछ न कहकर एकदम से बात का सिलसिला ही बदल दिया और पहले जो शब्दों में रुखाई या धमकी का भाव था, वह भी बदल गया। वह कुछ प्रेम और सद्भाव का प्रदर्शन करते हुए बात करते रहे।

महाराज कुछ सोचकर कहने लगे—लार्ड इरविन से भी मैंने यही कहा था कि भारत में दरबार कराके बादशाह से भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दिये जाने की घोषणा करायी जाय।

यह बात यहीं समाप्त हो गयी। लार्ड इरविन का नाम बात के सिलसिले में आने से मुझे एक नयी बात सूझी। मैंने पूछा—आपको तो बहुत से वाइसरायों से मिलने का मौका मिला है। सबसे अधिक शुद्ध हृदय का वाइसराय कौन था?

महाराज ने तत्काल कहा—लार्ड हार्डिंज।

फिर महाराज ने लार्ड हार्डिंज से अपनी पहली मुलाकात का जिक्र किया। हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में तत्कालीन वाइसराय लार्ड हार्डिंज से महाराज का मिलना ज़रूरी था। महाराज चाहते थे कि ग्वालियर, मैसूर या बीकानेर के महाराजाओं में से कोई वाइसराय से मिलकर बातें तै कर लेता तो ठीक था। पर महाराजा बीकानेर ने मालवीयजी ही को वाइसराय से मिलने का आग्रह किया।

महाराज ने मिलने का समय निश्चित कराके लार्ड हार्डिंज

से मुलाकात की। लार्ड हार्डिंज ने कहा—मेरे पास आपकी यह शिकायत पहुँची है कि आप गवर्नमेन्ट के गुप्त विरोधी हैं।

महाराज ने कहा—ऐसा तो नहीं है। आप किसी विश्वास-पात्र सरकारी आदमी को तैनात करके मेरे लेखों और भाषणों की जाँच करा लें। ऐसा कोई अंश उसमें हो, जिसमें अंग्रेज़ों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता हो, तो मैं उसके लिए क्षमा माँग लूँगा।

लार्ड हार्डिंज ने कहा—बस, यह बात यहीं समाप्त होती है। इसके बाद लार्ड हार्डिंज ने फिर कभी वैसी आशंका नहीं प्रकट की और न उसका ज़िक्र ही किया। उसने मेरे साथ हमेशा सहानुभूति का भाव रखा और मेरा विश्वास किया।

आज का दिन मैंने महाराज के लेखों, व्याख्यानों और उनके मित्रों के लिखे हुए संस्मरणों के प्रणयन में लगाया था और उनमें से बहुत सी बातें मैंने संग्रह कीं, जिनसे महाराज के जीवन के कई पहलुओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनमें से बहुत-सी बातों की चर्चा पिछले दिनों में, प्रसंग उठने पर, महाराज करते भी रहे हैं।

मुख्यतः हिन्दू-जाति के सुधार और उन्नति के लिए महाराज ने क्या-क्या प्रयत्न किये, संक्षेप में उसका परिचय यह है:—

प्रयाग-हिन्दू-समाज

पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य ने 'प्रयागहिन्दू-समाज' नाम की एक संस्था खोली थी। मालवीयजी ने सन् १८८४ में, 'मध्य हिन्दू-समाज' के नाम से दशहरे के अवसर पर बड़े धूम-धाम से

उसका उत्सव किया। उसमें उत्तर भारत के बड़े-बड़े विद्वान् उपस्थित हुए थे और काफी चहल-पहल थी। उत्सव तीन दिनों तक यमुना-किनारे, महाराज बनारस की कोठी में, मनाया गया था।

उस उत्सव में कालाकाँकर के राजा रामपालसिंह, जो विलायत से उन्हीं दिनों लौटे थे, शामिल हुए थे। बराँव के राजा श्री महावीरप्रसादजी सभापति थे। सभा में राजा रामपालसिंह बीच-बीच में उठकर बोलने लगते थे, इससे सभा के कार्य में बाधा उपस्थित होती थी। मालवीयजी को राजा साहब का बीच-बीच में उठकर खड़ा होना और बोलने लगना बहुत खलता था। पर उनको रोकता कौन? वे राजा साहब थे। अन्त में मालवीयजी से न रहा गया और उन्होंने राजा साहब के कान में कुछ कह-कहकर कई बार रोकने की चेष्टा की। राजा साहब सुनकर मुस्करा देते थे।

उत्सव समाप्त हुआ। राजा साहब कालाकाँकर लौट गये। वहाँ उन्होंने अपने 'हिन्दुस्थान' नामक पत्र में इस उत्सव की बड़ी प्रशंसा की, पर साथ ही यह भी लिखा कि 'उसमें दो-एक लौंडे ऐसे ढीठ थे कि वे बड़े-बड़े राजा-रईसों और वावदूकों को व्याख्यान देते समय उनके कान में सलाह देने की धृष्टता करते थे।'

'प्रयाग हिन्दू-समाज' द्वारा मालवीयजी विद्यार्थी-अवस्था ही से हिन्दू-संगठन और समाज-सुधार का काम करने लगे थे। उनकी वह प्रकृति उत्तरोत्तर ज़ोर पकड़ती गयी और वह उनके

सार्वजनिक जीवन का एक मुख्य अंग बन गयी।

१८९१ तक 'हिन्दू-समाज' के वार्षिकोत्सव होते रहे, और उनमें हिंदू-समाज के बड़े-बड़े नेता और विद्वान् उपस्थित होकर समाज-सुधार के उपायों पर विचार करते रहे।

हिन्दूबोर्डिंग हाउस

सन् १८८७ में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की नींव पड़ी। युक्तप्रांत की यह सबसे पहली यूनिवर्सिटी थी, इससे दूर-दूर से विद्यार्थियों के झुंड-के-झुंड आने लगे। पर हिन्दू-विद्यार्थियों के लिए छात्रावास न होने से उनको बड़ी असुविधा होने लगी। मालवीयजी का ध्यान इस कमी की ओर गया और उन्होंने एक छात्रावास बनाने का दृढ़ संकल्प किया।

मालवीयजी ने युक्तप्रांत में घूम-घूमकर रुपया एकत्र किया और सन् ९९०३ में उस समय के गवर्नर सर एंटोनी मेकडॉनल्ड के नाम पर 'मेकडानल्ड यूनिवर्सिटी बोर्डिंग हाउस' बनकर तैयार हो गया, जिसमें ढाई सौ हिन्दू विद्यार्थियों के रहने का स्थान है।

इस बोर्डिंग हाउस के बनाने में ढाई लाख के लगभग रुपया लगा था, जिसमें एक लाख युक्तप्रांत की सरकार ने दिया था। बाक़ी मालवीयजी ने चंदे से जमा किया था।

नागरी लिपि का आन्दोलन

१८९८ में मालवीयजी ने 'नागरी लिपि' का आन्दोलन उठाया और उसे सफल बनाकर ही छोड़ा। उसकी सफलता के लिए महाराज को कई प्रान्तों में दौरा करना पड़ा और इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि उनको हिन्दू-समाज की बहुत-सी

त्रुटियों का ज्ञान होता रहा, जिनको समूल नष्ट करने के लिए ही हिन्दू-विश्वविद्यालय की सृष्टि हुई है।

हिन्दू-संगठन

१९०५ में वंग-भंग हुआ। लार्ड कर्ज़न ने हिन्दुओं को बहुत उत्तेजित कर दिया था। उसी उत्तेजना के अन्दर से हिन्दुओं को अपने संगठन की प्रेरणा मिली।

लार्ड मिंटो का ज़माना था। उनको भारत मंत्री मार्ले का पूरा समर्थन प्राप्त था। भारत में दमन-चक्र बड़ी तेज़ी से घूम रहा था। लाला लाजपतराय को देश-निकाला दिया गया, अरविन्द घोष और उनके साथी पकड़ लिये गये और लोकमान्य तिलक को छः वर्ष की सज़ा कर दी गयी। इस तरह हरएक जागे हुए प्रांत के हिन्दू-नेताओं पर प्रहार हो रहा था।

१९०७ में 'हिन्दू-सभा' की बैठक हुई। हिन्दुओं के हित के कितने ही प्रस्ताव उसमें पास हुए। १९०९ में फिर एक 'हिन्दू-महासभा' की बैठक हुई। उसमें पास हुए प्रस्ताव के अनुसार लॉर्ड मिंटो के साम्प्रदायिक विशेषाधिकार का विरोध करने के लिए हिन्दुओं का एक प्रतिनिधि-मंडल, जिसके सर्वेसर्वा महाराजही थे, लार्ड मिंटो से मिला। पर उसकी कुछ भी सुनवाई नहीं हुई।

१९१३ में कानपुर में दंगा हुआ। तब १९१४ में एक 'अखिल-भारतीय हिन्दू-सभा' की बैठक की गई।

हिन्दुओं पर लगातार अत्याचार होते रहे। १९२१ में मलाबार में मोपलों ने हिंदुओं को लूटा, उनके घरों में आग लगा

दी, स्त्रियों को बेइज़्ज़त किया और साबित कर दिया कि हिन्दुओं का रक्षक कोई नहीं। महाराज उन दिनों बीमार थे। मलाबार जाना चाहते थे, पर जाने की शक्ति उनमें नहीं थी। फिर भी उन्होंने मलाबार के हिन्दुओं के लिए रुपये, अन्न और वस्त्र जमा करके भेजवाये।

इसके बाद मुलतान में दंगा हुआ। वहाँ भी हिन्दुओं को बड़ा अपमान और अन्याय सहन करना पड़ा। वहाँ का अत्याचार देखकर मुसलमान होते हुए भी हकीम अजमलखाँ रो पड़े थे।

इसके बाद सहारनपुर में दंगा हुआ। वहाँ भी मुसलमानों नें हिन्दुओं पर घृणित अत्याचार किये।

हिन्दुओं की यह दुर्गति देखकर लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द और महाराज ने १९२३ में काशी में 'अखिल भारतीय हिन्दू-महासभा' की फिर बैठक की। उसमें सनातन-धर्मी, आर्य-समाजी, सिक्ख, बौद्ध, जैन, पारसी आदि सभी संप्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। उसमें महासभा के ये उद्देश्य निश्चित किये गये:—

१—हिन्दू-समाज के समस्त पंथों और वर्गों में पारस्परिक प्रेम बढ़ाना और सबको संगठित करके एक बनाना।

२—पर-धर्मवालों से परस्पर सद्भाव बढ़ाकर भारत को एक स्वयं-शासित राष्ट्र बनाने का प्रयत्न करना।

३—हिन्दू-जाति के निम्न वर्गों को ऊँचा उठाना।

४—हिन्दुओं के हितों की जहाँ आवश्यकता पड़े, रक्षा करना।

५—हिन्दुओं का संख्या-बल क़ायम रखना और उसे बढ़ाना।

६—हिन्दू-जाति के धर्म, सदाचार और शिक्षण की तथा उसकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक उन्नति करना।

इसी सभा में महाराज की प्रेरणा से बाल-विवाह-विरोधी तथा अस्पृश्यता-निवारण के प्रस्ताव भी पास हुए।

इस महासभा के वार्षिक अधिवेशन हरिद्वार, दिल्ली, क़ानपुर, जबलपुर, कलकत्ता, बेलगाँव, अकोला, अजमेर आदि बहुत से स्थानो में हुए और हिन्दुओं में संगठन की प्रवृत्ति जाग उठी।

१९२९ में बेलगाँव की कांग्रेस के अवसर पर 'हिन्दू-महासभा' का भी अधिवेशन हुआ, जिसके सभापति महाराज थे। उस अधिवेशन में गाँधीजी, लाला राजपतराय, देशबन्धु, पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द, केलकर, सत्यमूर्त्ति, डा० मुंजे, मुहम्मदअली और शौकतअली भी शामिल हुये थे।

१९३५ में महासभा का सत्रहवाँ अधिवेशन पूने में हुआ। इस बार भी महाराज सभापति बनाये गये। इस अधिवेशन में महाराज ने जो भाषण दिया, उससे हिन्दू-जाति की उन्नति के पथ निर्बाधरूप से खुल गये।

महाराज ने सदा प्राचीनता की नींव पर नवीन भवन खड़ा किया है। यही कारण है कि उनके विचार सब श्रेणी के हिन्दुओं में स्थायी प्रभाव उत्पन्न कर लेते हैं।

महाराज ने हिन्दू-जाति की उन्नति में अपनी अधिक तन्म-

यता दिखलायी। इसका यह अर्थ न निकालना चाहिए कि मुसलमानों से द्वेश रखते थे।

१९३३ में महाराज ने लाहौर में भाषण दिया। उसमें उन्होंने कहा था—"मेरी सदा ऐसी इच्छा है कि हिन्दू और मुसलमान शक्तिमान हों और जगत के अन्य समाजों के साथ खड़े होने लायक़ बनें। दोनों समाजों का सम्बन्ध इतना दृढ़ होना चाहिए कि उसे कोई तोड़ न सके।

"मेरा अपने धर्म पर दृढ़ विश्वास है, परन्तु पर-धर्म का अपमान करने की कल्पना मेरे मन को छू तक नहीं गयी है। गिर्जाघर या मसजिद के पास से मैं जाता हूँ, तब मेरा मस्तक अपने आप झुक जाता है। जब कि परमेश्वर एक ही है, तो लड़ने का कारण क्या ? भूमि एक, देश एक, वायु एक, ऐसी परि-स्थिति रहते हुए भी आपस में दंगे-फसाद हों, इससे बढ़कर और आश्चर्य की बात क्या हो सकती है ! हमारी रक्षा विदेशी सेना करे, यह बड़ी लज्जा की बात है।"

मार्च, १९३१ में कानपुर में हिन्दू-मुसलमानों में बड़ा दंगा हुआ। ११ अप्रैल को वहाँ हिन्दू-मुसलमानों की एक सम्मिलित सभा हुई। उसमें महाराज ने जो भाषण किया, उसका कुछ अंश यह है:—

"मैं मनुष्यता का पूजक हूँ, मनुष्यत्व के आगे मैं जात-पाँत नहीं मानता। कानपुर में जो दंगा हुआ, उसके लिए जबाव-देही दोनों जातियों पर समान है।

"मंदिर अथवा मसजिद नष्ट-भ्रष्ट करने से धर्म की श्रेष्ठता

नहीं बढ़ती। ऐसे दुष्कार्यों से परमेश्वर प्रसन्न नहीं होता।

"हिन्दू और मुसलमान दोनों में जबतक प्रेम-भाव उत्पन्न नहीं होगा, तबतक किसी का भी कल्याण नहीं होगा।

"एक दूसरे के अपराध भूल जाइए और एक दूसरे को क्षमा कीजिए।"

इन अवतरणों में महाराज का हृदय साफ़-साफ़ झलक रहा है। इसपर और कुछ लिखना व्यर्थ है।

हिन्दुओं की संख्या-शक्ति क़ायम रखने के लिए यह परम आवश्यक है कि संख्या क्षीण होने के जितने मार्ग हैं, सब बन्द किये जायें। यह केवल 'शुद्धि' ही से हो सकता है।

'शुद्धि' के सम्बन्ध में महाराज ने एक भाषण में कहा:—

"अरब और अफ़ग़ानिस्तान से अधिक-से-अधिक पचास लाख मुसलमान यहाँ आये होंगे। बाक़ी सब यहीं के बनाये हुए मुसलमान हैं।

"क्रमशः घटते-घटते आज हम लोगों में से साढ़े छः करोड़ हिन्दू परधर्म में चले गये।

"जो लोग जुल्म-जबरदस्ती से पर-धर्म में गये हैं, उन्हें शुद्ध करना ही चाहिए। इनमें से बहुत-से ऐसे भी हैं, जिनको हिन्दुओं ने छोड़ दिया है; तिसपर भी वे अपने प्राचीन आचार पर अटल हैं।

"प्राचीन काल में ऋषियों ने अनार्यों को आर्य और सभ्य बना लिया था। अतः जो लोग स्वेच्छा से हिन्दू-धर्म स्वीकार करना चाहें, उन्हें ऐसा करने का अधिकार है।

"ईश्वर का नाम लेकर चारों ओर यह घोषणा कीजिए, इससे हिंदू-धर्म का अँधेरा दूर होकर धर्म-सूर्य का उदय होगा और हिन्दू-समाज विशाल और बलवान बनेगा।

समाज-सुधार

समाज-सुधार के कई छोटे-मोटे काम और भी उन्होंने किये हैं। जैसेः—

(१) करार और बड़ी बरात ले जाने के विरोध में एक बड़ा आन्दोलन उठाकर उन्होंने विद्वानों की एक बहुत बड़ी सभा की और दोनों कुप्रथाओं को रोकने के लिए शास्त्रीय व्यवस्था दिलायी।

(२) मालवीयजी ब्राह्मणों में सवर्ण विवाह के पक्ष में हैं। सन् १९३७ में इस विषय को लेकर उन्होंने काशी में विद्वानों और धर्माचारियों का एक सम्मेलन कराया, जिसमें शास्त्रीय प्रमाणों से सवर्ण विवाह शास्त्र-सम्मत ठहराया गया। मालवीयजी ने केवल समर्थन ही नहीं किया, अपनी पौत्री (पंडित रमाकांतजी की पुत्री) का विवाह गौड़ ब्राह्मण वर से कराया भी।

(३) हिन्दुओं में बहुत-से देवी देवताओं के साथ पशुबलि देने की प्रथा प्रचलित है। मालवीयजी ने उसका निषेध करने के लिए सन् १९३५ में अपने विचारों को पुस्तिकाकार छपवाकर वितरण कराया।

(४) सन् १९२३ में 'हिन्दू-महासभा' का सातवाँ अधिवेशन हुआ। उसमें मालवीयजी ने हिन्दुओं के सामाजिक सुधार और संगठन पर एक बड़ा ही प्रभावशाली भाषण दिया था।

१९२४ में बेलगाँव में हिन्दू महासभा का एक विशेष

अधिवेशन मालवीयजी ही के सभापतित्व में हुआ था। काशी और बेलगाँव दोनों के अधिवेशनों में हिन्दू-संगठन पर उन्होंने बड़ा जोर दिया था। उनके भाषणों के कुछ अवतरण यहाँ दिये जाते हैं––

"दुर्भाग्यवश माण्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों के प्रचलित होने के बाद से ऐसे-ऐसे दल और समुदाय निकल आये हैं, जिनके अस्तित्व की किसी को शंका भी न हुई थी। ब्राह्मण-अब्राह्मण दोनों ही एक हिन्दू-सभ्यता के अन्तर्गत हैं। दोनों को भाई-भाई की तरह रहना चाहिए था। ब्राह्मणों को चाहिए कि गुण तथा योग्यता जहाँ कहीं भी मिलें, उनका आदर करें। ब्राह्मणों का राम, कृष्ण और बुद्ध की––जो ब्राह्मण न थे––भक्ति करना इस बात का प्रमाण है कि गुण कहीं भी मिले, उन्हें उसका आदर करने में संकोच नहीं होता था। दुःख की बात है कि दस-बीस सरकारी नौकरियों तथा दो एक मंत्री-पदों के लालच से, जो हिन्दूमात्र की एकता के सामने तुच्छ वस्तुएँ हैं, हम आपस में झगड़ने लगे हैं। हमें एक दूसरे का सुख और शक्ति देखकर प्रसन्न होना चाहिए। जबतक हमारी बुद्धि में विकार न आ जाये, हमारे लड़ने का कोई कारण नहीं। क्या महात्मा गांधी अब्राह्मण नहीं हैं ? और क्या यह सत्य नहीं कि आज देश में जितनी उनकी प्रतिष्ठा है उतनी और किसी की नहीं है ? मैं अपने ब्राह्मण तथा अब्राह्मण भाइयों से आपस का भ्रम दूर करने का अनुरोध करता हूँ।"

"अस्पृश्यता का निवारण करने के लिए महात्मा गाँधी ने

जो महान् कार्य किया है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। राजनीतिक दृष्टि से मनुष्य-गणना में अपनी संख्या अधिक दिखाने के विचार को अलग रख देने पर भी अपने अछूत भाइयों के प्रति, जो हमारी ही तरह हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं और जो हिन्दू-समाज के अंग हैं, हमारा कुछ कर्त्तव्य है। महासभा ने उनके सार्वजनिक स्कूलों में भर्ती किये जाने, सार्वजनिक कुओं से पानी भर सकने और मन्दिरों में देवदर्शन कर सकने के पक्ष में अपना मत दिया है, पर चूँकि महासभा का अहिंसा में विश्वास है और वह दुराग्रह और द्वेष के बल पर नहीं किन्तु प्रेम से पराजित करने के सिद्धान्त को मानती है, इसलिए उसने यह भी कह दिया है कि जहाँ तत्काल ऐसा होना सम्भव न हो, वहाँ अछूत भाइयों के लिए नयी संस्थायें, कुएँ और मन्दिर खोले तथा बनवाये जायें।''

''सदियों से मुसलमान लोग हिन्दुओं को मुसलमान बनाते रहे हैं और भारत के मुसलमानों में अधिक संख्या ऐसे ही हिन्दुओं तथा उनकी सन्तानों की है। कितने ही ईसाई मिशन भी हिन्दुओं को अपने धर्म में ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। हिन्दू-शास्त्रों ने हमें अपना ज्ञान दूसरों में फैलाने की आज्ञा दे दी है, पर अब-तक हम इस कर्तव्य की उपेक्षा करते रहे हैं, केवल आर्यसमाजी भाइयों ने थोड़ा बहुत कार्य इस ओर किया है। अतः इस्लामी और ईसाई मिशनों की कार्यवाही के कारण विधर्मियों को स्वधर्म में लाने के लिए एक हिन्दू मिशन का सङ्गठन बहुत ही आवश्यक हो गया है।''

"जातिवाद के प्रश्न का एक और भी पहलू है, वह भी अब महत्त्वपूर्ण हो रहा है। मुस्लिम लीग सभी प्रातिनिधिक संस्थाओं तथा नौकरियों में मुसलमानों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व का दावा कर रही है। राष्ट्रहित की दृष्टि से मैं जातिगत प्रतिनिधित्व का अत्यन्त विरोधी हूँ। पर जबतक मुसलमान स्वेच्छा से इसका दावा त्याग देने को तैयार नहीं होते, तबतक हम भी इसे नहीं छोड़ सकते। इस प्रकार के प्रतिनिधित्व के कारण जातिगत वैमनस्य को बढ़ते देखकर मुझे दुःख होता है। मैं तो यह कहता हूँ, कि राष्ट्रीय सरकार और जातिगत शासन दोनों एक साथ चल ही नहीं सकते। आज इस देश में जातिवाद का सार्वजनिक कार्यों पर जितना असर पड़ा है, यदि उतना ही वह बना रहे तो यहाँ पूर्ण राष्ट्रीय सरकार की स्थापना लाभजनक न होगी। राष्ट्रवाद और जातिवाद एक साथ नहीं ठहर सकते। एक के आने के पूर्व दूसरे का जाना अनिवार्य है। इस समय जब मुस्लिम लीग जातिगत प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठा रही है, तब इस प्रश्न पर हिन्दुओं का मत निश्चित रूप से मालूम करके हिन्दू-सभा को हिन्दुओं की राय जानना और उसे प्रकाशित करना चाहिए।"

उक्त दोनों अधिवेशनों में नीचे लिखे प्रस्ताव स्वीकृत हुए:—

(१)

हिन्दू महासभा की उद्देश्य-पूर्ति अर्थात् हिन्दुओं की धार्मिक उन्नति और सामाजिक सुधार और आवश्यकता पड़ने पर हिन्दू-जाति के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए यह सभा हरएक

जिले, तहसील या तालुके में हिन्दू-सभायें स्थापित करने पर ज़ोर देती है और हरएक शहर तथा गाँव के हिन्दुओं से प्रार्थना करती है कि वे अपने यहाँ ऐसी सभायें स्थापित करें।

(२)

यथाशक्ति अन्य जातियों के साथ सर्वसाधारण राष्ट्रीय विषयों में मित्रभाव और एकता व्यवहार करें।

(३)

हिन्दू-जाति के सब वर्णवाले लड़के और लड़कियों में धार्मिक और लौकिक शिक्षा का प्रचार कर और साथ-साथ परम्परागत ब्रह्मचर्य-पालन और शारीरिक सुधार के लिए प्रयत्न करें।

(४)

कम-से-कम किसी अवस्था में भी लड़कियों का विवाह १२ वर्ष पूर्व और लड़कों का १८ वर्ष से कम उम्र में न करें।

(५)

समाज-सेवक दल जातीय सेवा के लिए संस्थापित करें; जो यथासम्भव शान्तिरक्षा के लिए दूसरी जातिवालों से सहयोग करें।

(६)

हिन्दी-भाषा और खासकर नागरी लिपि सीखें, जिसमें हिन्दुओं के सब धर्म-ग्रन्थ लिखे हैं।

(७)

गोरक्षा के लिए सब कानून-संगत कार्रवाई करें।

(८)

स्वदेशी वस्त्र का और खासकर हाथ-कते और हाथ के बुने खद्दर का व्यवहार करें।

(९)

हर मुहल्ले या वार्ड में धार्मिक शिक्षा के लिए कथा, हरि-कीर्तन और सत्संग का प्रबन्ध करें।

(१०)

अछूत समझे जानेवाले हिन्दू भाइयों की शिक्षा और उद्धार के लिए सब उचित प्रबन्ध किये जायें। यथा—

[क] उन सार्वजनिक पाठशालाओं में उन्हें भरती करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाये, जिनमें दूसरे धर्मवालों के लड़के भी भरती होते हैं; और जहाँ जरूरत हो, वहाँ नयी पाठशालायें खोली जायें।

[ख] स्थानीय निवासियों की रज़ामन्दी से सार्वजनिक कुओं से अछूतों के जल भरने में जो कठिनाइयाँ हों, वे दूर की जायें और जहाँ ज़रूरत हो, वहाँ उनके लिए खास कुएँ खुदवाये जायें।

[ग] मन्दिरों के अधिकारियों और प्रबन्धकों से प्रार्थना की जाये कि वे यथासाध्य मंदिरों के मर्यादानुकूल उनके देवदर्शन की प्रशंसनीय इच्छा की पूर्ति के लिए अवसर दें।

सभा हिन्दू-जनता का ध्यान उन शास्त्रीय व्यवस्थाओं की ओर भी खींचती है जिनके अनुसार तीर्थयात्रा, उत्सव, विवाह, नाव, युद्धकाल तथा दूसरे ऐसे ही अवसरों पर स्पर्श-दोष नहीं माना जाता।

प्रयाग में १९३६ में अर्द्धकुंभ का मेला था। उस अवसर पर २३ जनवरी से २६ जनवरी तक 'अखिल भारतवर्षीय सनातन-धर्म महासभा' का विशेष अधिवेशन हुआ। उसमें तीन

दिनों तक महाराज के, और अन्तिम दिन महाराजा दरभंगा के सभापतित्व में हिन्दू-जाति के हितों का ध्यान रखते हुए कई बड़े महत्त्व के प्रस्ताव पास हुए। जो प्रस्ताव पास हुए, उनमें से कुछ के संक्षिप्त रूप यहाँ दिये जाते हैं:—

१—आगामी शिवरात्रि को ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज तक पुरुष और स्त्री समस्त सनातनधर्मावलम्बी सन्तान को, जिनको दीक्षा लेने की इच्छा हो, पंचाक्षर शैव-मंत्र की दीक्षा दी जाय।

२—जो जातियाँ अस्पृश्य मानी गयी हैं, वे भी सनातन धर्म को माननेवाली हैं, उनको देव-दर्शन का अधिकार है।

३—महासभा मन्दिरों के प्रबन्धकर्त्ताओं से निवेदन करती है कि वे अपने-अपने मन्दिरों की स्थिति के अनुसार इन जातियों को देव-दर्शन करने का प्रबन्ध कर दें।

४—अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों को सर्वसाधारण कुएँ, तालाब, बावली, बाग़, सड़क, सराय, स्मशान-घाट तथा सर्वसाधारण स्कूल और सभाओं में जाने के लिए कोई रोक-टोक नहीं होनी चाहिए।

५—हिन्दू-सन्तान में शारीरिक और धार्मिक बल बढ़ाने के लिए प्रत्येक सनातन-धर्म सभा के साथ-साथ महावीर-दल की स्थापना की जाय।

पुस्तकों, लेखों और व्याख्यानों द्वारा प्रचार-कार्य

मालवीयजी के लेख और व्याख्यान ही प्रचुरता से मिलते हैं। किसी भी विषय की कोई पुस्तक उन्होंने अभी तक नहीं

लिखी। उनके पास लेख और व्याख्यान छपे हुए भी नहीं मिलते। हिन्दी और अंग्रेज़ी में कुछ ख़ास-ख़ास लेखों और व्याख्यानों के संग्रह पुस्तकाकार प्राप्त हैं। कुछ तो सामयिक पत्रों ही तक छपकर रह गये और कुछ कहीं भी नहीं छपे। कौन्सिल में दिये हुए उनके भाषण सरकारी गज़ट में छपा ही करते थे, वे अवश्य उपलब्ध हैं। अंग्रेज़ी में उनके कुछ चुने हुए व्याख्यानों के दो-एक संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। पर मालवीयजी ने लगातार साठ वर्ष तक जो हज़ारों व्याख्यान दिये, उनका संग्रह सहज में हो भी नहीं सकता।

पुस्तकें

अंग्रेज़ी और हिन्दी में छपी हुई कुछ पुस्तिकायें, जिनमें उनके लेख और व्याख्यान छपे हैं और जो मेरे देखने में आयीं, ये हैं:—

1. Pandit M. M. Malaviya's cable on the situation in India.
2. The statutory commission.
3. Badrinath Temple.
4. Benares Hindu University.
5. The Congress Nationalist Party.
6. Draft Report of the committee of the Unity Conference, Allahabad.

हिन्दी

१—हिन्दू-धर्मोपदेशः

२—ईश्वर

३—मन्त्र-महिमा

४—अन्त्यजोद्धार-विधिः

५—प्रायश्चित्त-विधान

६—पशु-बलिदान व देव-पूजा

७—विवाहे वर शुल्क ग्रहण निषेध व्यवस्था

८—महादेव-माहात्म्यम्

९—सवर्ण-विवाह-विचार

१०—व्याख्यान-सार

११—सनातनधर्म-प्रदीप (संस्कृत-हिन्दी)

१२—सनातनधर्म-संग्रह

१३—जलोत्सर्ग-विधि (अप्रकाशित)

१४—गो-माहात्म्य (,,)

प्रत्येक वर्ष हिन्दू-विश्वविद्यालय से हिन्दी में पंचांग प्रकाशित होता है, जिसके सम्पादक मालवीयजी हैं।

व्याख्यान

१. विद्यार्थियों के कर्त्तव्य	हिन्दू-विश्वविद्यालय के शिवाजी हाल में, ४ सितंबर, १९३५
२. राष्ट्र-भाषा	प्रथम हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, काशी में १० अक्तूबर, १९१०
३. हिन्दी	नवम हिन्दी - साहित्य - सम्मेलन, बम्बई में, १९ अप्रैल, १९१९
४. दीक्षान्त भाषण	हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी में, २६ जनवरी, १९२०

५. दीक्षान्त भाषण	हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी में, १४ दिसम्बर, १९२९
६. हिन्दू-जाति	लाहौर में, २६ सितंबर, १९२२
७. हिन्दू-मुस्लिम-एकता	लाहौर में, २६ जून, १९२३
८. हिन्दू-जाति की रक्षा	काशी में हिन्दू-महासभा के सातवें अधिवेशन में, १९ अगस्त १९२३
९. ,,	हिन्दू-महासभा के विशेष अधिवेशन प्रयाग में, जनवरी, १९२३
१०. ,,	पंजाब-हिन्दू-सम्मेलन, लाहौर में, २३ फरवरी १९२४
११. हिन्दू-संगठन	हिन्दू-महासभा के विशेष अधिवेशन बेलगाँव में, २६ दिसम्बर, १९२४
१२. ,,	हिन्दू-महासभा के सत्रहवें अधिवेशन पूना में, २९ दिसम्बर १९३५
१३. सर्व-श्रेष्ठ-धर्म	पूना में, १ जनवरी, १९३६
१४. भारतीय माँग	मद्रास में, ३१ जनवरी, १९१७
१५. वर्तमान स्थिति	बम्बई में, १० जुलाई, १९१७
१६. स्वराज्य-आन्दोलन	प्रयाग में, ८ अगस्त, १९१७
१७. स्वराज्य-आन्दोलन	होमरूल लीग प्रयाग में, ८ अक्तूबर १९१७
१८. व्यवस्थापिका सभायें	बम्बई में, २६ अक्टूबर १९३४
१९. ,,	कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन मद्रास में, २८ दिसम्बर, १८८७
२०. आय-कर	कांग्रेस के चौथे अधिवेशन प्रयाग में, २६ दिसम्बर १८८८
२१. हाउस आफ कामंस और भारतीयों के कष्ट	कांग्रेस के पाँचवे अधिवेशन बम्बई में, २६ दिसम्बर १८८९

२२.	व्यवस्थापिका सभाओं में सुधार	कांग्रेस के छठे अधिवेशन, कलकत्ते में, २६ दिसम्बर, १८९०
२३.	भारतीयों के कष्ट और उन्हें दूर करने के उपाय	कांग्रेस के सातवें अधिवेशन, नागपुर में, २८ दिसम्बर, १८९१
२४.	सरकारी नौकरियाँ	कांग्रेस के आठवें अधिवेशन प्रयाग में, २८ दिसम्बर, १८९२
२५.	भारतीयों के कष्ट	कांग्रेस के नवें अधिवेशन, लाहौर में, २७ दिसम्बर १८९३
२६.	व्यय-संबंधी कमीशन	कांग्रेस के ग्यारहवें अधिवेशन पूना में, २७ दिसम्बर १८९५
२७.	प्रान्तीय ठेके	कांग्रेस के बारहवें अधिवेशन कलकत्ते में, २८ दिसम्बर १८९६
२८.	निर्धनता और दुर्भिक्ष	,, ,,
२९.	भारतीय व्यय पर राजकीय कमीशन	कांग्रेस के तेरहवें अधिवेशन, अमरावती में, २७ दिसम्बर १८९७
३०.	दुर्भिक्ष-निवारण-सम्बन्धी-सुधार	कांग्रेस के सोलहवें अधिवेशन लाहौर में, २७ दिसम्बर, १९००
३१.	विश्व-विद्यालय बिल	कांग्रेस के उन्नीसवें अधिवेशन मद्रास में, १९०३
३२.	पार्लमेंट में भारतीयों का प्रतिनिधित्व	कांग्रेस के बीसवें अधिवेशन, काशी में, २७ दिसम्बर, १९०५
३३.	सभापति का भाषण	कांग्रेस के चौबीसवें अधिवेशन, लाहौर में, १९०९
३४.	,,	कांग्रेस के अधिवेशन, दिल्ली में, २६ दिसम्बर १९१८
३५.	सरदार भगतसिंह और सुखदेव राज	कांग्रेस के अधिवेशन, कराची में, १९३१

३६.	सभापति का भाषण	कांग्रेस के सैंतालीसवें अधिवेशन, कलकत्ता में, १९३२
३७.	राष्ट्रीय सरकार और चुनाव	कांग्रेस के इक्यावनवें अधिवेशन, फ़ैज़पुर में, २८ दिसम्बर १९३६
३८.	सभापति का भाषण	प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन, लखनऊ में, १९०८
३९.	स्वदेशी आन्दोलन	सूरत, २३ दिसम्बर, १९०७
४०.	अर्थ-संबंधी वक्तव्य	प्रयाग, १९०७
४१.	विद्रोह-सभा-विधान	कौंसिल में, ६ अगस्त, १९१०
४२.	प्रेम-विधान	,, ४ अप्रैल, १९१०
४३.	गोखले का शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव	,, १९ मार्च, १९१२
४४.	प्रतिज्ञा-बद्ध कुली-प्रथा	,, २० मार्च, १९१६
४५.	भारतीय कौंसिल	,, २३ मार्च, १९१७
४६.	रौलट बिल	,, १८ जनवरी, १९१९
४७.	इन्डेम्निटी बिल	,, १८ सितम्बर, १९१९
४८.	,,	,, २५ सितम्बर, १९१९
४९.	राउंड-टेबुल कान्फ्रेंस का भाषण	लन्दन, १५ सितम्बर, १९३१
५०.	,, ,,	,, १६ नवम्बर १९३१

लेख

१.	भगवान श्रीकृष्ण की महिमा	'सनातन धर्म' सं० १९९२
२.	सनातन धर्म	,, ,,
३.	अदालती लिपि तथा प्रारम्भिक शिक्षा	यह अभ्यर्थना लेख २ मार्च, १८८९ को युक्त-प्रान्त के गवर्नर को दिया गया था।

४. हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना	१२ मार्च, १९०६
५. मिन्टो-मार्ले-सुधार (अंग्रेज़ी)	इंडियन रिव्यू से
६. स्टेच्युटरी कमीशन	हिन्दुस्तान टाइम्स, २४, २७, नवम्बर १९२७
७. औद्योगिक कमीशन	पुस्तकाकार १९१८
८. नेशनलिस्ट पार्टी की आवश्यकता	,, १९३४

चौदहवाँ दिन

२४ अगस्त

यद्यपि महाराज का शरीर इस समय निर्बल हो गया है, पर इस अस्सी वर्ष की आयु में भी उनके देखने, सुनने, विचार करने और स्मरण रखने की शक्तियों में आयु के अनुपात से बहुत ही कम कमी दिखायी पड़ती है। इसका क्या कारण है ? यह एक प्रश्न है, जो जिज्ञासु के हृदय में महाराज का दर्शन होते ही उठ सकता है।

आज रात में भोजनोपरान्त मैं महाराज के पास बैठा और मैंने उनके के सुन्दर स्वास्थ्य के बारे में कुछ जानने की अपनी जिज्ञासा प्रकट की।

मैंने पूछा—आपका स्वास्थ्य इस वृद्धावस्था में भी बहुत अच्छा है। अभी तक आपको चश्मा लगाने की ज़रूरत नहीं हुई; श्रवण-शक्ति में भी कोई विशेष क्षीणता दिखायी नहीं देती; भाषण करने की अद्भुत शक्ति भी अभी ज्यों-की-त्यों है और स्मरण-शक्ति भी पूर्ववत् बनी है। इसका मूल कारण क्या है ?

महाराज ने कहा—माता-पिता का पुण्य और ईश्वर का अनुग्रह।

मैंने पूछा—यदि किसी को माता-पिता का पुण्य न प्राप्त हो और ईश्वर का अनुग्रह तो ईश्वर के हाथ में है, साधारण मनुष्य को उसका क्या पता चल सकता है ? आप कृपा

करके अपने आहार-विहार के बारे में कुछ खुलासा बताइए; क्योंकि आपके सुन्दर स्वास्थ्य का रहस्य जानकर अनेक मनुष्य उससे लाभ उठायेंगे।

महाराज ने कहा—

बाढ़ै पूत पिता के धर्मा। खेती उपजै अपनें कर्मा ॥

मैंने मन में कहा—

धन्य जनम जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू ॥

महाराज कहते रहे—"जिसे माता-पिता का पुण्य न प्राप्त हो, वह किसीको गुरु बनावे या स्वयं अपना गुरु बने और आचार ठीक रक्खे। स्वास्थ्य के तीन खम्भे हैं। आहार, शयन और ब्रह्मचर्य। तीनों का युक्तिपूर्वक सेवन करने से स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। मैंने वह आहार किया है, जो राजा-महाराजाओं को भी दुर्लभ है। मेरा मतलब समझे ? राजा-महाराजा नौकर के हाथ का बनाया भोजन पाते हैं, जो प्रेम से नहीं, बल्कि वेतन लेकर भोजन बनाते हैं। मैंने बालकपन से लेकर युवावस्था के अन्त तक माता, सास, बहन और साली के हाथ का भोजन पाया है, जो प्रत्येक दिन मेरी रुचि का स्वादिष्ट भोजन बड़े प्रेम से बनातीं और बड़े प्रेम से खिलाती थीं।

"लड़कपन में माता मुझे आध पाव ताजा मक्खन रोज खिलाती थीं। सवेरे मोहनभोग खाने को मिलता था। एक डाक्टर ने कहा था कि ज्यादा मक्खन खाना व्यर्थ है, क्योंकि वह थोड़ा ही पचता है, शेष यों ही निकल जाता है। माता ने कहा—तुम डाक्टर को कहने दो; तुम एक छटाँक मक्खन और एक सेर दूध

रोज़ लिया करना। तबसे अबतक मैं मक्खन और दूध उसी परिमाण से रोज लेता हूँ जैसा माता ने बताया था।

"अरहर की दाल, जो घर पर बनती थी, मुझे बहुत पसंद आती थी। अरहर की दाल को पहले घी में भूनकर फिर उसमें पानी डाल दिया जाता था। जब वह अधपकी हो जाती, तब उसमें फिर घी डाला जाता था, जिसमें वह मलाई की तरह मुलायम हो जाती थी और बहुत स्वादिष्ट लगती थी। बासमती चावल, रोटी, साग, मक्खन और गाय का दूध यही मेरा नित्य का आहार था। आजकल कई वर्षों से चावल और दाल क़रीब-करीब छोड़ दिया है, शेष पहले ही जैसा है।

"युवावस्था में सवेरे दूध, मक्खन या शहद लिया करता था और तीसरे पहर बादाम। ३०, ४० बादाम तक पिसवाकर मैं पिया करता था।"

मैंने पूछा—कौन-सा रस ज्यादा पसन्द था, खट्टा या मीठा या नमकीन?

महाराज ने कहा—मैं चटोरा कभी नहीं था। खटाई-या मिटाई दोनों पसन्द थी, पर मिल गयी तो। लड़कपन में मैं मक्खन के साथ बासी रोटी खाया करता था, जो मुझे बहुत लाभदायक जान पड़ी। आम का मुरब्बा, अमावट और आम का मीठा अचार भी मैं बहुत खाता था।

मैंने पूछा—खान-पान में आप समय की पाबन्दी रखते ही रहे होंगे?

महाराज नें हँसकर कहा—समय का पाबन्द तो मैं कभी

किसी काम में नही रहा। जब स्कूल और कालेज में पढ़ता था और बाद को जब कचहरी जाने लगा था तब तो समय की पाबन्दी अनिवार्य थी; पर जब इन सबसे छुट्टी मिली तब, और जब काम से फुरसत मिली और भोजन भी तैयार मिला तभी भोजन ले लेता हूँ।

मैंने पूछा—कोई व्रत आदि भी आप रखते हैं ?

महाराज ने कहा—कभी-कभी एकादशी रखता हूँ। निर्जला और देवोत्थान एकादशी को यथासम्भव नहीं छोड़ता हूँ। लेकिन एकादशी के दिन तो ५६ प्रकार का भोजन मिलता था।

यह कहकर महाराज हँसने लगे।

मैंने पूछा—आजकल किस पदार्थ का विशेष सेवन करते हैं ?

महाराज ने हँसकर उत्तर दिया—

बूढ़े का जिउ। दूध और घिउ॥

मैंने रसोई-घर से मालूम किया कि आजकल महाराज सबेरे दवा के साथ मक्खन और दूध लेते हैं। दोपहर को बारह एक बजे दो-तीन पतली रोटियाँ, मक्खन या घी, परवल या नेनुवे की रसेदार तरकारी और कोई साग लेते हैं। तीसरे पहर फिर थोड़ा दूध लेते हैं और रात्रि में आठ बजे के लगभग फिर वही दोपहरवाला भोजन और साढ़े नौ बजे के लगभग सोने को जाते हैं तब कोई दवा और दूध लेते हैं। आहार की मात्रा पहले की अपेक्षा बहुत कम होगयी है, लेकिन मक्खन और दूध में कमी नहीं होने पायी। ये ही महाराज को खड़ा भी किये हुए हैं।

मैंने पूछा—चाय भी आप कभी पीते थे ?

महाराज ने कहा—चाय बड़ी ही हानिकारक वस्तु है। एन्ट्रेंस में था, तब परीक्षा के दिनों में चाय पीना शुरू किया था। परीक्षा में पास तो हो गया, पर चाय से शरीर को बड़ी हानि हुई, रात्रि में शुक्रपात होने लगा और दस्त आने लगे। दो-तीन साल के बाद इस रोग से छुटकारा मिला। एफ० ए० परीक्षा निकट आयी, तब फिर दो महीने चाय पी, इससे मन्दाग्नि शुरू हो गयी। इस रोग को हटाने में भी वर्षों लग गये। यही कारण है कि मेरे शरीर का स्वाभाविक विकास, जो बालपन में प्रारंभ हुआ था, रुक गया, और शरीर की क्षीणता स्थायी होगयी।''

स्वास्थ का दूसरा खम्भा शयन है। पर महाराज को स्वयं इसका कितना अनुभव है; कहा नहीं जा सकता। उनके सिर पर युवावस्था से लेकर अबतक इतने कामों का बोझ लगातार रहता आया है कि जीवन में जितना सोना आवश्यक था, उतना वे सो नहीं सके होंगे।

महाराज ने आगे कहा—तीसरा खम्भा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य ही घोर परिश्रम का भार वहन कर सकता है।

इतने दिन साथ रहकर मैंने महाराज की रहन-सहन के बारे में बहुत-सी अन्य बातों की जानकारी भी प्राप्त कर ली है। यहाँ उसका उल्लेख कर देना पाठकों के लिए अवश्य रोचक होगा।

महाराज की रहन-सहन बहुत सादी है। अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से लेकर अबतक उन्होंने अपनी एक निश्चित पोशाक पहनी है; उसमें कभी किसी भी कारण से अन्तर नहीं आने पाया है।

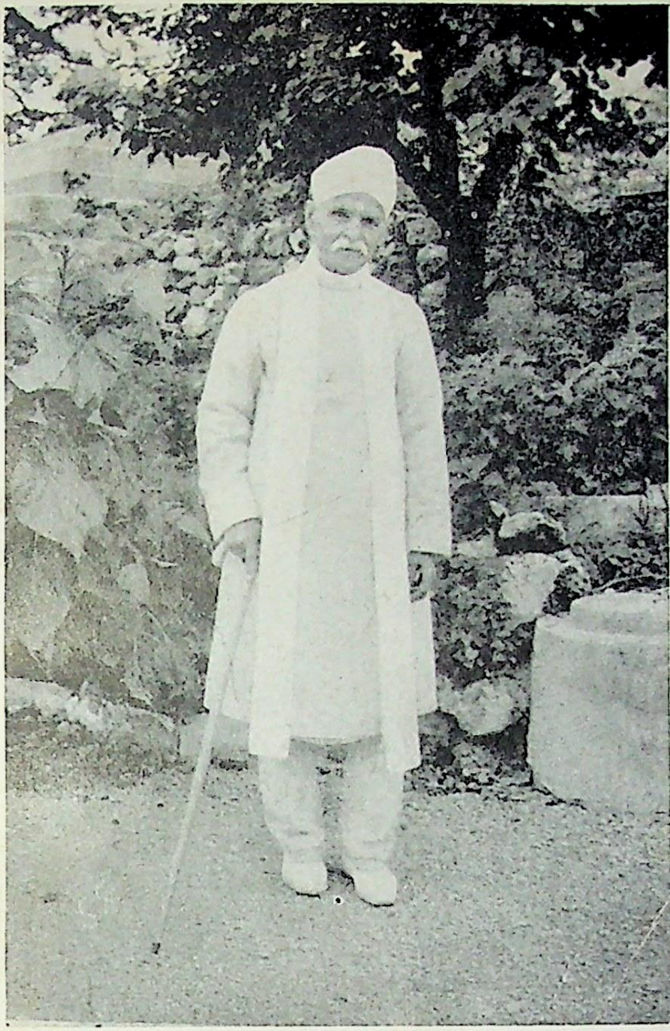
महाराज के कुटुम्ब में पहले सिर पर पंडिताऊ टोपी, कलीदार अँगरखा और देशी जूता पहनने का चलन था। महाराज की पोशाक भी पहले वही थी। उन दिनों उन्हें उसीका अभिमान था। प्रयाग के अल्फ्रेड पार्क में धोती पहनकर कोई जाने नहीं पाता था, पर मालवीयजी गये और उन्हें रोकने का साहस किसीने नहीं किया।

१६-१७ वर्ष की अवस्था में जब वे कालेज में पढ़ने गये, उन दिनों प्रान्तीय लेफ्टिनेण्ट गवर्नर लायल साहब कालेज में 'लायल क्लब' खोलने आये। उस समय के समारोह में भी मालवीयजी धोती, कोट, देशी जूता और घुटनों के ऊपर तक मोजा पहनकर गये थे। एक बुजुर्ग वकील ने बुलाकर समझाया कि अंग्रेजी समाज के लिए एक जोड़ी अंग्रेज़ी जूता रक्खो।

मऊ (ज़िला आजमगढ़) की बनी हुई रेशमी किनारे की बारीक और चौड़े पनहे की धोती और बाफ्ते का अचकन उनको बहुत पसन्द था।

मालवीयजी धोती पहनकर कौंसिल में भी गये थे। उन को सफेद रंग के कपड़े ही पसन्द हैं। काला रंग उनको बिलकुल ही नापसन्द है। मोजा भी वे सफेद ही रंग का पहनते हैं।

सिर पर एक निराले बंधान का सफेद साफा, गले में दोनों ओर घुटनों से नीचे तक लटकता हुआ सफेद दुपट्टा, लम्बा अचकन और पाजामा तथा जूता जैसा वे पहले सार्वजनिक जीवन में आने के बाद से पहनते आये थे, वैसा ही अब भी पहनते हैं। अन्तर पड़ा है तो केवल यह कि जूता पहले चमड़े



मालवीयजी

का फीतेदार पहनते थे, अब सफेद कपड़े का पहनते हैं। और ऊपर की पूरी पोशाक जहाँ पहले हरवक्त पहनते थे, वहाँ अब खास-खास मौक़ोंपर या सरकार के बड़े अफसरों की मुलाकात के समय ही पहनते हैं।

वृद्धावस्था के कारण उन्होंने पोशाक हलकी ज़रूर करली है। अब पाजामा, कुर्ता, गले में कमर के ऊपर तक लटकता हुआ रेशमी दुपट्टा और सिर पर पंडिताऊ टोपी, यही उनकी पोशाक है। हाथ में बुढ़ापे की साथिन छड़ी भी अब आ गई है।

अपनी पोशाक की विशेषता के कारण मालवीयजी भारत-वर्ष भर में, बड़ी-से-बड़ी भीड़ में भी, दूर से पहचाने जाते थे।

खान-पान में चटोरे बिलकुल नहीं हैं। पहले बाजार की केवल दूध की बनी हुई चीज़ें खाते थे; २०-२५ वर्ष हुए उसे भी छोड़ दिया।

सरकारी दावतों में दावत की समाप्ति पर बुलाये जाते थे।

चाय जीवन में दो ही बार, लगातार महीने, दो महीने तक, एन्ट्रेंस और एफ० ए० की परीक्षाओं के दिनों में पी थी।

हिन्दुओं का साधारण भोजन दाल, भात, रोटी और एक रसेदार और एक सूखी तरकारी यही उनका सदा का प्रिय भोजन है।

दाल बीस वर्ष से छोड़ रक्खी है।

पक्का खाना कभी-कभी रुचि बदलने के लिए लेते थे। अब केवल पकौड़ी का शौक़ शेष है। कभी महीने में एक-दो बार इच्छा हुई तो, बनवा लेते हैं।

सुप्रसिद्ध पंडित भीमसेन शर्मा ने एक बार गंगा-तट पर सनातन-धर्म-सभा में भाषण करते हुए कहा था कि "आलू मैले से पैदा होता है और कुपच भी होता है।" तबसे आलू खाना छोड़ दिया। किन्तु आलू मालवीयजी के पिता को बहुत पसन्द था, इससे उनके श्राद्ध के दिन वे बाग़ से आलू मँगाकर खाते हैं।

टमाटर बहुत पसन्द है।

फलों में सेव बहुत पसन्द है। सेव की फ़सल में उसका रस निकालकर पीते हैं और कभी-कभी तरकारी भी बनवाकर खाते हैं। मैंने पहले-पहल गत सितम्बर में सेव की तरकारी मालवीयजी ही की रसोई में खायी थी।

मालवीयजी स्वजातीय ब्राह्मणों ही के हाथ का बनाया भोजन करते हैं। रेल की यात्रा में दूध में आटा सानकर बनायी हुई पूरियाँ खा लेते हैं।

शरीर में तेल की मालिश रोज़ कराते हैं। तेलों में चन्दनादि, नारायण तेल और तिल का तेल ही प्रिय है। चन्दनादि तेल की मालिश लगातार पचास या पचपन वर्ष से कराते आ रहे हैं। बीच में कई वर्ष नारायण तेल की मालिश भी करायी है। आजकल महाबलादि तैल की मालिश कराते हैं।

सिर पर तिल ही का तेल लगाते हैं और सर्दी के दिनों में बादाम का तेल। बेले का तेल लगाते हैं तो सिर में दर्द होने लगता है।

उग्र गन्ध बिलकुल पसन्द नहीं है। इत्र शायद उन्होंने

कभी नहीं लगाया। कोई लगाकर उनके पास बैठ जाता है तो वह उनको प्रिय नहीं लगता।

माथे पर चन्दन का टीका सदा लगाये रहते हैं।

मालवीयजी समय के पाबन्द बिलकुल नहीं हैं। अपनी इस त्रुटि को वे स्वीकार भी करते हैं। ऐसे मौक़े अक्सर आते रहते हैं, जब वे यह कहते हुए स्टेशन की ओर चल पड़ते हैं कि शायद ट्रेन लेट आती हो। और अक्सर लेट ट्रेन उनको मिल भी जाती है। इस सम्बन्ध की कई कहानियाँ उनके साथ वालों में प्रसिद्ध हैं। एक बार दिल्ली में कोई सरकारी मीटिंग थी, उसमें जिस ट्रेन से ये जाना चाहते थे, वह इनके स्टेशन पर पहुँचते-पहुँचते निकल गई। उसके बाद ही वाइसराय स्पेशल ट्रेन से आये और वह आपको अपनी स्पेशल ट्रेन में लेगये।

भोजन का भी कोई ठीक समय निश्चित नहीं रहता। मिलने-जुलने वालों से जब फ़ुरसत पाते हैं, तब भोजन करते हैं।

भोजन हमेशा हिन्दू-नियमानुसार, पीढ़े पर बैठकर और ज़मीन पर थाली रखकर, करते हैं।

भोजन रसोई-घर ही में जाकर करते हैं।

हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक नियमों का पालन बहुत कष्ट सहन करके भी करते हैं।

घर में कोई अतिथि टिका होता है तो जबतक वह भोजन नहीं कर लेता, चाहे वह साधारण श्रेणी ही का क्यों न हो, तबतक भोजन नहीं करते। अतिथि के आराम की क्या व्यवस्था है, इस बात की जाँच दिन में कई बार नौकरों से करते रहते हैं।

मालवीयजी को किशोरावस्था में कसरत का बहुत शौक़ था। कुश्ती भी लड़ते थे और दंड-बैठक भी करते थे और मुग्दर भी घुमाते थे। कालेज के दिनों में क्रिकेट और टेनिस भी खेलते थे। पर सार्वजनिक जीवन में आने पर, जब काम का भार बढ़ गया, तब सब छूट गया। कभी-कभी आसन कर लिया करते थे, पर ४-५ वर्षों से वह भी छूट गया।

अब वृद्धावस्था में शाम को टहलने निकलते हैं; और जिस दिन नहीं जाते, कमरे या बरामदे ही में टहल लेते हैं।

पंद्रहवाँ दिन

२८ अगस्त

पिछले किसी दिन महाराज की रहन-सहन के बारे में कुछ चर्चा हुई थी, आज फिर वही प्रसंग, रात्रि के भोजन के बाद, चल पड़ा।

महाराज आचार के नियम पालन में बड़े दृढ़ हैं। उनका यज्ञोपवीत आठ वर्ष की अवस्था में हुआ, तब से उन्होंने संध्या-बन्दन प्रारंभ किया जो आज तक अक्षुण्ण गति से जारी है। रेल में सफर करते समय भी संध्या नहीं छूटती। संध्या ठीक समय पर हो इसका सदा ध्यान रखते हैं। शाम की संध्या में, कभी-कभी जब सभाओं में सम्मिलित रहते हैं या मिलने-जुलने वालों से घिरे रहते हैं, व्यतिक्रम हो जाता है और देर हो जाती है; पर रात्रि के भोजन के पहले संध्या अवश्य कर लेते हैं।

मैंने पूछा—जब आप राउंड टेबल कान्फ्रेंस में इंग्लैंड गये थे, तब भी क्या संध्या का क्रम नियमपूर्वक चलता था?

महाराज ने कहा—संध्या मैंने कहीं और कभी नहीं छोड़ी। सवेरे की संध्या में कभी व्याघात उपस्थित होता ही न था; क्योंकि प्रातःकाल नित्यकर्म करके ही बाहर निकलत था। शाम की संध्या जब फुरसत मिलती थी, तब करता था। संध्या में देर होने से मुझे तकलीफ़ होती है, इससे प्रयत्न करके समय निकाल ही लेता था।

मैंने पूछा—इंगलैंड में खाना-पान की क्या व्यवस्था रहती थी ?

इसपर महाराज ने कहा—जैसा यहाँ, तैसा वहाँ। जो पदार्थ यहाँ खाता हूँ, वही वहाँ खाता था।

इस संबंध मे मैंने जाँच करके मालूम किया है कि महाराज के लिए हरद्वार से गंगाजल से भरे हुए कई पीपे और आटा-दाल आदि रसोई के सामान, यहाँतक कि मिट्टी भी, इंगलैंड गयी थी। ऐसा करने में खर्च ज़रूर ज्यादा लगा होगा; पर आचार में जिसकी दृढ़ता है, वह पैसे को आचार से अधिक मूल्यवान् क्यों समझेगा ? या तो वह वहाँ जायेगा ही नहीं, जहाँ वह अपने धर्म का पालन ठीक-ठीक नहीं कर सकेगा; और किसी प्रकार विवश होकर जायगा ही, तो अपने आचार की रक्षा के लिए वह अपनी अधिक-से-अधिक शक्ति लगा देगा। जो दृढ़ नहीं होगा, वही तर्कों से उद्विग्न भी होगा। मेराविश्वास है कि मालवीयजी महाराज को धन-बल न हो तो भी वे आचार की रक्षा कर सकते हैं, ऐसा आत्मबल उनमें है।

मालवीयजी का जन्म ऐसे माता-पिता, पितामह और प्रपितामह के परिवार में हुआ था, जिसमें सनातन-धर्म के विषयों का पालन पीढ़ियों से श्रद्धा और भक्ति के साथ किया जाता रहा था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि मालवीयजी का जो स्वरूप आज है वह केवल इसी पीढ़ी का नहीं है, उसका निर्माण पितामह के समय से हो रहा था। अतएव बाहरी शिक्षा के प्रभाव से नहीं, स्वभाव ही से उनमें हिन्दू-धर्म और हिन्दू-

जाति के प्रति जो अटल श्रद्धा है, वह कृत्रिम नहीं है।

एक हिन्दू-संस्कृति से अनुप्राणित वंश में जन्म लेने के सिवा उन्होंने स्वयं हिन्दू-धर्म-शास्त्रों का गभीर अध्ययन किया है। इससे संस्कृति के मूल को अमृत का सिंचन मिल गया, जिससे वह उनके सम्पूर्ण जीवन में सुपल्लवित, पुष्पित और फलित दिखाई पड़ रही है।

सरकारी स्कूलों और कालेजों में धर्म-शिक्षा का अभाव उनको युवावस्था के प्रारंभ ही से खटकता रहा। कालेज से निकलने के बाद उन्होंने हिन्दू-जाति में धर्म-शिक्षा के प्रचार के लिए अनवरत उद्योग प्रारंभ कर दिया, जो अबतक जारी है।

धर्म-प्रचार के कार्य में उनके सबसे पहले साथी पंडित दीनदयालु शर्मा थे; जिन्होंने सन् १८८५ में मथुरा से 'मथुरा-समाचार' नामका पत्र निकाला था, जिसमें सनातन-धर्म के सिद्धान्तों पर भी लेख निकलते रहते थे।

पंडित दीनदयालु शर्मा से मालवीयजी की पहली मुलाकात सन् १८८६ में, काँग्रेस के दूसरे अधिवेशन में, कलकत्ते में हुई।

दोनों महानुभावों ने वहीं काँग्रेस की तरह सनातन-धर्म को भी एक सुसंगठित संस्था क़ायम करने का विचार निश्चित किया।

अगले साल सन् १८८७ ई० में हरिद्वार में सनातन-धर्मियों की एक बड़ी सभा पंडित दीनदयालु शर्मा के उद्योग से हुई। उसमें दूर-दूर से सनातन-धर्म के विद्वान् और प्रेमी सज्जन आये थे। लाहौर के राजा हरिवंशसिंह, पंडित नन्दकिशोर देव शर्मा, पंडित अम्बिकादत्त व्यास, पंडित देवीसहाय और

बा० बालमुकुन्द गुप्त आदि कितने ही विद्वान् उस सभा में सम्मिलित हुए थे। सुप्रसिद्ध थियासोफिस्ट कर्लन ऑलकॉट भी आये थे और उन्होंने व्याख्यान भी दिया था।

उसी सभा में भारत-धर्म-महामंडल की नींव पड़ी और मालवीयजी भारत-धर्म-महामण्डल के महोपदेशकों में गिने जाने लगे।

भारत-धर्म-महामण्डल का दूसरा अधिवेशन वृन्दावन में हुआ। उसमें मालवीयजी ने सनातन-धर्म पर एक बड़ा प्रभावशाली भाषण किया।

१९०० में महामण्डल का अधिवेशन दिल्ली में हुआ। दरभंगा-नरेश उसके सभापति थे। मालवीयजी ने उसमें भी हिंदू-संस्कृति की विशेषता पर बड़ा हृदय-ग्राही भाषण दिया। १९०२ में महामण्डल की रजिस्ट्री हुई और वह स्वामी ज्ञानानन्दजी के प्रबन्ध में चला गया। थोड़े ही समय में स्वामीजी की कार्य-प्रणाली से मालवीयजी का मत-भेद हो गया और महाराज ने १९०६ के प्रयाग में कुम्भ के अवसर पर 'सनातन धर्म' का एक विराट अधिवेशन स्वतन्त्र रूप से कराया।

उसी अधिवेशन में उन्होंने हिन्दू-विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव पास कराया था।

उस सभा में रायबहादुर पण्डित दुर्गादत्त पन्त भी उपस्थित थे। वहाँ से जाते ही उन्होंने हरद्वार में एक 'ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम' खोलने की इच्छा प्रकट की। मालवीयजी ने २५) की सब से पहली रक़म पन्तजी को ब्रह्मचर्याश्रम खोलने के लिए दी थी।

वे शुरू ही से उसके ट्रस्टियों में रहे और लगातार दश वर्षों तक उसकी शिक्षा-समिति के अध्यक्ष भी रहे। वे बराबर उसके अधिवेशनों में सम्मिलित होते रहे।

'हिन्दू-विश्वविद्यालय' के लिए जब वे देशभर में दौरा करने निकले, तब भी जहाँ-जहाँ गये, हिन्दू-संगठन, सनातन-धर्म और हिन्दू-संस्कृति पर बड़े ही विचार-पूर्ण भाषण किये।

विश्वविद्यालय के सिवा सनातनधर्म-महासभा का काम भी उन्होंने ज़ोरों से चलाया। गाँव-गाँव, नगर-नगर, सनातन-धर्म के उपदेशक भेजे और सबके लिए ख़र्च की व्यवस्था की। पंजाब में सनातनधर्म-सभा ने अच्छा काम किया।

१९२८ की जनवरी में प्रयाग में 'अखिल भारतवर्षीय सनातनधर्म महासभा' का एक विराट् अधिवेशन हुआ। मालवीयजी उसके सभापति थे। उसमें हिन्दू-धर्म के अनेक मूल-तत्त्वों पर अच्छी तरह विचार हुआ।

१९२८ की २७ जनवरी को मालवीयजी ने हिन्दू-विश्वविद्यालय में 'अखिल भारतवर्षीय सनातन-धर्म-महासभा' की नींव डाली। वे ही उसके अध्यक्ष चुने गये। सनातनधर्म-महासभा के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए काशी से 'सनातन-धर्म' नाम का एक साप्ताहिक पत्र भी उन्होंने निकाला।

१९१९ में जलियाँनवाला बाग़-हत्याकांड के अवसर पर महाराज ने पंजाब पहुँचकर पंजाबियों को, जिनमें हिन्दू-मुसलमान दोनों थे, जो सहायता पहुँचायी, उसने पंजाब को महाराज का दास बना दिया। महाराज पंजाब में देवता की तरह पूजे जाने लगे।

१९२४ में रावलपिंडी में प्रान्तीय सनातनधर्म-सम्मेलन हुआ। महाराज उसके सभापति हुए। उस पंजाब वर्ष प्रांत भर में तीन सौ से अधिक सभायें बनीं और सौ से अधिक महावीर-दल क़ायम हुये। महावीर-दल पंजाब में महाराज की बड़ी मूल्यवान यादगार है।

१९२५ में महाराज ने अमृतसर में धर्म-यज्ञ कराके दुर्गियाना मंदिर और सरोवर की स्थापना की।

१९२८ के मार्च महीने में महाराज ने पंजाब की यात्रा फिर की। इस अवसर पर सनातनधर्म-सभा ही ने नहीं, आर्य-समाज, हिन्दू-सभा, कांग्रेस-कमेटी और म्युनिसिपैलिटियों ने भी जी खोल-कर महाराज का स्वागत किया।

१९२९ में महाराज ने पंजाब में सनातनधर्म के प्रचार के लिए दौरा किया और 'सिन्ध-बिलोचिस्तान-सनातनधर्म-सम्मेलन' का सभापतित्व किया।

१९३४ में रावलपिंडी में सनातनधर्म-सम्मेलन के वे सभापति हुए। इस अवसर पर महाराज का जैसा स्वागत पंजाब ने किया, वह अपूर्व था।

सोलहवाँ दिन

२९ अगस्त

मैं ६ अगस्त से महाराज के पास हूँ। उन्हींके बँगले के एक कमरे में ठहरा हूँ और उन्हींकी रसोई में भोजन करता हूँ। आज सवेरे मैं शहर गया था। शहर से एक बजे के बाद लौटा। महाराज का नौकर मूड़ी बँगले के दरवाजे ही पर मिला। उसने कहा—महाराज चार बार आपकी खोज करा चुके। चलिए, भोजन के लिए बुला रहे हैं।

मैं गया तो महाराज रसोई-घर में मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। देखते ही कहने लगे—क्षमा कीजियेगा, बालक और वृद्ध क्षम्य माने गये हैं।

मैंने समझा, अतिथि-सत्कार के ख़याल से महाराज कह रहे हैं।

मैंने कहा—आप तो मेरे पिता-तुल्य हैं, गृहपति हैं, आपके भोजन कर लेने के उपरान्त ही मुझे भोजन करना चाहिये।

महाराज ने उस दिन मुझे अपने सामने ही बैठाकर भोजन करने को विवश किया। यों तो वे सदा नियम से अकेले, एकांत में, भोजन किया करते हैं।

मैं भोजन करके अपने कमरे में आया तो मुझे ऐसा लगा कि महाराज को मेरे कारण कुछ कष्ट पहुँच रहा है। पण्डित राधाकांत ने भी कई बार कहा था कि मैं शीघ्र भोजन कर लिया

करूँ; पर मैंने यह समझकर विशेषरूप से ध्यान नहीं दिया था कि शायद शिष्टाचार-वश कह रहे हैं।

दोपहर के भोजन का मेरा कोई नियमित समय कभी नहीं रहा। ग्यारह बजे से एक बजे के अन्दर किसी समय कर लेता हूँ। पहले दिन (६ अगस्त को) ही मैंने इस बात का ध्यान रक्खा कि पहले महाराज भोजन कर लें, तब मैं रसोई-घर में जाऊँ। बाद को मालूम हुआ कि महाराज का कोई निश्चित समय नहीं, इसलिए मैंने उनका इन्तज़ार करना छोड़ दिया। आज मालूम हुआ कि महाराज बार-बार नौकरों से पूछा करते हैं कि मैंने भोजन किया या नहीं। जबतक मैं भोजन नहीं करता था, वे अपनी भूख सँभाले हुए बैठे रहते थे; क्योंकि मैं अतिथि था। यह बात नहीं कि मैं कोई विशिष्ट व्यक्ति हूँ। मेरी जगह कोई मज़दूर यहाँ टिका होता तो भी महाराज उसे भोजन कराये बिना स्वयं भोजन न करते; क्योंकि वे अथिति-सत्कार को अपने धर्म का एक अंग समझते हैं।

रात में आठ बजे के लगभग मैं महाराज से मिला, तब मैंने प्रार्थना की कि मैं पढ़ने-लिखने में लगा रहता हूँ, इससे समय का पता नहीं चलता। आप मेरे कारण से अपने भोजन में व्यतिक्रम न होने दें।

इस पर महाराज ने कहा—मैं तो समझ रहा था कि आप मेरी प्रतीक्षा करते रहते हैं कि मैं भोजन करलूँ तब आप करें। मेरे भोजन का कोई निश्चित समय नहीं है। सो आप स्वेच्छानुसार जब चाहें भोजन कर लिया करें।

यह बात यहीं समाप्त हो गई। इसके बाद मैंने नागरी लिपि के बारे में महाराज के आन्दोलन की बात छेड़ी।

महाराज के जीवन के प्रारम्भिक काल में हिन्दी के कई प्रतिष्ठित कवि और लेखक वर्तमान थे। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कीर्ति से हिन्दी की दिशायें प्रकाशित हो ही रही थीं; कानपुर के पंडित प्रतापनारायण मिश्र, प्रयाग के पंडित बालकृष्ण भट्ट, पं० रामप्रसाद त्रिपाठी, पं० देवकीनन्दन तिवारी और कालाकाँकर तथा बाद में कलकत्ते के बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी की अनवरत सेवा कर रहे थे।

महाराज को कविता करने का शौक किशोरावस्था ही से हो चला था। इससे कुछ बड़े होने पर उनमें मातृभाषा की सेवा का भाव विशेष रूप से जाग्रत हुआ।

१८८४ में, प्रयाग में 'हिन्दी-उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य सभा' का जन्म हुआ। इसका उद्देश्य अदालतों में नागरी लिपि का प्रवेश कराना था। मालवीयजी ने इसमें बड़ी लगन से काम किया।

पंडित बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' में मालवीयजी ने नागरी के सम्बन्ध में कई लेख लिखे और सभाओं में भाषण भी दिये। तथा मित्रों को इस आन्दोलन में भाग लेने के लिए उत्साहित किया।

महाराज कहने लगे—अदालतों में देवनागरी लिपि को सरकार द्वारा स्वीकृत कराने के लिए मैंने लगातार तीन वर्षों तक बड़ा परिश्रम करके प्रार्थनापत्र तैयार किया था। और जब वह

लिखकर तैयार हुआ तब मेरी अन्तरात्मा भीतर से कह उठी—यह अवश्य सफल होगा।

सर एन्टोनी मेकडानल (तत्कालीन गवर्नर) ने अकाल के समय में प्रजा की बड़ी सहायता की थी। उसका गुण-गान करने के लिए मालवीयजी ने प्रान्त की ओर से उसे एक पार्टी दी। पार्टी बड़े शान की थी। रामलीला में रोशनी के जो हन्डे जलते हैं, सबको मँगाकर ऐसी जगमगाहट पैदा करदी गई थी कि अंग्रेजों का अनुमान था कि एक लाख रुपये ख़र्च हुआ होगा; पर कुल ४०००) ख़र्च हुआ था।

मालवीयजी ने कहा—यह पार्टी नागरी लिपि के लिए सर एन्टोनी की सहानुभूति प्राप्त करने की आंतरिक इच्छा से मैंने दी थी। पार्टी की सफलता का गवर्नर पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इसके बाद जब मैं देवनागरी के लिए उससे मिला, तब उसने कहा—ज़रा ठहर कर आइए।

कुछ दिन रुककर, २ मार्च १८९८ को, अयोध्या-नरेश महाराजा प्रतापनारायण सिंह, माण्डा के राजा रामप्रसाद सिंह, आवागढ़ के राजा बलवन्तसिंह, और पं० सुन्दरलाल को लेकर मालवीयजी प्रयाग में छोटे लाट से मिलने गये। नागरी लिपि के सम्बन्ध का अंग्रेजी में लिखा हुआ प्रार्थना-पत्र, जिसका शीर्षक 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजुकेशन इन नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज' था, लेकर जब यह पार्टी छोटे लाट की कोठी पर पहुँची, तब राजाओं ने यह प्रश्न खड़ा कर लिया कि कौन आगे चलेगा। आगे-पीछे का यह उनका झगड़ा खान्दानी था। अंत में सबने

यह निर्णय किया कि मालवीयजी आगे चलें, ये ब्राह्मण हैं, इससे सबसे श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार चलकर मालवीयजी ने सर एन्टोनी के सामने अपना प्रार्थना-पत्र रक्खा।

सर एन्टोनी ने मालवीयजी की सब माँगें स्वीकार करलीं और अदालतों में उर्दू के साथ नागरी लिपि के भी चलन की आज्ञा जारी करदी।

इस सफलता का समाचार पाकर मुसलमानों में बड़ी खलबली मची। उन्होंने बड़े अड़ंगे लगाये; पर छोटे लाट का अविचलित रुख देखकर सब ठंडे पड़ गये।

उस प्रार्थना-पत्र के तैयार करने में मालवीयजी ने नागरी लिपि के पक्ष-समर्थन में कहाँ-कहाँ से प्रमाण संग्रह किये थे, और कैसी निर्भीकता से, जोरदार भाषा में, अपने पक्ष का समर्थन किया था, यह जानना हिन्दी के इतिहास लिखनेवालों के लिए बड़ा उपयोगी होगा। उन्हें यह प्रार्थना-पत्र अवश्य पढ़ना चाहिए। इससे हिन्दी भाषा और लिपि के बारे में हमारी ज्ञान-वृद्धि ही न होगी, बल्कि हम यह भी देख लेंगे कि महाराज जिस काम को हाथ में लेते हैं उसे कितनी तन्मयता और कितने गहरे परिश्रम से पूरा करते हैं।

अपने पाठकों के लिए उस प्रार्थना-पत्र के कुछ चुने हुए अंश हम यहाँ देते हैं:—

"नागरी अक्षरों का कोई कितना ही बड़ा विरोधी हो और घोर शत्रु ही क्यों न हो, वह यह नहीं कह सकता कि इनमें किसी प्रकार की त्रुटि है। इन अक्षरों की मनोहरता, सुन्दरता,

स्पष्टता, पूर्णता और शुद्धता की विद्वानों ने केवल प्रशंसा ही नहीं की है, बल्कि उसीके आधार पर रोमन में अन्य भाषाओं के शब्दों के लिखने के लिए नियम और चिन्ह बनाए गए हैं।

"प्रोफेसर मोनियर विलियम्स कहते हैं कि "स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि देवनागरी अक्षरों से बढ़कर पूर्ण और उत्तम अक्षर दूसरे नहीं हैं।" प्रोफेसर साहब ने तो इनको देव-निर्मित तक कहा है।

"सर आइजेक पिटमैन ने कहा है कि "संसार में यदि कोई सर्वाङ्गपूर्ण अक्षर हैं तो नागरी के हैं।

"बम्बई सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस सर अर्सकिन पेरी ने "नोट्स टु ओरिएण्टल केसेज़" की भूमिका में लिखा है कि 'एक लिखित लिपि की सर्वांगपूर्णता इसीसे जान पड़ती है कि प्रत्येक शब्द का उच्चारण उसके देखने ही से ज्ञात हो जाय और यह गुण भारतवर्ष के अन्य अक्षरों की अपेक्षा देवनागरी अक्षरों में अधिक पाया जाता है, जिसमें संस्कृत लिखी जाती है। इस गुण से लाभ यह है कि हिन्दू बालकों ने जहाँ अक्षर पहचान लिए कि वे सुगमता से तथा बिना रुकावट के पढ़ने लग जाते हैं। इस कारण जिस भाषा का पढ़ना सीखने में योरोप में जहाँ बहुधा कई वर्ष लग जाते हैं वह भारतवर्ष में बहुधा तीन ही मास में आ जाती है।'

" 'पायनियर' पत्र ने भी १० जुलाई सन् १८३७ ई० के अङ्क में लिखा है कि 'नागरी अक्षर मन्दगति से लिखे जाते हैं, यहाँ तक कि उनमें लिखे हुए शब्द को उसका अर्थ न

जाननेवाला व्यक्ति भी शुद्धतापूर्वक पढ़ लेगा।'

"शिक्षा-विभाग के सन् १८६३-६४ के विवरण के इकसठवें पृष्ठ में लिखा है कि इस वर्ष ३०५७४८ पुस्तकें छपीं और खरीदी गईं। इनमें से ५०२६० उर्दू की, २०९९८० (जिनमें २००० नक्शे थे) हिन्दी की, १०००० फारसी की, और १९६० अंग्रेजी की थीं, तथा ९००० हिन्दी-उर्दू के नक्शे थे।

"सन् १८९१ की मनुष्य-गणना लिखने के लिए जितने लोग नियुक्त किये गये थे, उनमें से ८०११८ ने हिन्दी में, ४०१९७ ने कैथी में (जो हिन्दी का एक रूपान्तर है) लिखा। अर्थात् सब मिलाकर १२०३१५ लोगों ने हिन्दी में, ५४२४४ ने फारसी में लिखा।

"जिस समय गाँवों में स्कूल खोले गये, उस समय हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या उर्दू पढ़नेवालों से छः गुनी थी। और पचास वर्ष तक उर्दू का आदर और हिन्दी का निरादर रहने पर भी ३१ मार्च सन् १८९६ को १०५४४६ बालक हिंदी और ५२६६९ बालक उर्दू पढ़ते थे।

"३१ मार्च सन् १८९६ ई० को वर्नाकुलर प्राइमरी स्कूलों में १३५४९७ हिन्दू और २१५१० मुसलमान बालक शिक्षा पाते थे। उनमें से ५२६६९ उर्दू पढ़ते थे।

"यदि यह मान भी लिया जाय कि फ़ारसी में अधिक शीघ्रता से काम चलता है तो भी यह बात ऐसी नहीं है, जिससे नागरी के गुणों तथा स्वत्वों में कोई कमी आवे। शिकस्त लिखने में

यदि अदालत का कुछ थोड़ा-सा समय बच जाता है तो इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि उन्हीं काग़ज़ों के पढ़ने में कितना समय नष्ट होता है। और अन्त में नामों आदि के विषय में जो सन्देह बाकी रह जाता है, वह घलुए में है।

"श्री फ्रेड्रिक जॉन शोर ने लिखा है कि 'भारतवासियों में से अधिकांश लोगों को उनकी देश-भाषा द्वारा शिक्षित बनाना चाहिए, तथा उसीके द्वारा वे शिक्षित बनाए जा भी सकते हैं।'

"विद्वान् मेकॉले ने भी यही बात कही है कि 'जब केवल प्रारम्भिक शिक्षा ही उद्देश्य हो तो देशवासियों ही की भाषा-द्वारा सिखाना सबसे सुगम है।'

"कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने सन् १८५४ के आज्ञापत्र में लिखा है कि 'हम लोगों का न तो यह उद्देश्य ही है और न इच्छा ही है कि देश-भाषा के स्थान पर अंग्रेजी पढ़ाई जाय। हम लोगों ने सदा उन भाषाओं के प्रचार की आज्ञा पर उचित ध्यान दिया है, जिन्हें देश-वासियों का समूह जानता हो।'

"१८५४ ई० के आज्ञापत्र में बोर्ड ऑफ रेवेन्यू ने यह आदेश किया 'कि पटवारियों के काग़ज़ात हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में लिखे जायँ।'

"इसपर लोगों को यह आशा हुई कि अब सरकार हिन्दी के स्वत्त्वों पर विचार कर उसका कचहरियों में प्रचार करेगी। इसलिए हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या उर्दू पढ़नेवालों से छः गुनी होगयी थी। परन्तु यह अवस्था बहुत थोड़े ही काल तक रही। जब लोगों ने यह देखा कि कचहरी की भाषा में कोई परिवर्तन नहीं

हुआ और न होने की आशा ही है, उर्दू जाननेवालों की पूछ है और वे उच्चपद प्राप्त कर प्रत्येक प्रकार से अपनी उन्नति कर रहे हैं और हिन्दी जाननेवालों की कहीं कोई सुध भी नहीं लेता है; तब उन्हें हारकर अपने मातृभाषा-प्रेम को तोड़ना पड़ा और उर्दू भाषा की ओर दत्तचित्त होना पड़ा।

"भाषा की इस कठिनता ने उनको कृतकार्य न होने दिया और अन्त में केवल वे ही लोग शिक्षाकांक्षी रह गये, जिनके पास जीविका-निर्वाह के लिए नौकरी के अतिरिक्त और कोई अवलम्ब न था। इस प्रकार सरकार का जनसाधारण में विद्या फैलाने का उद्योग निष्फल हुआ।

"इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित तालिका से होती है। पश्चिमोत्तर प्रदेश के प्राइमरी (हल्काबन्दी) स्कूलों में सन् १८६० से १८७४ तक हिन्दी तथा उर्दू पढ़नेवालों की तुलनात्मक संख्या देखिए :—

वर्ष	पश्चिमोत्तर प्रदेश कमाऊँ तथा गढ़वाल को छोड़कर		कमाऊँ और गढ़वाल
	उर्दू फारसी	हिन्दी	हिन्दी
१८६०-६१	११४९०	६९१३४	...
१८६१-६२	१७४३१	७२६४८	...
१८६२-६३	२००७३	७३७२६	११८७
१८६३-६४	२०१८०	७३६२५	१५६७

१८६४-६५	२१६१८	६०६७३	२१२७
१८६५-६६	२१९८२	७६५१६	१३६३
१८६६-६७	२४०५८	८०९६१	१४१२
१८६७-६८	२५६५७	७६३००	१५०२
१८६८-६९	३२३७७	७९०२३	१३३६
१८६९-७०	३२४४५	७४३७२	२०५५
१८७०-७१	३४६२१	७७७७८	३१७३
१८७१-७२	४८६६५	८८१७९	४१४५
१७७२-७३	४३६२९	७६४७६	५१९८
१७७३-७४	४८२२९	८५८२०	६७०८

''ये सब आँकड़े शिक्षा-विभाग के विवरण से लिये गये हैं। इसके पीछे के विवरण में हिन्दी और उर्दू पढ़नेवालों की संख्या अलग-अलग नहीं दी गई है, परन्तु यह पता लगा है कि ३१ मार्च, सन् १८९६ ई० को ५०३१६ बालक उर्दू और १००४०४ बालक हिन्दी पढ़ते थे। अब इन संख्याओं से यह सिद्ध होता है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश में, गढ़वाल और कमाऊँ को छोड़कर, जहाँ कचहरियों में उर्दू मात्र का प्रचार है, सन् १८६२-६३ में उर्दू और हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या ९३७९९ थी। और बारह वर्ष उपरान्त सन् १८७३-७४ में यह संख्या केवल १३४०४९ हुयी अर्थात् दूनी से कुछ कम।

''राजा शिवप्रसादजी ने अपने 'मेमोरेण्डम ऑन कोर्ट कैरेक्टर' शीर्षक लेख में दुःख प्रकट किया है। उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचार न होने का कारण कचहरियों में फारसी अक्षरों का प्रचार होना बतलाया था, तथा इस आपत्ति को दूर करने के

लिए नागरी अक्षरों के प्रचार की सम्मति दी थी, पर किसीने उस पर ध्यान नहीं दिया।

"इसके कुछ काल उपरान्त सर विलियम म्योर की सेवा में एक अभ्यर्थना पत्र भेजा गया, जिसमें कचहरियों और दफ्तरों में नागरी अक्षरों के प्रचार के लिए प्रार्थना की गई थी। इस अभ्यर्थना-पत्र में भी दिखाया गया था कि बिना नागरी अक्षरों के प्रचार के इस देश में विद्या नहीं फैल सकती। सन् १८७४ के जनवरी मास में सरकार ने यह उत्तर दिया कि वह यथावसर भलीभाँति विचार करेगी।

"सन् १८७३-७४ के विवरण में शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने भी हिन्दी के प्रचार पर जोर दिया। उनकी यह सम्मति थी कि उर्दू केवल उन्हीं जगहों में पढ़ाई जाय जहाँ उसकी आवश्यकता या चाह है और सर्वसाधारण की शिक्षा हिन्दी भाषा के द्वारा ही होनी चाहिए।

"सरकार ने दो वर्ष उपरान्त सन् १८७७ ई० में यह आज्ञा दे दी कि जिसने उर्दू या फारसी में एंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा न पास की हो वह किसी दफ्तर में दस रुपये या उससे ऊपर की नौकरी न पावे, चाहे उस दफ्तर में केवल अंग्रेजी की ही आवश्यकता क्यों न हो। इस प्रकार हारकर लोगों ने हिन्दी छोड़कर उर्दू पढ़ी। इस आज्ञा का प्रचार सन् १८९६ ई० तक रहा, जब सर एण्टोनी मेकडॉनल ने इसे रद कर दिया।

"सन् १८७३-७४ की वर्नाकुलर मिडिल परीक्षा के लिए ४३४ बालकों ने उर्दू और १३१५ ने हिन्दी पढ़ी अर्थात् हिन्दी

पढ़ने वालों की संख्या तिगुनी थी। और सन् १८९५-९६ में २८१४ बालकों ने उर्दू में और ७८५ बालकों ने हिन्दी में परीक्षा दी अर्थात् उर्दू पढ़नेवालों की संख्या चौगुनी हो गई।

"जब हम परीक्षा के परिणाम पर ध्यान देते हैं तब यह देख पड़ता है कि हिन्दी में पास करने वालों की संख्या उर्दू वालों से अधिक होती हैं। इस कथन की पुष्टि के लिए यहाँ पर गत पाँच वर्षों की अवस्था नीचे दिखाते हैं:—

वर्ष	उर्दू			हिन्दी		
	परीक्षा दी	पास हुए	प्रति शत	परीक्षा दी	पास हुए	प्रतिशत
१८९१-९२	२२२७	११२१	४१	६२८	३५१	५६
१८९२-९३	२६८९	१२५४	४७	७२४	४२६	५८
१८९३-९४	२९६७	१४२८	४८	७९२	४०६	५१
१८९४-९५	२९३१	१२०५	४१	८१४	३८६	४७
१८९५-९६	२८१४	१२४७	४४	७८५	४७४	६०

"वर्नाकुलर मिडिल परीक्षा में व्याकरण तथा साहित्य को छोड़कर हिन्दी तथा उर्दू के सब ग्रंथ एक से ही हैं। अतएव जब हिन्दी पढ़नेवाले अधिक पास होते हैं तब उससे यही सिद्ध होता है कि उस भाषा में सुगमता से वे विद्या उपार्जन कर सकते हैं।

"पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति के स्थान पर पूरी अवनति हुई है; क्योंकि इन स्थानों की कच-

हरियों में देशभाषा और देशी अक्षरों के स्थान पर एक विदेशी भाषा और विदेशी अक्षरों का प्रचार है ।

"मध्य प्रदेश के हिन्दी-भाषी स्थानों में सन् १८७२ ई० तक फारसी का प्रचार था। सन् १८७२ ई० में भारत सरकार ने यह आज्ञा दी कि नागरी अक्षरों का प्रचार हो; परन्तु राज्य-कर्मचारियों की अपार दया से सन् १८८१ ई० तक इस आज्ञा का प्रत्यक्ष फल न देख पड़ा। इस वर्ष जुडिशल कमिश्नर ने चीफ़ कमिश्नर के आदेशानुसार यह आज्ञा दे दी कि अर्जी दावे हिंदी में लिखे जाया करें तथा डिग्री, हुक्म, फैसले आदि हिन्दी में लिखे जायें और जो मनुष्य शीघ्रता तथा शुद्धता से हिन्दी न पढ़ लिख सकता है, वह नौकर न रखा जावे। उस आज्ञा का पालन अब पूरी रीति से हो रहा है; और शिक्षा पर उस परिवर्त्तन का प्रभाव भी अच्छा पड़ा है। फलस्वरूप सन् १८८१ ई० में प्रारम्भिक स्कूलों में जब ७४५२९ विद्यार्थी थे, वहाँ १८९५-९६ के अन्त में ११७८९६; अर्थात् लगभग ४३००० अधिक हो गये। पर पंजाब में, जहाँ मध्यप्रदेश से जन-संख्या दूनी है और जहाँ विश्व-विद्यालय और आर्यसमाज प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पूर्ण उद्योग कर रहे हैं, गत १५ वर्षों में केवल १६००० विद्यार्थी बढ़े और पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में ४९००० घट गये। इसका कारण केवल यही है कि इन दोनों प्रान्तों की कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में देशभाषा और देशी अक्षरों के बदले फारसी अक्षरों तथा उर्दू भाषा का प्रचार है।

"जब एजुकेशनल कमीशन नियत किया गया तब अलमोड़ा

के श्री ब्रैडेन ने एक लेख कमीशन के विचारार्थ छपवाया था। उस लेख में उन्होंने यह दिखाया था कि हिन्दी ही उत्तर भारतवर्ष में हिन्दुओं की मातृभाषा है, उर्दू नहीं; और उनको समझाने तथा उनके हृदय पर प्रभाव जमाने का सर्वोत्तम साधन यही है।

"इलाहाबाद के मेयो हॉल में कमीशन को अभिनन्दन-पत्र दिये गये थे। १९ अगस्त सन् १८८२ ई० के "पायनियर" के अनुसार कमीशन के सभापति ने उसके सभासदों से कुछ कहने को कहा। इसपर माननीय श्री सय्यद महमूद ने हिन्दी और उर्दू के विवादित विषय पर एक वक्तृता दी। जिसमें उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि प्रजावर्ग का अधिकांश हिन्दी के पूर्ण प्रचार के पक्ष में जान पड़ता है। यह विवाद हिन्दी और उर्दू भाषाओं का नहीं है, बल्कि नागरी (देवनागरी) और फारसी अक्षरों का है। अन्त में यह कहा कि 'यदि कमीशन पश्चिमोत्तर प्रदेश के स्कूलों में हिन्दी के अधिक प्रचार की सम्मति देगा तो मैं उसका समर्थन करूँगा।'

"सन् १८९१ की मनुष्य गणना के अनुसार इस प्रान्त में ४६९०५०८५ लोग बसते हैं। इनमें से ४०३८०१६८ अर्थात् ८६.१ प्रति सैकड़ा हिन्दू और ६३४६६५१ अर्थात् १३.५ प्रति सैकड़ा मुसलमान हैं। मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से यह भी प्रकट होता है कि प्रति चार मुसलमानों में से एक शहर में तथा तीन गाँवों में रहते हैं। इस बात को सब लोग स्वीकार करेंगे कि गाँव के मुसलमानों की भी वही भाषा है जो हिन्दुओं की, अर्थात् हिन्दी।

"सन् १८८१ और १८९१ की मनुष्य गणना के समय

गणना करनेवालों की ओर से कहा गया था कि वे साधारण बोली के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' नाम लिखें तथा श्रीयुत बेली ने अपने सन् १८९१ के विवरण में लिखा है कि 'हिन्दुस्तानी' शब्द के अन्तर्गत शहरों की उर्दू तथा गाँवों की हिन्दी है। इस नियम के अनुसार ४६९०५०८५ लोगों में से ४५८८२२६२ हिन्दुस्तानी बोलते थे। श्रीयुत बेन्स ने अपने विवरण में हिदुस्तानी शब्द का प्रयोग करना अस्वीकार किया और पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा को हिन्दी ही नाम दिया। सन् १८७२ ई० में ४३१९३००४ व्यक्ति हिन्दी बोलते थे।

"श्रीयुत नेस्फील्ड ने एजुकेशन कमीशन के सम्मुख कहा था कि 'अवध के स्कूलों में कैथी पढ़नेवालों का तिहाई हिस्सा मुसलमान है।'

"सर अर्स्किन पेरी का कहना है कि 'बालक तीन मास में नागरी अक्षरों का पढ़ना सीख सकते हैं। यदि पढ़े-लिखे लोग केवल एक घण्टा प्रति दिन उसके लिए लगावें तो उससे भी कम समय में उनको पढ़ना आ जायगा।'

"हिन्दुस्तान की भाषा हिन्दुस्तानी हो, जो प्रतिदिन की बोलचाल की भाषा से मिलती-जुलती हो अर्थात् जिसमें न फारसी के और न अरबी के कठिन शब्द हों और न हिन्दी तथा संस्कृत के, केवल ऐसे ही शब्दों का उसमें प्रयोग हो जो अत्यन्त सरल और सब लोगों की समझ में आते हों। नागरी अक्षरों के प्रचार से ऐसी भाषा का स्वतः व्यवहार होने लगेगा। इसके लिए उद्योग करने की ज़रा भी आवश्यकता न पड़ेगी।

"मुसलमानी राज्य के प्रारम्भ से लेकर अकबर के राज्य के मध्य तक माल-विभाग में हिन्दी का, और दीवानी तथा फौजदारी कचहरियों में फारसी भाषा का प्रयोग होता था। बृटिश-राज्य की स्थापना के बाद कुछ समय तक इसी भाषा से काम चला, पर थोड़े ही दिन बीतने पर यह सोचा गया कि सारी अदालतों और सारे सरकारी दफ्तरों में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाय, परन्तु यह प्रस्ताव ब्रिटिश-राज्य के नायकों को रोचक न हुआ। यहाँ तक कि कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने अपने २९ सितम्बर सन् १८३० ई० के आज्ञापत्र में यह स्पष्ट कह दिया कि 'यहाँ के निवासियों को जज की भाषा सीखने के बदले जज ही को भारतवासियों की भाषा सीखना बहुत सुगम होगा। अतएव हम लोगों की सम्मति है कि न्यायालयों का समस्त लिखित व्यवहार उस स्थान ही की भाषा में हो।'

"किन्तु इस आदेश का पालन १८३७ ई० के पूर्व न हो सका। इसी बीच में इस विषय पर बड़ा विवाद भी चला। कुछ लोगों की यह सम्मति थी कि अंग्रेजी ही का प्रयोग हो, कुछ यह चाहते थे कि फ़ारसी के स्थान पर यहाँ की देशभाषा ही का प्रयोग हो, परन्तु लिपि रोमन हो। सरकार को इन दोनों में से कोई भी विचार पसन्द न आया। सरकार ने यह सोचा कि विदेशी भाषा और लिपि के प्रचार से अदालतों का काम ठीक-ठीक और उत्तम रीति से न चल सकेगा और लोगों को न्याय पाने में कठिनता होगी, इसलिए कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की सम्मति के अनुसार यह निश्चय किया गया कि कचहरी और माल सम्बन्धी

सारा काम फ़ारसी के बदले यहाँ की देशभाषा में हुआ करे और अंग्रेजी का प्रयोग सरकारी अफ़सर लोग केवल ऐसी चिट्ठी-पत्रियों में किया करें, जिनका सर्वसाधारण से कोई सम्बन्ध न हो।

"सदर बोर्ड आफ रेवेन्यू के मंत्री ने ता० ३० मई १८३७ ई० को इस आशय का एक आज्ञापत्र निकाला। बङ्गाल सरकार के मंत्री ने जो पत्र (नं० ९१४) ३० जून १८३७ ई० को सदर बोर्ड आफ रेवेन्यू के नाम लिखा था, उसमें इस आज्ञा को और भी स्पष्ट कर दिया। उसमें लिखा था कि "श्रीमान् गवर्नर महोदय इस बात को स्पष्ट रूप से समझा देना चाहते हैं कि केवल यूरोपियन अफ़सरों के आपस के पत्र-व्यवहार को छोड़कर (जो अंग्रेजी में हुआ करें) प्रत्येक विभाग में सरकारी काम देश-भाषा में हो।" इस आज्ञा के विरोध में जो कानून था उसे रद करने के लिए एक बिल श्रीमान् वायसराय की व्यवस्थापक सभा में उपस्थित किया गया, जिससे फारसी के स्थान पर देश-भाषा के प्रचार की आज्ञा स्थिर हुई।

"इस विधान के अनुसार बङ्गाल में बङ्गाली तथा उड़ीसा में उड़िया भाषा का प्रचार हुआ। हिन्दुस्तान के अन्तर्गत बिहार, पश्चिमोत्तर प्रदेश और मध्य-प्रदेश का कुछ भाग है। वहाँ की भाषा हिन्दी है, जो नागरी लिपि या उसके अन्य रूपों में लिखी जाती है। परन्तु इस भाषा के बदले इन प्रान्तों की कचहरियों में उर्दू-भाषा का प्रचार हो गया। इसका कारण यह था कि यूरोपीय लेखकों ने उर्दू भाषा को हिन्दुस्तानी नाम दे दिया। उनकी समझ में जैसे बङ्गाल की भाषा बङ्गाली तथा गुजरात की

गुजराती है, वैसे हिन्दुस्तान की भाषा हिन्दुस्तानी है। इस भूल से हिन्दुस्तान अर्थात् पश्चिमोत्तर प्रदेश की कचहरियों में उर्दू का प्रचार हुआ। उसी वर्ष मध्यप्रदेश में यह भूल सुधारी गई और वहाँ हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों का प्रचार हुआ।

"पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार के मन्त्री ने ता० १७ अगस्त सन् १८४४ ई० को (पत्र-संख्या सात सौ पचास) में आगरा कालेज के प्रिन्सिपल को लिखा था कि 'यहाँ की देशभाषा हिंदी है।'

"पश्चिमोत्तर प्रदेश के स्कूलों के डाइरेक्टर जनरल ने सन् १८४४-४५ के विवरण में लिखा है कि "हिन्दी सबसे अधिक प्रचलित भाषा है।"

"बोर्ड आफ रेवेन्यू ने भी सन् १८५७ ई० के आज्ञा-पत्र (संख्या ८) में इसी कथन का समर्थन यों किया है:—"बोर्ड इस अवसर पर कमिश्नर और कलेक्टरों की उस आज्ञा (संख्या ४११, ता० ३० सितम्बर सन् १८५४ ई०) का ध्यान दिलाती है जिसके अनुसार पटवारियों के कागज उस भाषा और उस लिपि में लिखे जाने चाहियें, जिनको सर्वसाधारण काश्तकार और जमींदार भलीभाँति समझते हों। प्रायः वह भाषा हिन्दी और वह लिपि नागरी होगी।

"शिक्षा-विभाग के सन् १८७३-७४ के विवरण पर सरकार ने आज्ञा देते समय लिखा है, कि "हिन्दी यहाँ की मातृभाषा कही जा सकती है, क्योंकि अधिकतर लोग उससे भलीभाँति परिचित हैं।"

"शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टरों ने भी सन् १८७७-७८ के विवरण में लिखा है कि 'हिन्दी ही इस प्रदेश की देश-भाषा है।'

"सन् १८४८ ई० में एक महाशय 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखते हैं कि हिन्दी के व्यवहार की ठीक-ठीक सीमा निर्धारित करना कुछ सुगम कार्य नहीं है। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि इसका प्रचार बिहार, अवध, राजपूताना और उन सब प्रदेशों में है जो पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के अधीन हैं।

"एक यात्री ने कहा है कि हिन्दी की सहायता से वे समस्त भारतवर्ष में घूम सकते हैं।

"शिक्षित मुसलमान उर्दू बोलते हैं, परन्तु साधारण काश्तकार या अन्य मुसलमान अधिकतर हिन्दुओं ही की तरह बोलते हैं। प्रसिद्ध डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल (१८६४) में "हिन्द की भाषा की उत्पत्ति और उर्दू बोली से उसका सम्बन्ध" शीर्षक लेख में लिखते हैं कि 'भारतवर्ष की देश-भाषाओं में हिन्दी सबसे प्रधान है। बिहार से सुलेमान पहाड़ तक और विन्ध्याचल से हिमालय की तराई तक सभ्य हिन्दू जाति की यही मातृभाषा है। गोरखा जाति ने इसका कमायूँ और नैपाल में भी प्रचार कर दिया है और यह भाषा पेशावर से आसाम तक और काश्मीर से कन्या कुमारी तक सब स्थानों में भलीभाँति समझी जा सकती है।'

"श्रीयुत बीम्स ने भी इसी मत का समर्थन किया है, तथा रेवेरेण्ड केलॉग भी लिखते हैं कि 'पचीस करोड़ भारतवासियों में

से एक चौथाई अर्थात् छः या सात करोड़ मनुष्यों की मातृ-भाषा हिन्दी है।······२४८००० वर्गमील में जनसाधारण की भाषा हिन्दी ही है।'

''श्रीयुत पिनकॉट महोदय लिखते हैं कि 'उत्तरीय भारतवर्ष की भाषा सदा से हिन्दी थी और अब भी है, और इसी भाषा के अधिक प्रचार के कारण लोग यह समझते हैं कि साधारण हिन्दुस्तानी भारतवर्ष की मातृभाषा है।''

''फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्दों के भार से लदी हुई यह हिन्दी ही अब उर्दू कहलाती है तथा फ़ारसी लिपि में लिखे जाने से यह और भी अधिक अस्पष्ट हो गई है।

''पश्चिमोत्तर प्रदेश की सदर दीवानी अदालत ने भूल से उर्दू को यहाँ की देश-भाषा समझकर फ़ारसी के स्थान पर उसके व्यवहार की आज्ञा दे दी। उस उर्दू भाषा को वे 'हिन्दुस्तानी' कहने लगे और यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया गया था कि 'कचहरियों की कार्रवाई और वकीलों की बहस सर्वबोध और सरल उर्दू में (या हिन्दी में, जहाँ उसका प्रचार हो) लिखी जाय।'

''इस आज्ञा के देने के समय सदर दीवानी अदालत की यह इच्छा थी कि कचहरियों का काम ऐसी भाषा में हो, जिसे सर्वसाधारण सुगमता से समझ सकें।

''बहुत दिनों तक फ़ारसी से भरी हुई उर्दू लिखते चले आने से अमलों को जनसाधारण की भाषा को नागरी लिपि में लिखना भद्दा जान पड़ा और इसीसे इस प्रान्त की कचहरियों में उर्दू-भाषा और फ़ारसी अक्षरों का प्रचार हुआ।

"इस आज्ञा का यह फल अत्यन्त ही असन्तोषप्रदायक हुआ; क्योंकि इसके एक ही वर्ष उपरान्त बोर्ड आफ रेवेन्यू को पुनः आज्ञा-पत्र निकालना पड़ा और उसमें पुनः इस बात पर जोर दिया गया कि 'फ़ारसी-पूरित उर्दू न लिखी जाय; बल्कि ऐसी भाषा लिखी जाय जो एक कुलीन हिन्दुस्तानी, फारसी से पूर्णतया अनभिज्ञ रहने पर भी, बोलता हो।'

"परन्तु इस २८ अगस्त सन् १८४० ई० के आज्ञा-पत्र का कोई भी परिणाम न हुआ। इसके पन्द्रह वर्ष उपरान्त सरकार ने देखा कि दीवानी, फौजदारी और कलेक्टरी (माल) कचहरियों का काम-काज अभीतक ऐसी कठिन और विदेशी भाषा में हो रहा है, जो फ़ारसी से प्रायः मिलती-जुलती है। अतएव सदर दीवानी अदालत और बोर्ड आफ रेवेन्यू की सम्मति लेने के उपरान्त सरकार ने यह पुनः आवश्यक समझा कि कचहरियों के अफसरों को इस बात की फिर से ताकीद की जाय कि सरकारी काग़ज ऐसी भाषा में लिखे जाँय, जिन्हें सर्वसाधारण भलीभाँति समझ सकें। इस सिद्धान्त के अनुसार ता० ९ मई सन् १८५४ ई० को इसी आशय का एक आज्ञा-पत्र निकाला गया। परन्तु इसका भी प्रभाव न हुआ। सरकार ने पुनः सन् १८७६ ई० में सब जिले के हाकिमों के नाम एक आज्ञा-पत्र भेजा, और देशभाषा के प्रयोग किये जाने के लिए और भी स्पष्ट रूप से जोर दिया। पर इसका भी कुछ परिणाम न हुआ।

"श्रीयुत ग्राउस इसी विषय पर लिखते हैं कि 'आजकल की कचहरी की बोली बड़ी कष्टदायक है, क्योंकि एक तो यह

विदेशी है, और दूसरे इसे भारतवासियों का अधिकांश नहीं जानता। ऐसे शिक्षित हिन्दुओं का मिलना कोई कठिन बात नहीं है जो स्वतः इस बात को स्वीकार करेंगे कि कचहरी के मुन्शियों की बोली को वे अच्छी तरह बिलकुल नहीं समझ सकते और उसे लिखने में तो वे निपट असमर्थ ही हैं। इसका बड़ा भारी प्रमाण तो यह है कि कानूनों और गश्ती चिट्ठियों के सरकारी भाषानुवाद को तबतक कोई भी भलीभाँति नहीं समझ सकता जबतक कि कोई व्यक्ति अंग्रेजी से मिलाकर उन्हें न समझा दे।'

"मिस्टर फ्रेड्रिक पिनकॉट ने अफ़सरों की हिन्दुस्तानी भाषा के विषय में लिखा है कि 'जिन भारतवासियों की यह मातृ-भाषा बताई जाती है उन्हें इसे अंग्रेजी की तरह स्कूलों में सीखना पड़ता है। और भारतवर्ष में यह विचित्र दृश्य देख पड़ता है कि राजा और प्रजा दोनों अपना व्यवहार ऐसी भाषा द्वारा करते हैं जो दोनों में से एक की भी मातृ-भाषा नहीं है।'

"बार-बार आज्ञा देने पर भी अभी तक कचहरियों के कागज ऐसी भाषा में क्यों लिखे जाते हैं, जो बिना किसी आवश्यकता के फ़ारसी और अरबी शब्दों से भरी रहती है। इसका कारण यही है कि अदालतों का काम फ़ारसी लिपि में होता है। सरकार की इच्छा तबतक कदापि पूर्ण न हो सकेगी जबतक अदालतों में फ़ारसी अक्षरों का आधिपत्य रहेगा। आज इनके स्थान पर नागरी अक्षरों का प्रचार कीजिये और तब देखिये कि साथ-ही-साथ सरल और सुगम हिन्दुस्तानी का प्रचार होता है या नहीं?

"पायनियर पत्र ने अपने १० जनवरी सन् १८७६ के अंक में लिखा है कि फ़ारसी लिपि और फ़ारसी भाषा में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि इस विषय का सुधार तबतक पूर्णतया हो ही नहीं सकता जबतक कि हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्त के गैर सरकारी गवाहों के बयान नागरी अक्षरों में न लिखे जायँगे।

"स्वर्गीय श्री फेड्रिक पिनकॉट ने इसी मत का जोरदार समर्थन किया है। विचारशील हिन्दुओं ने सन् १८३७ ई० में इसी आशय का एक निवेदन-पत्र भी सर विलियम म्योर को दिया था।

"प्रारम्भ में यह लिखा जा चुका है कि सन् १८३० और ३७ के बीच में इस बात पर बड़ा विचार तथा विवाद चला था कि फारसी के स्थान पर किस भाषा का प्रयोग हो ? उस समय कुछ लोगों की यह सम्मति थी कि प्रयोग तो देश-भाषा का ही हो, परन्तु लिपि रोमन हो। पर सरकार ने इस सम्मति को स्वीकार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट, प्रकट होता है कि सरकार की यही इच्छा थी कि देश-भाषा का प्रयोग देशी अक्षरों में हो। फिर सन् १८९३ ई० में भी यहाँ रोमन लिपि का झगड़ा उठा था और उस समय श्रीमान् लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने इसपर विचार करने के लिए एक छोटी-सी समिति बनादी थी, पर उस समिति की रोमन के क्रमशः प्रचार करने की सम्मति सरकार को स्वीकृत न हुई, और श्रीमान् सर एण्टोनी मेकडॉनल ने उस प्रस्ताव को यह कह करके अस्वीकृत कर दिया कि 'रोमन के प्रचार होने से सरकारी अफ़सर देश-भाषा की ओर से उदासीन हो जायँगे।'

"प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने ३० दिसम्बर सन् १८५७

ई० के 'टाइम्स' नामक पत्र में फ़ारसी अक्षरों के दोष-पूर्णरूप से दिखाये हैं। उनका कथन है कि 'इन अक्षरों को सुगमता से पढ़ने के लिए वर्षों का अभ्यास आवश्यक है।'' वे कहते हैं कि ''इन अक्षरों में ज के ४ रूप होते हैं, तथा प्रत्येक अक्षर के प्रारम्भिक, मध्यक्ष, अन्तिम या भिन्न होने के कारण चार भिन्न रूप होते हैं।'' अन्त में प्रोफेसर साहब कहते हैं, ''चाहे ये अक्षर देखने में कितने ही भले क्यों न लगते हों, पर न तो ये कभी पढ़े जाने योग्य हैं और न छपने ही के योग्य हैं। तथा भारत में विद्या और सभ्यता के विकास में सहायक होने के तो सर्वथा अनुपयुक्त हैं।'

''डाक्टर राजेन्द्रलाल, प्रोफेसर डौसन और श्री ब्लैकमैन तथा राजा शिवप्रसाद आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने दृढ़तापूर्वक प्रोफेसर मोनियर विलियम्स के मत का समर्थन किया है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र लिखते हैं कि 'जिन फ़ारसी अक्षरों और विशेष कर शिकस्त: में अदालतों का काम चलता है वे मुख्तारों, वकीलों और धूर्तों के लिए आय का एक अच्छा मार्ग हैं। एक ही चिन्ह ऐसा बनाओ और यह मान लो कि वह किसी ग्राम का नाम है। यदि हम पहले अक्षर को ''बे'' मान लें तो उसका उच्चारण ११ प्रकार से होगा। जैसे बबर, बपर, बतर, बटर, बसर, बनर, बहर, बयर, बेर, बैर, बीर। फिर यदि हम पहले अक्षर को 'पे', 'सीन', 'ते', 'हे', 'नून', 'हे', 'वाव', 'ये', मानें तो उस शब्द का उच्चारण ७७ प्रकार से हो सकता है। यदि हम उपर्युक्त शब्दों में से प्रथम आठ शब्दों के स्वर को

बदल दें तो ६० शब्द और बन जायँगे। जैसे बुनर, बिनर, हुनर, सिपर आदि। फिर यदि हम अन्तिम अक्षर को 'जे', या 'रे' मानें तो ३०४ शब्द बन जाते हैं। और यदि हम जान लें कि अन्तिम अक्षर में ''दाल'; है तो पूरे १५२ शब्द और बन जाते हैं। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि एक शब्द दो-तीन अक्षरों का है तथा जिसके अन्तिम अक्षर के तीन ही भिन्न रूप हो सकते हैं, वह ६०६ प्रकार से पढ़ा जायगा। यदि इसी शब्द के अन्तिम अक्षर को 'बे' में बदल दें तो हम एक हज़ार और नये शब्द बना सकेंगे। बलिहारी है ऐसे अक्षरों की।

" इस विषय में 'पायनियर' पत्र का मत है कि ''आवश्यक कागज़ात लिखने के लिए तो इनसे बुरे अक्षरों की मन में कल्पना भी नहीं की जा सकती।''

सत्रहवाँ दिन

३० अगस्त

कई दिन हुए, मैं बड़े सबेरे टहलने निकला और विश्व-विद्यालय की एक सड़क से जा रहा था कि सामने से एक युवक को साइकिल पर दूध के बर्तन लटकाये हुए मैंने आते देखा।

मैंने पूछा—क्या मक्खन भी बेचते हो ?

मेरा प्रश्न सुनकर वह साइकिल से उतर पड़ा और उसने कहा—मैं तो नहीं बेचता हूँ, पर आप अपना पता बतादें, तो मैं मक्खनवाले को भेज दूँगा।

एक अपरिचित के साथ उसकी यह शालीनता देखकर मैं प्रभावित हुआ।

मैंने अपना पता बताया। उससे बात करने की उत्सुकता बढ़ी और मैंने फिर पूछा—क्या तुम दूध का रोजगार करते हो ?

उसने कहा—दूध भी बेचता हूँ और विश्व-विद्यालय में पढ़ता भी हूँ।

यह सुनकर मैं उसका अधिक हाल जानने के लिये स्वभावतः उत्सुक हुआ। मैंने कहा—क्या कुछ अधिक परिचय दे सकते हो ?

युवक ने कहा कि वह चार भाई हैं। चारों यहीं पढ़ते हैं। वह एम० ए० में था, और बीच के भाई क्रमशः बी० ए०, एफ० ए० और मैट्रिक में थे। उनके पिता ३०) या ३५) रुपये महीने पर कहीं नौकर हैं। लड़कों की पढ़ाई का ख़र्च नहीं चला

सकते, इससे लड़कों ने भैंसें पाल ली हैं और वे उनका दूध बेच कर अपना ख़र्च चलाते हैं। स्वावलम्बी होकर शिक्षा प्राप्त करने की यह कहानी मुझे बड़ी रोचक लगी और मैंने पूछा—क्या ऐसे विद्यार्थी और भी हैं, जो खुद कमाकर पढ़ रहे हैं ?

उसने कहा—सौ-डेढ़ सौ होंगे। विश्व-विद्यालय में एक 'सेल्फ हेल्प सर्किल' है। ग़रीब विद्यार्थियों को उससे सहायता मिलती है।

विद्यार्थी को अपने ग्राहकों को दूध देने की जल्दी थी। नमस्कार करके वह तो आगे गया; पर मैं विचारों का भार लेकर आगे न जा सका, और लौट पड़ा। मुझे 'सेल्फ हेल्प सर्किल' की अधिक जानकारी प्राप्त करने की लगन लगी। पूछ-ताछ करके मैंने 'सर्किल' के संचालक प्रो० असरानी का पता लगाया और मैं उनसे मिला। प्रो० असरानी एक सिंधी हैं। बड़े उत्साही और ग़रीब विद्यार्थियों के सच्चे सहायक हैं।

'सेल्फ हेल्प सर्किल' जैसी संस्था भारत के और किसी विश्व-विद्यालय में है या नहीं, मुझे मालूम नहीं। यदि यह हिंदू-विश्व-विद्यालय की खास उपज है तो यह उसके लिए गर्व की बात है।

असरानी साहब ने 'सेल्फ हेल्प सर्किल' का विशेष विवरण मुझे दिया, जिसकी कुछ बातें मैं यहाँ संक्षेप में लिखता हूँ:—

दीन छात्रों का स्वावलम्बन-संघ

काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय दीन छात्रों के लिए एक ही संस्था है, जिसमें करीब २० प्रतिशत छात्रों की फीस माफ़ रहती

है। उसमें देश के कोने-कोने से ग़रीब छात्र शरण पाते हैं। दूसरे विश्वविद्यालयों और शिक्षा-केन्द्रों में उच्च शिक्षा पाने के लिए अधिक खर्च तथा अनावश्यक फ़ज़ूल खर्ची की बुरी आदतें पड़ जाती हैं। उनकी अपेक्षा यहाँ यह एक ऐसी संस्था है जो अपने ढंग की निराली है, जो उच्च शिक्षा और कला-कौशल में शान-शौकत नहीं रखती और अपव्यय को रोकती है। यहाँ अनेक छात्र एक धोती पहने आते हैं और उच्च शिक्षा पाकर अपना भविष्य उज्वल कर लेते हैं। उनमें कई उच्च पदों पर हैं, जो अपने को धन्य मानते हैं; और उनका गर्व इस संस्था को है।

प्राचीन 'सेन्ट्रल हिन्दू कालेज' में भी, जिसकी नींव स्वर्गीया डाक्टर एनी बेसेन्ट ने डाली थी, एक संस्था 'विद्यार्थी सहायक सभा' थी, जो ग़रीब छात्रों को सहायता देकर उत्साहित करती थी।

"जब १९१७ में 'सेन्ट्रल हिंदू कालेज' बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय के विराट् रूप में समा गया और अधिक छात्रों को निःशुल्क शिक्षा मिलने लगी, तब 'विद्यार्थी सहायक सभा' का कार्य सीमित होगया। सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की 'विद्यार्थी सहायक सभा' चन्दा एकत्रित करती और वार्षिक करीब ५००) वितरण करती थी। वह छात्रों और अध्यापकों की संरक्षणता में अभी तक कार्य करती जाती है।

इसी प्रकार की अन्य संस्थायें आयुर्वेद कालेज, सेन्ट्रल हिन्दू-स्कूल आदि में स्थापित हो गयी हैं। १९२८ में एक नया

विभाग इसमें बढ़ा दिया गया और एक 'विद्यार्थी सहायक लाइब्रेरी' गरीब छात्रों को एक वर्ष या अधिक समय तक के लिए पुस्तकों की सहायता देने लगी और सीमित समय के बाद पुस्तकें वापस ले लेने लगी।

आरंभ में 'विद्यार्थी सहायक सभा' के संचालकों को मालूम हुआ कि यद्यपि दान की सहायता योग्य छात्रों के लिए अपने ग़रीब देश में अवश्य ठीक है, लेकिन इस दान का बुरा परिणाम भी होता है। यह दान आत्म-सम्मान को गिरा देता है। जो व्यक्ति मांगना सीख गया है, वह आजीवन भिखारी की वृत्ति धारण कर लेता है और हमेशा दूसरों का मुँह ताकता रहता है।

यह सोचकर संस्था ने कर्जा या उधार देने की रीति चलाई। पर अनुभव से ज्ञात हुआ कि कर्जा शब्द केवल काग़ज पर रह गया और बहुत से कर्जा लेनेवाले व्यक्ति प्रति वर्ष अपने आत्म-सम्मान का भाव गिराने लगे। तब यह सोचा गया कि एक दूसरा विभाग खोला जाना चाहिए, जिससे ग़रीब छात्र छुट्टियों में अपने उद्योग और परिश्रम से धन उत्पन्न करलें। वे परिश्रम करके कमाने के लिए उत्साहित किये जायँ।

१९२३ में छात्रों की एक छोटी संख्या सचमुच काम पर लीगई और यह व्यवस्था उपयोगी साबित हुई।

'सेल्फ हेल्प सर्किल' में अब फोटोग्राफी के लिए अंधेरा कमरा, घी की दूकान और ऑफिस है। इसका स्टेशनरी स्टोर, पुस्तकों और चित्रों की दूकान सड़क के एक तरफ है, जहाँ छात्र शाम को एकत्रित होते हैं।

निम्नलिखित उद्योग ग़रीब छात्रों-द्वारा चल रहे हैं जो संघ की उन्नति के शुभ लक्षण हैं:—

शिक्षा-सम्बन्धी व्यापार

(१) प्रोफ़ेसरों के बच्चों अथवा कालेज के छात्रों के ट्यूशन दिलाना।

(२) जर्मन या फ्रेन्च भाषा के क्लास लेना।

(३) शार्टहैंड क्लास चलाना।

(४) सामाजिक सेवा-संघ की रात्रि-पाठशालाओं में शिक्षा देना।

(५) टाइप राइटिंग।

(६) ज्योतिष

(७) फोटोग्राफी सिखाना।

(८) चित्रकारी तथा संगीत।

उद्योगी व्यापार

(१) सिर-तैल, दन्त-मञ्जन, स्याही इत्यादि बनाना।

(२) शर्बत

(३) ट्रंक-चित्रकारी।

(४) चीजों पर नाम लिखना।

(५) रंगीन चित्र, कारटून तैयार करके समाचार पत्रों को भेजना।

(६) महीन काम।

(७) मोज़ा बुनना।

(८) लालटेन साफ़ और दुरुस्त करना।

(९) फोटोग्राफ़र का काम।

(१०) आयुर्वेदीय औषधियाँ तैयार करना।

(११) रेकेट दुरुस्त करना।

(१२) चित्रों पर फ्रेम लगाना; इत्यादि।

व्यापारी धन्धे

(१) शुद्ध घी बेचना।

(२) शुद्ध दूध बेचना।

(३) साफ चीनी बेचना (२॥ सेर या ५ सेर का पैकेट)।

(४) ड्राइंग की चीज़ें तथा स्टेशनरी सामान बेचना।

(५) पुरानी पुस्तकें बेचना; (धर्म या स्वास्थ्य संबन्धी पुस्तकें भी)

(६) का. हि. वि. की प्रकाशित पुस्तकें बेचना।

(७) मेवे बेचना

(८) काश्मीरी वस्त्र तथा अन्य वस्त्र बेचना।

(९) सजावट की चीज़ें।

(१०) आर्डर का सामान।

(११) भोजन का सामान।

(१२) तार या पत्र-द्वारा परीक्षा-फल भेजना।

(१३) रोटी की बिक्री।

शारीरिक परिश्रम तथा विविध

(१) का० हि० वि की इमारतों के लिए भवन-निर्माण का सामान ढोना, ले जाना।

(२) सामान पर वार्निश पालिश करना ।

(३) दरवाजों, खिड़कियों पर रंग करना ।

(४) जूतों पर पालिश करना ।

(५) बाग का काम ।

(६) सिनेमा-भवन के दरवाजों पर पहरे का काम ।

पाठक पूछ सकते हैं कि ऊपर कथित कार्यों में से किसमें विशेष लाभ मालूम हुआ ? एक छात्र ने काश्मीरी वस्त्र बेचे, उसे विशेष लाभ हुआ । दूसरा छात्र, जो घी बेचता था, अधिक लाभ उठा सका । सिर-तैल बनानेवाले, शर्बत वाले तथा स्टेशनरी सामान बेचने वाले छात्रों ने भी फायदा उठाया। जाँच से मालूम होता है, कि व्यापार की निपुणता, बेचने का ढंग, समयानुसार चीजों को देने की दक्षता, एक कार्य में लगे रहना आदि से लाभ अधिक होता है । उद्योगी और परिश्रमी ग़रीब छात्र १०) से लेकर १५) प्रतिमास आमदनी कर सकता है । केवल वह फ़ुरसत ही में, छुट्टी ही में काम करे तो सरलता से व्यापार करता हुआ अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, और उसकी स्वतन्त्र जीविका चल सकती है ।

यह संघ एक रजिस्टर रखता है, जिसमें छात्र और उसकी विशेष योग्यता तथा इष्ट उद्योग का वर्णन रहता है। सन् १९३६ की पहली अप्रैल से अभी तक कई प्रकार के उद्योगों द्वारा उपार्जन करने का काम संघ ने किया है । ट्यूशन ६, टाइप ५, रोटी बेचना २, दूध १, स्टेशनरी १, फोटो १, टेनिस १, घी की दूकान १, परीक्षा-फल १, चित्र में फ्रेम १, टॉयलेट सामान

२, चित्र तेल साबुन १, संगीत १, चित्रकारी, सामान ढोना १, सामान में पालिश; इस तरह ठीक संख्या ४१ थी।

कई छात्र भिन्न-भिन्न उद्योग भी करते थे। बहुत-से ऐसे हैं जो थोड़े ही दिन काम करने में टिके रहे। संघ के दो मेम्बरों ने स्वतन्त्र उद्योग फैक्टरी के रूप में खोल दिये हैं। संघ उनके सामान की बिक्री में सहायता देता है।

कई छात्रों को अध्ययन में बड़ा परिश्रम करना पड़ा, तथा बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। कई छात्र घर से कुछ सहायता नहीं पाते थे। कई की स्थिति ऐसी शोचनीय थी, जो अन्य विश्वविद्यालयों और शिक्षाकेन्द्रों में विचारी भी नहीं जा सकती। कई दिन में एक बार भोजन पाते हैं, खुद बनाते हैं, अपने कपड़े स्वयं धोते हैं। कोई कहीं बरामदे में सो जाता है, क्योंकि कमरे का किराया देने में लाचार है।

ग़रीब बुद्धिमान् छात्र निःशुल्क शिक्षा पाते हैं या आर्थिक सहायता पाते हैं। और कई परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकने के कारण या तृतीय श्रेणी में पास होने से कष्ट पाते हैं, बेकारी के इस युग में उन्हें नौकरी या धन्धा मिलना कठिन है। कितने ही युवक परेशान रहते हैं। 'सप्रू बेकारी कमेटी' की बैठक में सप्रूजी इसे देखकर प्रसन्न हुए थे।

प्रो० असरानी ने आगे कहा—मेरा २० वर्ष का शिक्षा का अनुभव है कि हमारी शिक्षा का ढंग दोष-पूर्ण है। यहाँ छात्र केवल समझने और स्मरण रखने की प्रधान शिक्षा पाते हैं। चरित्र और स्वावलम्बन का ध्यान बहुत कम है। नौकर अनादर

नहीं सहते, पर छात्र सह लेते हैं। शिक्षित व्यक्ति उचित ढंग से उद्यम करने में अयोग्य ठहरता है। बुद्धि की चतुराई बिना उच्च गुण (सदाचार, स्वावलम्बन, आत्मगौरव के) भारवत् हैं। शिक्षितों के सम्मुख यह विकट समस्या है। हमारा संघ इस समस्या को हल करने वाली एक छोटी-सी संस्था है।

प्रो० असरानी के यहाँ से लौटकर मैं सीधे मालवीयजी के पास गया। वहाँ दूसरी ही मनोरञ्जक बात चल रही थी।

१७ अगस्त को पटने के एक सुप्रसिद्ध वैद्य पं० व्रजबिहारीजी चौबे आये। महाराज के भक्त हैं, बीमारी का हाल सुनकर देखने आये थे। देखकर उन्होंने एक काढ़ा पीने की सलाह दी और वह उसी दिन लौट गये। महाराज ने दो दिनों तक तो काढ़ा पिया, फिर छोड़ दिया। क्यों छोड़ दिया? यह भेद पन्द्रह-बीस दिनों बाद खुला। वैद्यजी ने काढ़ा पीने का समय सूर्योदय के पहले बताया था। उस समय काढ़ा तैयार करने के लिए नौकर को चार बजे उठना पड़ता। पर रात में ग्यारह बजे तक काम करनेवाला नौकर चार बजे स्वयं कैसे जागता? और महाराज सोते हुए नौकर को न खुद जगाते थे, न किसी को जगाने देते थे।

पण्डित राधाकान्त को मालूम हुआ और नौकर ने भी सुना कि महाराज इस कारण से काढ़ा नहीं पीते हैं कि नौकर को बड़े सवेरे जागना पड़ेगा। तब सब पर आन्तरिक प्रभाव पड़ा और १८ दिनों तक चुपचाप टालते रहने के बाद महाराज को ठीक समय पर काढ़ा मिलने लगा।

हृदय की यह कोमलता उन मालवीयजी की है, जो युवकों को देश और धर्म के लिए कठोर-से-कठोर यन्त्रणा भोगने के लिए उत्साहित करते रहते हैं।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।

दो-तीन दिन पहले की बात है। महाराज दोपहर को विश्राम करके उठे थे और दूध की प्रतीक्षा में बैठे थे। मूड़ी (नौकर) सो रहा था। मैंने चाहा कि उसे जगा दूँ और वह दूध लेआवे। पर महाराज ने रोक दिया और कहा—नींद में है, विश्राम ले रहा है, सोने दीजिए; थोड़ी देर बाद दूध ले लूँगा।

नौकरों के प्रति महाराज की यह सहृदयता नयी नहीं है। आज-कल तीन नौकर हैं, तीनों नौजवान हैं। मुझे शंका हुई कि नौकरों के प्रति महाराज की सहृदयता सम्भव है, सामयिक है। वृद्धावस्था में एक तो यों ही मनुष्य में दूसरों के प्रति सहानुभूति का भाव बढ़ जाता है, दूसरे यदि वृद्ध आदमी नौकर को प्रसन्न न रक्खे तो उसे दिन भर नाना कष्ट भोगने पड़ें। इससे लाचार होकर उनपर दयालुता का भाव रखना ही पड़ता है। मैंने पूछा—इसके पहले जो नौकर रहे होंगे वे भी क्या आत्मीय की तरह रक्खे जाते थे?

महाराज कुछ गम्भीर होकर कहने लगे—रामनरेशजी! हम तो ग़रीब आदमी हैं। इससे ग़रीबों के प्रति हमारी सहानुभूति स्वाभाविक है। नौकर को मैं कुटुम्ब से भिन्न नहीं समझता। मेंरे यहाँ नौकर के साथ जैसा व्यवहार होता है, वैसा धनी घरों में भी बहुत-कम देखने को मिलेगा।

थोड़ा दम लेकर महाराज मेरे प्रश्न का उत्तर देने लगे—मेरे यहाँ एक नौकर था, उसका नाम बेनी है। २० वर्ष के लगभग उसने मेरी सेवा की। अब लगभग २० वर्ष से वह अपने घर पर रहता है और मैं उसे १०) मासिक देता हूँ। एक शिवदयाल नौकर था। उसे दो रुपये मासिक मिलते हैं। पुराने नौकर को छोड़ना मुझे प्रिय नहीं लगता।

मेरी शंका निर्मूल ही थी। बेनी उस समय का नौकर है जब महाराज की उम्र ४० वर्ष की थी; तब वृद्धावस्था का कोई प्रश्न ही न था।

आज गोविन्दजी से नौकरों के प्रति महाराज के दया-भाव की एक और कथा सुनने को मिली। एक बार महाराज को ज़ोर का ज्वर आया। वह १०५ या १०६ डिग्री तक पहुँच गया था। उन दिनों वह बाबू शिवप्रसादजी गुप्त की कोठी में ठहरे हुए थे। रात में उनके कमरे में किसको सोना चाहिए? घर के लोग यह चर्चा कर रहे थे कि महाराज ने उसे सुनकर कहा—किसी की आवश्यकता नहीं है। पर इतने कड़े ज्वर में किसी न किसी को पास तो रहना ही चाहिए। रात में प्यास लगे, पेशाब लगे, या रोग का कोई प्रकोप हो तो कौन सहायता पहुँचायेगा? पर कोई दलील न चली और सबको उनकी आज्ञा माननी पड़ी। फिर भी गोविन्दजी ने एक नौकर को उनके कमरे के बाहर, ठीक दरवाजे पर, सुला दिया ताकि जब वे उठें तो नौकर को जगाये बिना बाहर न जा सकें।

रात में महाराज पेशाब करने उठे। दरवाजे के सामने

उन्होंने नौकर को सोया हुआ देखा। उसे नहीं जगाया। दूसरा दरवाजा खोला और उससे निकलकर आधी कोठी की परिक्रमा करके वह पेशाब-खाने में गये और वहाँ से निवृत्त होकर बरामदे में रक्खे हुए गगरे को बायें हाथ की कुहनी से टेढ़ा करके हाथ धोने के लिए जल ले रहे थे, तब गोविन्दजी जागकर आये और आँखों से आँसू भरकर कहने लगे—बाबू ! आप यह क्या कर रहे हैं ? हम लोग किस दिन काम आयेंगे ?

बाबूजी ने कहा—भाई ! नौकर दिनभर की मेहनत के बाद आराम से सोया है, उसे कैसे जगाता ?

सच है :—

सज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद्वदन्ति कवयस्तदलीकं ।
अन्य देह विलसत्परितापात् सज्जनो द्रवति नो नवनीतम् ।

मुझे घूमने का तो बहुत मौक़ा मिला है और मेरा परिचय भी राजा से लेकर साधारण गृहस्थ तक प्रायः हरेक श्रेणी और हरेक सुरुचि के लोगों से है। पर नौकरों के प्रति जैसी आत्मीयता मैंने मालवीयजी में देखी , वैसी यहाँ के पहले और कहीं देखी नहीं थी ।

प्रायः अधिकांश मालिक अपने नौकरों के प्रति उदासीन और कहीं-कहीं क्रूर ही दिखाई पड़े। और कहीं-कहीं तो नौकर ही मालिक बन बैठे हैं; पर यहाँ स्वामी और सेवक का अद्भुत ही रूप देखा।

सबसे मजेदार दृश्य तो मुझे कल देखने को मिला था, जब महाराज ने अपने नौकर मूड़ी से, जो ८-१० वर्ष से महाराज की सेवा में है, और जिसकी उम्र पच्चीस वर्ष के लगभग होगी,

पीने के लिए दूध माँगा । मूड़ी ने एक आत्मीय की तरह निश्चिंत भाव से कहा—अभी दूध नहीं देंगे, अभी तो आपने दवा ली है ।

महाराज ने शान्त भाव से फिर कहा—दवा लिये देर हुई, दूध ले आओ । तब मूड़ी दूध लाया । जो मालवीयजी सरकार के बड़े से बड़े अफसर की की हुई अवज्ञा नहीं सह सके, जो अन्याय के विरुद्ध सिंह के समान क्रोध के आवेश में आ जाते हैं, वे अपने घर में इतने सरल हैं कि एक अपढ़ नौकर उनके सामने निर्भय होकर बोलता है ।

यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं,
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन्भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति,
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ।

अठारहवाँ दिन

३१ अगस्त

दिनभर महाराज से मिलनेवालों से फ़ुरसत नहीं मिली। पहले दिन, छठी अगस्त को मैंने महाराज के खुले दरबार का हाल देखा था, वह रोज़ का हाल है। रोज के आनेवाले कुछ व्यक्ति तो अपना-अपना काम कहने और सुनने के लिए रोज़ आते ही हैं, बहुत से बिलकुल नये व्यक्ति बिलकुल नया काम लेकर आते रहते हैं।

कल एक विद्यार्थी आये। साफ़-सुथरे कपड़े पहने हुए थे। कुरता भी शायद रेशमी था। वे साहित्य-रत्न की परीक्षा में बैठनेवाले हैं। उनको पुस्तकों के लिए कुछ धन चाहिए था। महाराज ने उनकी प्रार्थना सुनी। हुक्म दिया कि पाँच रुपये इनको दिये जायें।

शाम को मैं अपने कमरे में बैठा था। एक वृद्ध सज्जन अच्छी खासी पोशाक में मेरी खिड़की के पास आकर पूछने लगे—मालवीयजी की तबीयत कैसी है?

मैंने कहा—अच्छी है।

उत्तर सुनकर वे जाने लगे, तब मुझे ख़याल आया कि महाराज के ये बहुत बड़े प्रेमी होंगे और सिर्फ़ स्वास्थ्य का समाचार लेने के लिए ही शायद शहर से मीलों चलकर आये हैं?

मैंने पूछा—क्या आप महाराज से परिचित हैं?

उत्तर मिला—हाँ, अच्छी तरह।

उस समय महाराज अपने विश्राम के कमरे से निकलकर बैठक में कुरसी पर आ बैठे थे और टहलने जाने के लिए मोटर की प्रतीक्षा में थे।

इधर-उधर ताक-झाँककर वे सज्जन महाराज के पास जा बैठे। मुझे भी महाराज के साथ जाना था। मैं भी कपड़े पहनकर वहाँ गया तो क्या सुनता हूँ कि वे महाराज से अपनी ग़रीबी का क़िस्सा छेड़े हुए हैं। वे बीमार-से थे। बीच-बीच में बड़ी करुणाजनक खाँसी भी खाँस लिया करते थे। महाराज ने उनको भी पाँच रुपये दिलाये।

गाँवों में जाकर धर्म-प्रचार करनेवाले कुछ उपदेशक कई दिनों से टिके हैं। वे भी ख़र्च के लिए कुछ रुपये लेने आये हैं।

मिलनेवालों में पुरानी और नयी दोनों दुनिया के लोग होते हैं; क्योंकि महाराज ने दोनों दुनियायें पाल रक्खी हैं। पुरानी दुनिया के लोग कैसे होते हैं? यह जानने की उत्सुकता हमारे पाठकों में ज़रूर होगी। एक ताज़ा उदाहरण लीजिए।

एक पण्डितजी किसी दूसरे ज़िले से आये थे। चार बजे शाम से बैठक में बैठे रहे। नौ बजे रात तक उन्हें मिलने का अवसर ही नहीं मिला था। जब सब मिलनेवाले चुक चुके, तब वे बुलाये गये। महाराज उस समय बहुत थक गये थे और विश्राम करना चाहते थे। पंडितजी से उन्होंने पूछा—कहिए, कैसे आना हुआ?

पण्डितजी ने कहा—दर्शन के लिए आ गया हूँ।

दर्शन देने और लेने का काम कुछ समय तक चुपचाप होता रहा। इसके बाद पण्डितजी ने शान्ति भंग की और कहा—महाराज! एक शंका है।

महाराज ने पूछा—कहिए, क्या है?

पंडितजी ने कहा—जब हनुमानजी से भरतजी को पता चल गया था कि राम का रावण से युद्ध हो रहा है, तब उन्होंने भाई की सहायता के लिए सेना क्यों नहीं भेजी?

अजीब-सा सवाल था, और सो भी रात के नौ बजे, जबकि ८० वर्ष के वृद्ध, रुग्ण और दिनभर बात करके थके हुए, महाराज विश्राम के लिए आतुर थे। भरतजी ने सेना क्यों नहीं भेजी? इसका उत्तर भरतजी दें या उनके मन्त्री दें, महाराज पर भरतजी का उत्तरदायित्व क्या था? और यदि यह प्रश्न न हल होगा तो पण्डितजी ही की क्या हानि होगी?

पुरानी दुनिया के लोग समय-असमय का विचार नहीं रखते। पण्डितजी की समझ से इस प्रश्न का हल होना बहुत ज़रूरी था और यही पूछने वे कितनी दूर से, पैदल चलकर, रेल पर और इक्केपर चढ़कर, आये थे।

महाराज ने अपने पार्श्ववर्त्ती एक युवक से, जो विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं और काशी ही में किसी हाई-स्कूल में अध्यापक हैं, पूछा—क्या सचमुच भरतजी को पता था?

युवक ने कहा—कहा तो जाता है।

महाराज ने पण्डितजी की ओर मुखातिब होकर कहा—

इस तरह के और भी कई प्रश्न जिज्ञासुओं ने कर रक्खे हैं। उत्तर देने का अवकाश मिले तो उत्तर दिया जायगा।

युवक ने पण्डितजी का पखुरा पकड़ा और कहा—चलिए, फिर किसी दिन आइएगा तो पूछ लीजिएगा।

पण्डितजी उठे और प्रणाम करके बाहर गये। बाद को पता चला कि वे बलिया ज़िले के थे।

ऐसे लोग केवल इस लालसा से कोई न कोई गूढ़ प्रश्न लेकर आते हैं कि मालवीयजी महाराज से देर तक बात करने का उन्हें अवसर मिले। पर महाराज कभी किसी की उपेक्षा नहीं करते और धैर्य के साथ उनके ऊल-जलूल प्रश्नों को भी सुनते और उचित उत्तर से उनको सन्तुष्ट करके विदा करते हैं। महाराज में यह विलक्षण गुण है और इसीसे वे इतने सर्व-प्रिय हैं।

आज तीन बजे के लगभग मैं महाराज के पास जानेवाला था कि मालूम हुआ कि तीन स्त्रियाँ महाराज से मिलने आयी हैं। बैठक में तीन-चार भद्र पुरुष उनके उठने का इन्तज़ार करते हुए बैठे थे। इस प्रकार आज दिन में मैं महाराज से मिल ही न सका।

शाम को महाराज टहलने निकले। मैं साथ था। रास्ते में साथ बैठे हुए डाक्टर पाठक से वे कहने लगे—कन्वोकेशन के अवसर पर आने के लिए मैंने गांधीजी को लिखा था पर उन्होंने असमर्थता प्रकट की है। मैं उनको फिर लिखूँगा। वर्ष में कम-से-कम एक बार तो उनके निकट बैठने का अवसर मिलता ही रहना चाहिए।

महात्माजी के प्रति महाराज का हार्दिक प्रेम अकसर उनके

मुख से प्रकट हो जाया करता है। एक बार कहने लगे—जितना यश गांधीजी को मिला, उतना किसी भी पुरुष को अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। देश के नेता दूसरे प्रान्तों में जाते हैं तो उनके दर्शनों के लिए स्टेशन पर आयी हुई जनता महात्मा गांधी ही की जय बोलती है। महात्मा गांधी उस ट्रेन में हैं या नहीं, इसकी वह परवा नहीं करती।

टहलकर लौटने के बाद भोजनोपरान्त रात के ८ बजे के लगभग मैं महाराज के पास फिर गया।

महाराज लेटे थे और कुछ चिंतातुर से जान पड़ते थे। मैंने अपना सन्देह प्रकट करने का साहस किया। वह धीरे-धीरे कहने लगे—रामनरेशजी! मेरी चिन्ता का अन्त नहीं है। जितने काम करने के हौसले थे, उनमें कुछ तो शुरू ही नहीं हुए और कुछ शुरू होकर अधूरे पड़े हैं। मैं चाहता हूँ कि भारत के गाँव-गाँव में हिन्दू-सभा स्थापित हो और हिन्दुओं का ज़ोरदार संगठन हो। मुझे अणे और सावरकर से आशा थी, लेकिन अणे ने अपने को नासिक में क़ैद कर रक्खा है और सावरकर ने अपने को अभी लेख लिखने और भाषण देने ही तक सीमित कर रक्खा है। हिन्दू-जाति में दो-चार भी ऐसे पुरुष होते जो हृष्ट-पुष्ट होते, विद्वान् और संसार की राजनीति से सुपरिचित होते और कमर कसकर हिन्दू-जाति की उन्नति के लिए अपना जीवन लगा देते तो अभी इस जाति में खड़े होने की ताक़त बहुत है।

इतना कहकर महाराज फिर किसी ध्यान में तन्मय हो गये और उनको थका हुआ भी समझकर मैं उठकर चला आया।

उन्नीसवाँ दिन

१ सितम्बर

सवेरे महाराज की तबीयत अच्छी नहीं थी, पेट में दर्द था। इंससे चलने-फिरने की उनकी इच्छा नहीं थी। पर आज रविवार था। गीता-प्रवचन में जाना था। सवेरे अस्वस्थता के कारण नित्य-क्रिया में कुछ देर होगयी थी; फिर भी वे ९ बजे तक 'प्रवचन' में पहुँच ही गये।

वहाँ से फ़ार्म और गोशाला देखने गये। लौटकर आये तो उनकी पीठ और जाँघ में कुछ दर्द हो रहा था।

एक दर्जन के करीब मिलनेवाले प्रतीक्षा कर रहे थे। महाराज ने आते ही उन्हें एक-एक करके बुलाया और सबसे बातें कीं। उनसे छुट्टी मिली तो उन्होंने विश्वविद्यालय के एक कर्मचारी को बुलाकर एक विज्ञप्ति लिखवायी, जिसके अनुसार गीता-प्रवचन में विद्यार्थियों का उपस्थित होना अनिवार्य किया जाय। फिर महाराज ने उक्त कर्मचारी को आदेश किया कि वह गायनाचार्य को कल साथ लेकर आवें। महाराज चाहते हैं कि प्रत्येक छात्र को, जो विश्वविद्यालय से निकलकर घर जाय, कम-से-कम ६ राग और १२ रागिनियों का ज्ञान अवश्य करा दिया जाय। और अपनी रुचि के अनुसार कोई बाजा जैसे सितार, तबला, वीणा, हारमोनियम में से कम-से-कम एक वह जरूर सीख ले। इसके लिए प्रत्येक होस्टल में एक संगीत-संघ खोला जाय।

मैंने सुन रक्खा था कि महाराज सन् १८८७ में जब

कालाकाँकर से निकलनेवाले समाचार-पत्र 'हिन्दुस्थान' के सम्पादक थे, तब हिन्दी के कई सुप्रसिद्ध साहित्यिक महाराज के साथ काम करते थे। उनमें से पंडित प्रतापनारायण मिश्र और बाबू बाल-मुकुन्द गुप्त का अब देहान्त हो चुका है। उस समय के साथियों में एक बाबू गोपालराम गहमरी (जासूस-सम्पादक) अभी जीवित हैं और आजकल गहमर छोड़कर काशी में अपना घर बनाकर यहीं बस गये हैं।

मैं आज उनसे मिलने गया। महाराज के बारे में मैंने उनके कुछ संस्मरण पूछे। उनको अब उस समय की सारी बातें तो याद रही नहीं; दो-तीन बातें उन्होंने बतायीं। एक तो यह कि मालवीयजी जो लेख लिखते थे, उसको कई बार काट-छाँट कर तब प्रेस में जाने देते थे।

काटने-छाँटने की पुरानी आदत तो अब भी है।

दूसरी बात उन्होंने यह बतायी कि महाराज कालाकाँकर से नाव में प्रयाग आया करते थे। कड़े मानिकपुर से नाव में सवार हुआ करते थे। प्यास लगती तो नाव में बैठे-बैठे पानी कभी नहीं पीते थे। कहीं रेती में नाव से उतर पड़ते और जल पीकर तब नाव पर फिर सवार होते थे।

तीसरी बात यह कि कालाकाँकर से जब गहमरीजी हटे, तब श्री वेंकटेश्वर समाचार (बंबई) में चले गये। एक बार बंबई जाते समय इलाहाबाद में वह बीमार पड़ गये; इससे वहाँ उन्हें कुछ अधिक दिन रुकना पड़ा और पास के पैसे चुक गये। महा-राज को खबर लगी, तब उन्होंने उनको बिना माँगे ही ५) दिये

थे, और कहा था कि जबतक घर से रुपये आजायँ तबतक इनसे काम चलाइए।

गहमरीजी से मिलकर मैं शाम होते-होते लौटा।

आज शाम को मिलनेवाले कुछ कम आये भी, और कुछ मिलने से रोक भी दिये गये। इससे मुझे कुछ समय मिल गया।

छः बजे के लगभग मैं महाराज के कमरे में गया। महाराज ने अपनी कमर के दर्द की शिकायत की और फिर कहा—कुछ सुनाइए।

मैंने तुलसीदास का यह दोहा सुनाया:—

तुलसी राम सनेह करु, त्यागि सकल उपचार।
जैसे घटत न अंक नव, नव के लिखत पहार॥

नौ के पहाड़े में ९ का अंक बना ही रहता है; जैसे, १८ में आठ-एक नौ, सत्ताईस में सात-दो नौ इत्यादि इसी तरह मनुष्य चाहे कैसी भी अवस्था में रहे, उसका व्यक्तित्व सब अवस्थाओं में एक-सा कायम रहना चाहिए।

महाराज को यह व्याख्या बड़ी पसंद आयी। वे कहने लगे—लड़कपन में मुझे भी कविता बनाने का शौक़ था।

मैंने कुछ सुनने की इच्छा प्रकट की, तब उन्होंने कहा—अब याद नहीं रहे। थोड़े-से प्रार्थना के दोहे याद हैं।

दो-तीन दोहे, जो उन्हें याद थे, सुनाये भी।

महाराज के जीवन में कविता का बीज उनके बाल-काल ही में पड़ चुका था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उन्होंने कुछ दोहे बनाये थे। आज महाराज ने अपने ये दोहे सुनाये:—

(१)

गुनी जनन के साथ , रसमय कविता माँहि रुचि ।
अबसि दीजियौ नाथ, जब जब इहाँ पठाइयो ।।

(२)

यह रस ऐसो है बुरो, मन को देत बिगारि ।
याते पास न आवहु, जेते अहो अनारि ।।

इस दोहे में 'अनारि' शब्द में श्लेष है। एक अर्थ है स्त्री-हीन, दूसरा अर्थ है, अनाड़ी। यह दोहा श्रृङ्गार-रस के विरोध में है। अश्लील श्रृङ्गार को महाराज १५ वर्ष की आयु में अविवाहित नवयुवकों के लिए कितना हानिकारक समझते थे, यह इससे भलीभाँति विदित होता है।

बड़े होने पर, लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर महाराज ने कुछ रचनायें और की हैं। कुछ तो वितरण के लिए छपा ली गयी थीं और कुछ महाराज ने मौक़े-मौक़े पर स्वयं सुनाया था। कुछ दोहे जो अभी तक मुझे प्राप्त हुए हैं, यहाँ दिये जाते हैं:—

प्रार्थना (१)

सब देवन के देव प्रभु , सब जग के आधार ।
दृढ़ राखौ मोंहि धर्म में , बिनवौं बारंबार ।। १ ।।
चन्दा सूरज तुम रचे , रचे सकल संसार ।
दृढ़ राखौ मोहि सत्य में , बिनवौं बारम्बार ।। २ ।।
घट घट तुम प्रभु एक अज, अविनाशी अविकार ।
अभयदान मोंहि दीजिये , बिनवौं बारम्बार ।। ३ ।।
मेरे मन मन्दिर बसौ , करौ ताहि उजियार ।
ज्ञान भक्ति प्रभु दीजिये , बिनवौं बारम्बार ।। ४ ।।

सतचित आनंद घन प्रभू , सर्व शक्ति आधार ।
धनबल जनबल धर्मबल , दीजै सुख संसार ।। ५ ।।
पतित उधारन दुख-हरन , दीन-बन्धु करतार ।
हरहु अशुभ शुभ दृढ़ करहु , बिनवौं बारम्बार ।। ६ ।।
जिमि राखे प्रह्लाद को , लै नृसिंह अवतार ।
तिमि राखौ अशरण-शरण , बिनवौं बारम्बार ।। ७ ।।
पाप दीनता दरिदता , और दासता पाप ।
प्रभु दीजै स्वाधीनता , मिटै सकल संताप ।। ८ ।।
नहिं लालच बस लोभ बस , नाहीं डरबस नाथ ।
तजौं धरम वर दीजिये , रहिय सदा मम साथ ।। ९ ।।
जाके मन प्रभु तुम बसौ , सो डर कासों खाय ।
सिर जावै तो जाय प्रभु , मेरो धरम न जाय ।। १० ।।
उठौं धर्म के काम में , उठौं देश के काज ।
दीन-बन्धु तुव नाम लै , नाथ राखियो लाज ।।११ ।।

प्रार्थना (२)

रवि शशि सिरजन हार प्रभु , मैं विनवत हों तोहिं ।
पुत्र सूर्य सम तेज युत , जग उपकारी होंहिं ।। १ ।।
होयँ पुत्र प्रभु राम सम , अथवा कृष्ण समान ।
वीर धीर बुध धर्म दृढ़ , जग हित करैं महान ।। २ ।।
जो पै पुत्री होय तो , सीता सती समान ।
अथवा सावित्री सदृश , धर्म शक्ति गुन खान ।। ३ ।।
रक्षा होवै धर्म की , बढै जाति को मान ।
देश पूर्ण गौरव लहै , जय भारत सन्तान ।। ४ ।।
मैं दुर्बल अति दीन प्रभु , पै तुव शक्ति अपार ।
हरहु अशुभ शुभ दृढ़ करहु , बिनवहुँ बारम्बार ।। ५ ।।

कुछ फुटकर दोहे भी हैं—

थावर जंगम जीव में, घट घट रमता राम।
सत चित आनन्द घन प्रभू, सब विधि पूरण काम ॥६॥
अंश उसी के जीव हो, करो उसी से नेह।
सदा रहो दृढ़ धर्म चिर, बसो निरामय देह ॥७॥

धर्म और हिन्दू-जाति के उद्धार के लिए महाराज के हृदय में कितनी तड़प भरी है, यह ऊपर की प्रत्येक पंक्ति में प्रतिबिम्बित हो रही है।

अब ज़रा 'फक्कड़सिंह' की कथा सुनिए :—

कालेज के दिन महाराज के सचमुच मस्ती के दिन थे। उन्हीं दिनों उन्होंने 'जेण्टिलमैन' नाम का एक प्रहसन लिखा, जिसमें दो कवितायें लिखी थीं। एक में अपने को 'फक्कड़सिंह' बताकर अपनी मस्ती का बखान किया था। और दूसरी में उस समय के जेण्टिलमैनों का मज़ाक उड़ाया था। दोनों कविताओं की कुछ चुनी हुई पंक्तियाँ पढ़िए, और 'फक्कड़सिंह' के चित्र की कल्पना कीजिए :—

[१]

गरे जूही के हैं गजरे पड़ा रंगीं दुपट्टा तन।
भला क्या पूछिए धोती तो ढाके से मँगाते हैं॥
कभी हम वारनिश पहनें कभी पंजाब का जोड़ा।
हमेशा पास डंडा है, ये फक्कड़सिंह गाते हैं॥
न ऊधो से हमें लेना न माधो का हमें देना।
करें पैदा जो खाते हैं व दुखियों को खिलाते हैं॥

नहीं डिप्टी बना चाहें न चाहें हम तसिल्दारी।
पडे अलमस्त रहते हैं युँही हम दिन बिताते हैं।।
नहीं रहती फिकर हमको कि लावें तेल औ लकडी।
मिले तो हलवे छन जावें नहीं झूरी उड़ाते हैं।।

[२]

अहले योरप पूरा जेण्टिलमैन कहलाता है हम।
डोंट से बाबू टु मी, मिस्टर कहा जाता है हम।।
हिन्दुओं का खाना पीना हमको कुछ भाता नहीं।
बीफ चमचे से कटे होटल में जा खाता है हम।।
कोट औ पतलून पहने हैट एक सिर पर धरे।
ईवनिंग में वाक करने पार्क को जाता है हम।।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८७३ में 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' नाम की मासिक पत्रिका निकाली थी। उसमें समस्या-पूर्तियाँ भी छपा करती थीं। उसके एक अंक में 'राधिका रानी' समस्या दी गयी और कवियों से उसकी पूर्त्ति माँगी गयी थी।

महाराज की युवावस्था के दिन थे। महाराज ने भी अपने 'मकरंद' उपनाम से ये पूर्त्तियाँ करके भेजीं :—

इन्दु सुधा बरस्यौ नलिनीन पै वे न बिना रवि के हरखानी।
त्यौं रवि तेज दिखायो तऊ बिनु इन्दु कुमोदिनि ना विकसानी।।
न्यारी कछू यह प्रीति की रीति नहीं 'मकरन्दजू' जात बखानी।
साँवरे कामरीवारे गुपाल पै रीझि लटू भई राधिका रानी।।

× × ×

वे कबते उत ठाढ़े अहैं इत बैठि अहौ तुम नारि चुपानी।
थाकी तुम्हैं समुझावत सामतें ऐसी मैं रावरि बानि न जानी।।

मोहि कहा पै यहै 'मकरन्द' हुँ जो कहूँ खीझि कै रूसन ठानी ।
आजु मनाये न मानती हौ कल्ह आपु मनाइहौ राधिका रानी ॥

× × ×

माँगत मोतिन माल नहीं नहिं माँगत तोसों मैं भोजन पानी ।
सारी न माँगत हौं 'मकरन्द' न थारी अनेक सुगन्धन सानी ॥
माँगत हौं अधरा-रस रञ्चक सोउ न दीजतु हौं सनमानी ।
सूमता एती तुम्हें नहिं चाहिए बाजति हौ चहूँ राधिकारानी ॥

× × ×

धूम मची ब्रज फागु री आजु बजैं डफ झाँझ अबीर उड़ानी ।
ताकि चलैं पिचुका दुहुँ ओर गलीन में रंग की धार बहानी ॥
भीजैं भिगोवैं ठढ़े 'मकरन्द' दुहूँ लखि सोभा न जात बखानी ।
ग्वालन साथ इतै नन्दलाल उतै संग ग्वालिन राधिकारानी ॥

'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' ही में 'डारन' की उनकी यह समस्या-पूर्त्ति भी छपी थी—

भूलिहैं सो हँसि माँगिबो दान को रञ्च दही हित पानि पसारन ।
भूलिहैं फागु के रागु सबै वह ताकहि ताकि कै कुंकुम मारन ॥
सो तो भयो सब ही 'मकरन्दजू' दाखहि चाखिकै बैर बिसारन ।
जापर चीर चुराय चढ़े वह भूलिहैं कैसे कदम्ब की डारन ॥

× × ×

ढूँढ्यो चहूँ झँझरीन झरोखन ढूँढ्यो किते भर दाव पहारन ।
मंजुल कुंजन ढूँढ़ि फिर्यो पर हाय मिल्यौ न कहूँ गिरिधारन ॥
लावत नाहिं तऊ परतीति सह्यौ इतनो दुख प्रीति के कारन ।
जानत स्याम अजौं उतही चित चौंकत देखि कदम्ब की डारन ॥

महावीर-दल के लिए महाराज ने यह दोहा बनाया था—

महावीर को इष्ट है, ब्रह्मचर्य को नेम ।
दृढ़ता अपनें धर्म में, सारे जग से प्रेम ॥

आज (पहली सितम्बर) रात में रोज की अपेक्षा जरा देर से महाराज कार पर टहलने निकले। रात्रि में कहने लगे——रामनरेश जी ! आप अब ऐसी कविता लिखिए, जो देश के युवकों में प्राण फूँक दे, जैसे गुरु गोविन्दसिंह ने अपने शिष्यों में आग उत्पन्न कर दी थी। छोटे-छोटे पद्य लिखिए, जो गाँव-गाँव और कण्ठ-कण्ठ में पहुँच जायँ; जिन्हें पढ़कर और सुनकर लोग वीर बनें, साहसी और भारतवर्ष के सच्चे पुत्र कहलायें। 'बाजी रणभेरी वीर बाजी रणभेरी' वाला गीत बनाओ।

कविता लिखना तो मैं क़रीब-क़रीब छोड़ ही चुका हूँ। इससे दबी ज़बान से मैंने 'हाँ' कर लिया। पर इस प्रसंग को मैं यहाँ इस अभिप्राय से ख़ास तौर पर लिख रहा हूँ कि जो कवि महानुभाव कविता रचने में उन्निद्र हैं, वे अपने इस वृद्ध हिन्दू-नेता की आन्तरिक कामना पर भी दृष्टि रक्खें।

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥

(तुलसीदास)

बीसवाँ दिन

७ सितम्बर ।

आज रविवार है । गीता-प्रवचन का दिन है । पर महाराज नौ बजे तक कमरे से बाहर नहीं आये । मैंने उनके कमरे में जाकर पूछा—गीता-प्रवचन में कब चलेंगे ?

महाराज आज बहुत सुस्त दिखाई पड़ते थे । अर्द्ध-निद्रित की-सी अवस्था में बिछौने पर पड़े थे । मेरा प्रश्न सुनकर उठ बैठे, घड़ी देखी; गीता-प्रवचन का समय बहुत थोड़ा रह गया था, फिर भी जल्दी-जल्दी तैयार होकर, सिर्फ़ कुरता पहने हुए, टोपी और दुपट्टा लेकर चल खड़े हुए । वे गीता-प्रवचन का उठान होते-होते पहुँचे । वहाँ कुछ भजन सुने, और बड़ा सुख अनुभव किया ।

मैंने देखा, धार्मिक कृत्यों के पूरा करने में महाराज अपने शरीर की परवा नहीं करते ।

वहाँ से घूमने निकले । बनती हुई इमारतों को देखते हुए वे मन्दिर की भूमि में पहुँचे । उनका विचार विश्वविद्यालय में शिवजी का एक विशाल मन्दिर बनवाने का है । मन्दिर की नींव पड़ चुकी है । नींव के ऊपर लोहे की छड़ें उसके फर्श की ऊँचाई तक खड़ी हैं । नींव बहुत गहरी दी गयी जान पड़ती है और मन्दिर भी ऐसा मज़बूत बनाया जायगा, जो शताब्दियों तक क़ायम रहेगा । मन्दिर के आस-पास बहुत काफ़ी ज़मीन फुल-

वाड़ी के लिए छोड़ दी गयी है। अब किसी भक्तमहा भाग की तलाश है जो इस मन्दिर का निर्माण कराके इस पवित्र भूमि में अपनी भी कीर्त्ति-पताका गाड़े।

मन्दिर एक वृत्ताकार नहर के मध्य भाग में बनेगा।

वहाँ से चलकर हम नहर के फाटक पर आये। विश्वविद्यालय में यह नहर एक दर्शनीय वस्तु है। नहर काफी चौड़ी और वृत्ताकार बनी हुई है। उसकी फर्श और दीवारें सब पक्की हैं। उसकी गहराई एक पुरसा से अधिक होगी। नहर की गोलाई में दो फाटक आमने-सामने बने हैं, एक स्त्रियों के लिए, दूसरा पुरुषों के लिए। फाटक के दोनों ओर ऊपर जाने की सीढ़ियाँ बनी हैं। नहर के किनारे-किनारे वृक्ष लगाये गये हैं। नहर में पानी कुँओं से पंप-द्वारा उठाकर लाया जाता है। नहर इतनी ऊँचाई पर बनायी गयी है कि जब उसे साफ करने की आवश्यकता होती है, उसका पानी उसके पेंदे में बनी हुई नालियों से बाहर निकाल दिया जाता है। नहर के पानी को नालियों और बरहों द्वारा दूर-दूर तक लानों और पेड़-पौधों तक पहुँचाने की व्यवस्था है। इस नहर के बनवाने में एक लाख रुपये के लगभग लगे हैं। बरसात में यह खाली रक्खी जाती है, और जाड़े और गर्मी में भर दी जाती है। विश्वविद्यालय के लड़के-लड़कियाँ इसका उपयोग करके निश्चय ही सुख अनुभव करते होंगे।

नहर पर ठहरे नहीं। मोटर आगे चली। रास्ते में एक कन्या, शायद किसी दूध देनेवाले अहीर की होगी, सिर पर दुधेंड़ी (दूध की हँडिया) लिये सामने से आ रही थी। महाराज

ने शायद उसे ही देखकर कहा—रामनरेशजी ! वह 'लड़े मुगलवा के साथ' वाला गीत याद है ?

मैंने कहा—हाँ महाराज !

"ज़रा सुनाइए तो !"

मैंने गीत सुनाया—

छोटी-मोटी दुहनी दुधे कै,
बिना रे अगिनि बाफ़ लेई । बलैया लेउँ बीरन ॥
येई दूध पीअइ बिरन मोरा,
बिरना लड़ई मुगलवा के साथ । बलैया लेउँ बीरन ॥

महाराज इस गीत को पहले भी कई बार सुन चुके थे। मुग़ल से लड़नेवाली बात उन्हें बहुत प्रिय लगी। मैंने इस गीत का यह भावार्थ बताया—

"एक छोटी लड़की है। उसके सामने छोटी-सी मटकी में ताज़ा दुहा हुआ दूध रक्खा है। वह ऐसा ताज़ा है कि बिना आग ही के उसमें से भाप निकल रही है। लड़की उसे देखकर मनमें सोचती है कि यही दूध मेरा भाई पीता है; तभी वह मुग़ल से लड़ता है।"

महाराज कहने लगे—यह गीत उस ज़माने का है, जब मुग़ल बड़े बहादुर समझे जाते रहे होंगे।

महाराज ने कुछ और गीत सुनाने की आज्ञा दी। मैंने यह एक दूसरा गीत सुनाया—

बाबा निमिया क पेड़ जिनि काटेउ,
निमिया चिरैया बसेर ।

बाबा बिटिया क जिन केउ दुख देउ,
बिटिया चिरैया की नाई ॥
बाबा सबरे चिरैया उड़ि जइहैं,
रहि जइहैं निमिया अकेलि ।
बाबा सबरे बिटियवा जइहैं सासुर,
रहि जइहैं माई अकेलि ॥ बलैया लेउँ०

"हे पिता ! नीम का यह पेड़ न काटना; इसपर चिड़ियाँ बसेरा लेती हैं ।

हे पिता ! कन्याओं को कोई दुःख न देना; कन्यायें चिड़ियों-जैसी होती हैं ।

हे पिता ! सब चिड़ियाँ उड जायँगी तो यह नीम अकेली रह जायगी ।"

इसी तरह हे पिता ! सब कन्यायें ससुराल चली जायँगी तो माँ अकेली रह जायगी ।

'माँ अकेली रह जायगी' सुनकर महाराज की आँखें आर्द्र हो आयीं । हृदय को सँभालकर महाराज कहने लगे—

माँ के साथ नीम के अकेलेपन की उदासीनता का भी अनुभव गीत में प्रकट किया गया है । यह एकात्मता बड़ी ही मनोहर है । नीम में भी वही आत्मा है जो माँ में है । नीम की पीड़ा को मनुष्य अनुभव करे, यह उसके हृदय की विशालता है ।

फिर मेरी ओर दृष्टि करके कहने लगे—रामनरेशजी ! आप तो नित्य गंगा-स्नान करते हैं ।

मैं भी महाराज की मधुर वाणी का आस्वाद लेने लगा।

शाम को गायनाचार्य पण्डित शिवप्रसादजी अपने शिष्यों को लेकर महाराज को संगीत सुनाने आये। महाराज एक घंटे से अधिक समय तक बड़े मनोयोग से संगीत का आनंद लेते रहे।

महाराज को संगीत से स्वाभाविक प्रेम है। उसमें उनकी गति भी है। स्वयं भी किसी समय सितार अच्छा बजाते थे। गायनाचार्य से उन्होंने कुछ अपनी रुचि के पद भी सुने।

गायनाचार्य के कुछ छात्रों ने बाँसुरी, तबला और सितार बजाने का अच्छा अभ्यास किया है। महाराज ने हरएक का बजाना अलग-अलग सुना और प्रसन्नता प्रकट की।

अन्त में महाराज ने छात्रों को यह उपदेश दिया— इसी तरह जीवन भी एक संगीत है। उसके सभी तार दुरुस्त रक्खो, नहीं तो उसका साज बिगड़ जायगा।

गायनाचार्य छात्रोंसहित चले गये, तब महाराज रेडियो सुनने बैठे। जर्मनों ने अपने गीत गाये और अंग्रेज़ों ने अपने गीत गाये। सुनकर महाराज कहने लगे—दोनों अपनी अपनी कहते हैं। इनमें सच किसका है, यह पता लगना कठिन है।

अन्त में महाराज ने एक गहरी आह ली और चिंता प्रकट करते हुए कहा—हिन्दू-जाति का क्या होगा?

इश्क क्या शै है किसी कामिल से पूछा चाहिये।

इक्कीसवाँ दिन

१३ सितम्बर

ता० ९ सितम्बर को मैं प्रयाग चला गया था। आज शाम को वापस आया हूँ। आने के थोड़ी ही देर बाद महाराज के साथ टहलने निकला। आज महाराज के साथ डाक्टर आत्रेय भी थे।

दोनों में संसार की अनन्तता की चर्चा चल पड़ी। चर्चा चलते-चलते इलेक्ट्रान (विद्युत्कण) के अवयवों तक पहुँच गयी। सूक्ष्म शरीर, सत्, चित् और आनन्द की विवेचना हुई। दो तत्त्वदर्शी विद्वानों के निकट बैठकर उनके प्रेम-पूर्ण वाद-विवाद का आनन्द मुझे सौभाग्य ही से प्राप्त हो गया।

विश्वविद्यालय की क़रीब-क़रीब सभी मुख्य सड़कों का परिभ्रमण करते हुए 'महाराज शिवाजी' हाल (विश्वविद्यालय की व्यायाम-शाला) में पहुँचे। व्यायामशाला में विद्यार्थी व्यायाम कर रहे थे। महाराज को देखते ही सब व्यायाम छोड़कर उनके निकट आकर घेरकर खड़े हो गये। प्रायः हरेक ने महाराज के चरण-स्पर्श करके प्रणाम किया। महाराज अनेक होनहार पुत्रों के बीच भाग्यशाली पिता की भाँति बैठ गये।

विद्यार्थियों के सुगठित शरीर, उनके गठीले भुजदण्ड, पृथुल जंघायें और सिंह की सी गर्दन देखकर महाराज पुलकित हो गये। मुझे तुलसीदास की चौपाइयाँ और दोहे याद आने लगे—

केहरि कंधर बाहु बिसाला ।

× × ×

गुन सागर नागर वर बीरा ।

सुन्दर स्यामल गौर सरीरा ।।

× × +

बृषभकंध केहरि ठवनि , बलनिधि बाहु बिसाल ।

सचमुच कई विद्यार्थियों ने तो अपना शरीर ऐसा बनाया है कि तुलसीदास की ऊपर की चौपाइयों और दोहे को उनपर घटाया जा सकता है ।

महाराज ने कइयों से व्यायाम कराके देखा और सब को 'वीर बनो' 'बहादुर बनो' का उपदेश देकर वे उठ खड़े हुए ।

व्यायाम-शाला के दरवाजे से निकलते हुए महाराज ने डाक्टर आत्रेय से हँसकर कहा—लीजिए साहब, हम लोग तो सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर में पहुँच गये थे ।

पिछले दिन मैंने मालवीयजी के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं की एक संक्षिप्त तालिका तैयार की थी । आज रात में भोजनोपरान्त मैंने उसे पढ़कर महाराज को सुनाया और उनकी सम्मति से उसमें आवश्यक काट-छाँट करके उसे ठीक कर लिया ।

मालवीयजी पन्द्रह-सोलह वर्ष की विद्यार्थी अवस्था ही से देश और समाज-सुधार के कामों में योग देने लग गये थे । तब से अबतक उन्होंने धर्म, समाज और देश के प्रायः सब प्रमुख कार्यों में आगे रहकर अपनी इतनी अधिक शक्तियाँ लगायी हैं और इतने अधिक व्यक्तियों को गुप्त और प्रकट सहायतायें

पहुँचायी हैं कि सबकी खोज करके उनकी सूची तैयार करना बड़ा कठिन कार्य है

मालवीयजी-द्वारा संचालित जिन कार्यों की रिपोर्टें उपलब्ध हैं, उनका साधारण विवरण तो उन रिपोर्टों से मिल जाता है; परन्तु उन कार्यों को प्रारंभ करने में और उन्हें सफल बनाने में उनको जो शक्तियाँ जुटानी पड़ीं और उनके समक्ष जो अनेक बाधायें उपस्थित हुईं, तथा उन्हें दूर करने में उनको जो प्रयत्न करने पड़े, उनका विवरण रिपोर्टों में नहीं मिलता। इससे रिपोर्टें उनके कार्यों की बाहरी रूप-रेखायें ही बताने में समर्थ हैं। फिर भी कुछ ख़ास-ख़ास बातें इन रिपोर्टों से, कुछ मालवीयजी से पूछकर और कुछ, जब वे बातचीत में स्वयं कुछ बताने लगते हैं, तब सुनकर मैंने उनके जीवन के प्रमुख कार्यों की एक तालिका बना ली है, जो परिशिष्ट में दी गयी है।

इस तालिका ही से विदित हो जायगा कि मालवीयजी ने अपनी विद्यार्थी अवस्था से लेकर अबतक जीवन के प्रत्येक वर्ष पर एक ही नहीं, कई-कई भारी कामों का भार लाद रक्खा था।

अपनी शक्तियों का प्रत्येक कण और जीवन का प्रत्येक क्षण उन्होंने केवल काम करने में व्यय किया है। उनका सारा जीवन प्रेरणात्मक रहा है।

उन्होंने करने के लिए सदा बड़े-से-बड़ा काम चुना है और उसे सफल बनाने में अतुलनीय पौरुष और धैर्य प्रकट किया है।

वे गत साठ वर्षों के भारतवर्ष के जीवित इतिहास हैं। सरकार और जनता दोनों की नस-नस से सुपरिचित कोई नेता अंग्रेजी शासन भर में ऐसा नहीं दिखाई पड़ता, जिसकी तुलना मालवीयजी से की जा सके।

दीनानां कल्पवृक्षः सुगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी।
आदर्शः शिक्षितानां सुचरित-निकषः शीलवेला-समुद्रः।
सत्कर्त्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधि दक्षिणोदारसत्वो।
ह्येकः श्लाघ्यः सजीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसंतीव चान्ये॥

बाईसवाँ दिन

१४ सितंबर

महाराज शाम को टहलने निकले। आजकल वे आयुर्वेद-कालेज के बगीचे में मोटर से उतरकर पैदल चलते हैं। डाक्टर पाठक बगीचे में प्रायः मौजूद मिलते हैं। चलते-चलते महाराज कहने लगे—रवीन्द्रनाथ को झुककर चलते हुए देखकर मुझे कौतूहल होता था, क्योंकि सीधा तनकर चलना मुझे प्रिय लगता था। पर अब तो मैं भी शिकार हो गया।

यह कहकर हँसने लगे।

मैंने पूछा—क्या रवीन्द्रनाथ बहुत पहले से झुक गये हैं, जब आप सीधे तनकर चलते थे?

महाराज ने कहा—हाँ, उनकी कमर पहले ही झुक गई थी और वे ज़रा-सा तिरछे होकर चलने लगे थे।

कुछ दूर चलकर महाराज सुस्ताने के लिए कुर्सी पर बैठ गये, जिसे उनका नौकर बगीचे में साथ-साथ लेकर चल रहा था।

बैठने पर डाक्टर पाठक ने कहा—महाराज इसी तरह पैदल चलने का अभ्यास जारी रखेंगे तो उम्र बढ़ जाने की गारंटी मैं करता हूँ।

महाराज हँसने लगे। फिर बोले—अब तो जितनी उम्र बढ़े, सब फोकट का माल है। मेरे चचा ९२ वर्ष तक जिये थे, मेरे पिता ८२ वर्ष तक।

डाक्टर पाठक ने कहा—तो आपको ९४ वर्ष तक जीना चाहिए।

महाराज की शारीरिक निर्बलता बहुत बढ़ गयी है। उनका विश्वास है कि डाक्टर साहब उस निर्बलता का अनुभव नहीं कर रहे हैं।

महाराज ने मेरी ओर देखकर पूछा—आपको बिहारी का वह दोहा 'काग़ज़ पर लिखत न बनत' याद है ?

मैंने पढ़ा—

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात।
कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात।

महाराज ने डाक्टर साहब की तरफ़ मुहँ करके उसे इस तरह पढ़ा—

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेस लजात।
अपने मन से पूछिये, मेरे हिय की बात।

दोनों हँसने लगे। डाक्टर साहब ने फिर आश्वासन दिया कि आप शीघ्र अच्छे हो जायँगे, और देश का काम करेंगे।

महाराज सचमुच इन दिनों वाक्य-जीवी हो रहे हैं। कोई कह देता है कि कि आपका स्वास्थ्य सुधर रहा है तो उनमें उठने और चलने का उत्साह आ जाता है। और कोई उनकी निर्बलता बढ़ती हुई बता देता है तो वे शिथिल हो जाते हैं।

टहलकर वापस आये तो कुछ देर तक वे बँगले के बरामदे में कुर्सी पर बैठे रहे, और अपनी पुरानी बातें बताते रहे। जब अन्दर जाने लगे, तब मुझे निकट बुलाकर कहने लगे—अब मैं

जबरदस्ती चलाया जा रहा हूँ। पर घबराइएगा नहीं, निर्बलता जल्द निकल जायगी।

मैं महाराज का संकेत समझ गया और हृदय में दुःख अनुभव करने लगा।

रात की बैठक में महाराज की वकालत की चर्चा निकल पड़ी। उसका सारांश यह है :–

'हिन्दुस्थान' का सम्पादन छोड़ने के बाद मालवीयजी की इच्छा केवल देश-सेवा के कार्यों में लग जाने की थी और मालवीयजी के हितेच्छु ह्यूम साहब, जो कांग्रेस के पिता थे, तथा पंडित अयोध्यानाथ, राजा रामपालसिंह और पंडित सुन्दरलाल की भी यही इच्छा थी कि मालवीयजी क़ानून का अध्ययन करके देश के राजनीतिक कार्यों में विशेष भाग लें। राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिए क़ानून का ज्ञान परमावश्यक है।

यद्यपि मालवीयजी को क़ानूनी पेशे से घृणा थी, पर हितैषी मित्रों के अनुरोध से और राजा रामपालसिंह के आग्रह से वे लॉ कालेज में भर्ती हो गये। बारबार रोकने पर भी राजा रामपालसिंह प्रतिमास एक सौ रुपया मालवीयजी के पास भेजते जाते थे।

क़ानून की परीक्षा निकट थी। अफीम खाने से यकायक मालवीयजी के छोटे भाई पंडित मनोहरलाल की मृत्यु हो गयी। उसका उनके मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे पढ़ना-लिखना छोड़ बैठे।

पंडित अयोध्यानाथ को यह हाल मालूम हुआ तो उन्होंने



मालवीयजी

[मिस्टर ह्यूम, वेडरवर्न, राजा रामपालसिंह, राय रामचरणदास आदि प्रमुख व्यक्तियों के साथ]

मालवीयजी को बुलाया और बहुत समझा-बुझाकर परीक्षा के लिए राजी किया।

परीक्षा के केवल सात दिन शेष थे। मालवीयजी की स्मरण-शक्ति हमेशा से अच्छी रही है। सात ही दिनों में उन्होंने क़ानून की पुस्तकों को दुहराकर परीक्षा दे दी और वे पास हो गये। सन् १८९१ में वे एल-एल० बी० हो गये।

वकालत शुरू करने के दो वर्ष बाद ही वे हाईकोर्ट में पहुँच गये। थोड़े ही दिनों में उनकी वकालत खूब चमक उठी। मुवक्किलों की भीड़ पौ फटते ही घर घेर लेती थी।

मुवक्किलों से छुट्टी पाकर वे स्नान करके पूजा-पाठ करते और समय रहता तो भोजन कर लेते, नहीं तो कभी-कभी बिना भोजन किये ही कचहरी जाने के लिए गाड़ी में बैठ जाते थे। अदालत के कपड़े भी गाड़ी ही में बदलते थे। ऐसे मौक़ों पर उनकी पूरी पोशाक गाड़ी में पहले ही रख दी जाती थी।

हाईकोर्ट के जजों ने समय-समय पर मालवीयजी की प्रशंसा की है। एक तो उनकी सफेद वेष-भूषा और मधुर भाषण यों ही आकर्षक था, दूसरे मुकदमा समझाने का उनका ढंग भी ऐसा अच्छा था कि जजों को विवश होकर उनकी बात माननी ही पड़ती थी।

शेरकोट की रानी का मुक़दमा जीतने पर मालवीयजी को बड़ी कीर्त्ति प्राप्त हुई। उससे आमदनी भी इतनी हुई कि उन्होंने घर का क़र्ज भी पटा दिया और अपने जन्म-गृह से सटे हुए मकान को कई हज़ार रुपये लगाकर पक्का भी करा लिया। उन

दिनों उस महल्ले में वही एक पक्का मकान था।

मालवीयजी की वकालत खूब चली। साथ ही प्रसिद्धि भी इतनी बढ़ी कि सभाओं और संस्थाओं ही से उन्हें छुट्टी नहीं मिलती थी। ऊपर लिखा जा चुका है कि मालवीयजी की स्वाभाविक रुचि देश की तरफ थी, वकालत की तरफ बहुत ही कम। इससे वे सभाओं और संस्थाओं के अधिवेशनों में भाग लेने में कभी समय न मिलने का बहाना नहीं करते थे।

मालवीयजी जब वकालत करने लगे थे, उन दिनों एक बार पंडित अयोध्यानाथ ने ह्यूम साहब (कांग्रेस के पिता) से शिकायत की कि वकालत के चक्कर में पड़कर पंडितजी ने कांग्रेस के कामों में ढिलाई करदी। इसपर ह्यूम साहब ने संतोष प्रकट करते हुए कहा—"ठीक तो कर रहे हैं।" फिर मालवीयजी की ओर घूमकर कहा—'देखो मदनमोहन ! ईश्वर ने तुमको प्रखर बुद्धि दी है। अगर दस बरस भी मन लगाकर वकालत कर लोगे तो तुम निश्चय ही सबके आगे बढ़ जाओगे और तब तुम समाज में प्रतिष्ठित बनकर अधिक देश-सेवा कर सकोगे।'

पर मालवीयजी बहुत दिनों तक वकालत के प्रपंच में नहीं पड़े रह सके। १९०५ से उन्होंने वकालत का धंधा कम करना शुरू कर दिया था। और धीरे-धीरे उन्होंने उसे छोड़ ही दिया। इसपर गोखले ने कहा था—'त्याग किया है मालवीयजी ने। ग़रीब घर में पैदा होकर वकील हुए, धन कमाया, अमीरों का मज़ा चखा और चखकर उसे देश के लिए ठुकरा दिया। त्याग इसे कहते हैं।'

सन् १९२२ में बहुत वर्षों के बाद मालवीयजी को फिर वकील की हैसियत से हाईकोर्ट में खड़ा होना पड़ा था। चौरी-चौरा का हत्याकांड सत्याग्रह के इतिहास की एक अति प्रसिद्ध घटना है। उसमें पुलिस ने दो सौ पच्चीस आदमियों पर मुकदमा चलाया था। उसमें मालवीयजी ने वकील की हैसियत से चीफ जस्टिस और जस्टिस पिगट के सामने इलाहाबाद हाईकोर्ट में बहस की थी और एक सौ इक्यावन अभियुक्तों को फाँसी के तख्ते से बचा लिया था।

जजों और अच्छे-अच्छे कानूनदाँ लोगों का कहना है कि मालवीयजी यदि वकालत करते रहते तो वे भारत के प्रमुख वकीलों में एक होते।

मैंने कभी सुन रक्खा था कि किसी मुक़दमे में महाराज ने हाईकोर्ट में बहस करते समय अरबी का कोई उद्धरण ऐसा शुद्ध पढ़ा था कि उसे सुनकर मौलवी लोग दंग हो गये थे। मैंने उसकी वास्तविकता जाननी चाही। महाराज ने बताया—

'एक मुक़दमे में एक मौलवी साहब ने मुझे वकील किया। इलाहाबाद जिले ही का मुकदमा था। मुवक्किल ने नजीर के लिए अरबी की कुछ किताबें ईजिप्ट (मिस्र) से मँगायी थीं, मैंने उसमें से कुछ उद्धरण लेकर नागरी में लिख लिये थे। मुवक्किल मौ० महमूदुलहसन उसे कोर्ट में पढ़कर सुनाने लगे, तब उनसे ठीक पढ़ते नहीं बना। मैंने कहा—मौलवी साहब! मुझे इजाज़त दें तो मैं पढ़ूँ, आप शोधते जाइए। मैंने पढ़ना शुरू किया और ऐसा पढ़ा कि मौ० ज़ामिनअली, जो मशहूर वकील थे, मुक़दमा

ख़तम होने पर मुझसे कोर्ट के बरामदे में मिले और मेरा हाथ पकड़कर कहने लगे--पंडित साहब, आज मैं नागरी अक्षरों की उम्दगी का क़ायल होगया। लेकिन मैं पबलिक में न कहूँगा।

यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चै—
नर्रः स्वैरेव कर्मभिः।
कूपस्य खनिता यद्वत्
प्राकारस्येव कारकः॥

तेईसवाँ दिन

१६ सितंबर

आज भाद्रपद की पूर्णिमा है। शरद् ऋतु का प्रारम्भ है। आकाश बिलकुल स्वच्छ है। शाम के सात बजे हैं। चन्द्रदेव अपनी मनोहर किरणों से सृष्टि पर मादकता की वर्षा कर रहे हैं। तृण से लेकर ताड़ तक सभी श्रेणी के वृक्ष, पौधे, गुल्म, लतायें और फूल मानो सुधा पीकर तृप्त और निस्तब्ध हो गये हैं। चारों ओर शान्ति है।

चन्द्रदेव इसी रूप में प्रतिमास पृथ्वी-निवासियों के सामने आते हैं और यही विहँसता हुआ मुँह हमेशा दिखला जाते हैं। करोड़ों वर्ष हो गये, उन्होंने कभी अपना मुँह हमारी ओर से मोड़ा ही नहीं।

उन्हें हम लाखों पीढ़ियों से देखते आते हैं। पर आजतक उनकी मिठास में कभी बासीपन नहीं आया। हमारे पूर्वजों को वे जितने प्यारे लगते थे, हमको भी उतने ही लगते हैं। कैसा शाश्वत सौन्दर्य उनको मिला है!

पूर्णिमा की मनोहर रात्रि में विश्वविद्यालय का सौन्दर्य कैसा निखर उठता है, क्या कभी किसी ने देखा है? देश और विदेश के दूर-दूर के यात्री लोग पूर्णिमा की रात्रि में ताजमहल की शोभा देखने जाते हैं, पर विश्वविद्यालय का दिव्य रूप देखने की कल्पना किसी को क्यों न सूझी?

यदि कोई ऐसा ऊँचा स्थान बनाया जाय, जहाँसे सम्पूर्ण विश्वविद्यालय देखा जा सके, तो पूर्णिमा की सुधा-स्निग्ध रात्रि में उसपर खड़े होकर देखने से यह अद्भुत चमत्कार दिखायी पड़े बिना न रहेगा कि देखते-देखते विश्वविद्यालय सिमिटते-सिमिटते एक वृद्ध हिन्दू तपस्वी की मूर्ति में परिवर्तित होजायगा और अंत में वह मूर्ति ही आँखों के सामने रह जायगी।

आज महाराज चन्द्रिका-सिक्त राका-रजनी में भ्रमण करने निकले। घूमते-घूमते उस सड़क पर से निकले, जिसकी दाहिनी ओर राजपूताना होस्टल का सुधा-धवलशुभ्र प्रासाद पड़ता था। उस समय की उसकी शोभा अवर्णनीय थी। ऐसा जान पड़ता था कि दूर से अलकापुरी दिखायी पड़ती है।

चलती हुई मोटर पर से ऐसा मालूम पड़ता था कि छोटे-बड़े वृक्षों की आड़ में वह भूलभुलैयाँ-सा खेल रहा था।

महाराज कहने लगे—चाँदनी रात में विश्वविद्यालय बड़ा सुन्दर लगता है।

महाराज को विश्वविद्यालय की प्रशंसा सुनने को मिलनी चाहिए। इससे बढ़कर सुख शायद संसार में उनके लिए दूसरा नहीं है। विश्वविद्यालय उनका महाकाव्य है।

हम दोनों अपने-अपने पात्रों में उस समय के दृश्य की सुख-सुधा चुपचाप भरते हुए बँगले को लौटे।

रात में फिर वही रेडियो और समाचार-पत्र, और अन्त में भारतवर्ष और हिन्दू-जाति के भविष्य के लिए छटपटाना।

वर्तमान युग में हिन्दू-जाति के लिए ऐसी चिंता शायद ही

किसी भारतवासी में होगी। मैंने महाराज के जीवन के बहुत से अंग अबतक देख, सुन और पढ़ लिये हैं। महाराज अपने ध्यान में निमग्न थे और मैं बहुत देर तक बैठे-बैठे यह सोचता रहा कि महाराज हिन्दू-जाति की सम्पूर्णता की रक्षा के लिए कहाँ तक आगे बढ़े हैं।

हिन्दू-जाति में अछूतों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार शताब्दियों से चला आ रहा था, यद्यपि वह घृणासूचक नहीं था जैसा उसे इधर कुछ वर्षों से अछूतों का पक्ष लेकर भाषण करनेवाले नेताओं ने बना दिया है। अछूतों में बहुत-से सन्त हुए हैं और अब भी हैं। जिनका आदर सच्चे साधुओं के समान ही हिन्दू लोग करते रहे हैं और अब भी करते हैं।

गाँवों में चमार हलवाहे खुल्लम-खुल्ला कुँओं में पानी भरते हैं और कोई रोक-टोक नहीं करता। मेले-ठेले में वे सबके साथ घूमते-फिरते रहते हैं और मन्दिरों में उत्सवों के अवसर पर साथ ही दर्शन भी करते हैं। पर उनके बरतनों को कुएँ के अन्दर नहीं जाने दिया जाता, क्योंकि वह अशुद्ध होते हैं। स्वच्छता की दृष्टि से यह आवश्यक भी है। देश-काल के प्रभाव से कुछ विषयों में अछूतों के साथ हिन्दुओं की सहानुभूति नष्ट हो चली थी। उसीका परिणाम अछूत-आन्दोलन है।

हिन्दू-जाति की सम्पूर्णता की रक्षा का सबसे पहला प्रयत्न स्वामी रामानन्द ने किया। उनके बाद गोस्वामी तुलसीदास ने अपना व्यापक प्रयोग किया। उनके बाद स्वामी दयानन्द आते हैं। स्वामीजी ने भी अछूतों के लिए मार्ग चौड़ा करने का

उद्योग किया और आर्य-समाज के अन्तर्गत काम करनेवाली संस्थाओं और शुद्धि-सभाओं ने उस मार्ग पर चलकर अछूतों को न्याय दिलाया भी। स्वामीजी के बाद महात्मा गांधी ने भी अछूतों का प्रश्न हाथ में लिया और देशभर भ्रमण करके उसे उन्होंने एक अत्यावश्यक प्रश्न बना दिया।

समय और समाज की गति से पूर्ण परिचित मालवीयजी ने इस प्रश्न को अपने ही दृष्टि-कोण से हल किया। उन्होंने हिन्दू-समाज में परम्परागत सनातन-धर्म के अन्दर ही से शनैः शनैः बढ़े हुए इस सामाजिक रोग का इलाज निकाला और वैसा ही व्यापक उसका प्रभाव भी हुआ।

सन् १९२१ में दक्षिण भारत में मोपला विद्रोह हुआ, जिसमें हिन्दुओं को बड़ी क्षति उठानी पड़ी। महाराज ने देखा कि यदि हिंदू संगठित नहीं होते तो ऐसा संकट उनपर कहीं भी और किसी समय भी आ सकता है।

साथ ही अछूतों को हिन्दू-समाज से अलग करने का आन्दोलन देश में जोरों से चल रहा था। अछूतों में कुछ ऐसे नेता उत्पन्न हो गये थे या कर दिये गये थे, जो अछूतों को हिन्दुओं से अलग कर लेने का अथक उद्योग कर रहे थे।

मुसलमान चाहते ही थे कि हिन्दुओं की संख्या घटे और एसेम्ब्लियों और कौंसिलों के संख्या-युद्ध में वे एक अच्छा मौका प्राप्त करें। सरकार भी इस आन्दोलन को प्रोत्साहन दे रही थी। हिन्दू-जाति के लिए बड़ा सांघातिक समय उपस्थित हो गया था।



[प्रयाग में माघ-मेले के अवसर पर मालवीयजी अछूतों के मध्य में खड़े होकर भाषण कर रहे हैं ।]

अछूतों को हिन्दुओं से अलग कर देने की चाल को मात करने और उनके वास्तविक उद्धार और सुधार के लिए महाराज ने सनातन धर्म-सभा द्वारा आन्दोलन शुरू किया और उन्होंने सनातनधर्म-सभा में अछूतों को मन्त्र-दीक्षा देने का प्रस्ताव पास करा लिया।

उसके अनुसार १९२७ में महाशिवरात्रि के दिन काशी में, दशाश्वमेध घाट पर, उन्होंने चारों वर्णों को 'ॐ नमः शिवाय' 'ॐ नमो नारायणाय' 'ॐ रामाय नमः' 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' आदि मन्त्रों की दीक्षा दी। ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक को उन्होंने मन्त्र-दीक्षा दी थी।

३० दिसम्बर, १९२८ को कलकत्ता-कांग्रेस के अवसर महाराज ने गंगा-तट पर, प्रातःकाल दीक्षा देने की घोषणा की। एक बड़ा-सा शामियाना ताना गया और उसके नीचे होम और दीक्षा की तैयारी की गयी।

८ बजे महाराज दीक्षा-स्थान पर पधारे। उसी समय कुछ धर्मशील मारवाड़ी सज्जन और कुछ प्राचीनता के पोषक शास्त्री दल-बल के साथ आये और उन्होंने शामियाना गिरा दिया।

यह देखकर महाराज गंगा-तट पर गये और वहाँ उन्होंने दीक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। इतने में विपक्षियों ने महाराज को घेर लिया और उनपर कीचड़ फेंकना शुरू किया। पर महाराज ने कुछ भी उद्विग्नता नहीं प्रकट की और वे मुसकराते हुए अपने कार्य में लगे रहे।

महाराज ने विपक्ष के शास्त्रियों से कहा—यदि इस

सम्बन्ध में कोई शास्त्रीय विरोध हो तो मैं किसी भी पंडित से शास्त्रार्थ के लिए तैयार हूँ।

इसपर विपक्ष के शास्त्रि-मंडल की आज्ञा से एक पंडित ने लगभग तीन घंटे तक व्याख्यान देकर अपने पक्ष का समर्थन किया। उनका व्याख्यान समाप्त होने पर महाराज खड़े हुए और पंडित-मंडली द्वारा मान्य ग्रन्थों से उदाहरण दे-देकर उन्होंने उनको निरुत्तर कर दिया। महाराज ने उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला एक वाक्य भी नहीं कहा और अपनी शान्त और सुमधुर विचार-शैली से पंडितों और उपस्थित जनता पर बड़ा प्रभाव डाला।

अन्त में महाराज का जयजयकार हुआ और विपक्षी लोग दिन के दो बजे के क़रीब वापस गये।

महाराज साढ़े तीन बजे तक दीक्षा देते रहे। उस दिन चार ही सौ आदमियों को दीक्षा दी जा सकी।

६ जनवरी, १९२९ को कलकत्ते में दीक्षा का कार्य फिर आरम्भ हुआ। इस बार दीक्षा-स्थान पर पुलिस और स्वयं-सेवकों का पहरा था। फिर भी विरोधी लोग अपदस्थ नहीं हुए थे।

महाराज ने जब स्नान के लिए गंगाजी में प्रवेश किया, उसी समय एक हिन्दू गुण्डा छुरा लेकर उनपर टूट पड़ा; पर महाराज बच गये और गुण्डा पकड़ लिया गया।

उस दिन का समारोह देखने के लिए कुछ अंग्रेज भी आये थे। नौ बजे सबेरे महाराज ने दीक्षा देनी शुरू की और बारह बजे तक वे लगातार देते रहे।

इसके बाद प्रयाग और काशी में महाराज कई बार मन्त्र-दीक्षा दे-देकर सनातन-धर्मियों को सहनशील बनाते रहे।

१ अगस्त १९३३ को महात्मा गाँधी ने हरिजन-आंदोलन शुरू किया और इस विषय को लेकर उन्होंने पूरे भारतवर्ष का दौरा किया।

महात्माजी के प्रभाव से बहुत से मन्दिरों के द्वार हरिजनों के लिये खुल गये। सार्वजनिक स्कूलों में हरिजन बालकों को प्रवेश करने और पढ़ने की आज्ञा मिल गयी और कई स्वतन्त्र हरिजन-पाठशालायें भी खुल गयीं।

दौरे में हरिजनोद्धार के लिए महात्माजी को धन की सहायता भी मिली।

यह दौरा १ अगस्त १९३४ को काशी में आकर समाप्त हुआ।

वही दिन लोकमान्य तिलक की पुण्य-तिथि का भी था। उस दिन हिन्दू-विश्वविद्यालय में सभा हुई, जिसमें गाँधीजी ने भाषण दिया। वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ की ओर से पं० देवनायकाचार्य गाँधीजी का विरोध करने के लिए भेजे गये थे। गाँधीजी ने अपने भाषण में उनका भी भाषण ध्यानपूर्वक सुनने की प्रार्थना उपस्थित जनता से की। पंडित देवनायकाचार्य ने सभा में अपना मत प्रकट किया। उसके बाद महाराज उठे।

महाराज ने एक लम्बा भाषण किया। जिसका सारांश यह है:—

"मैं बहुत समय से इस प्रयत्न में हूँ कि विद्वान् लोग निष्पक्ष

होकर यह निर्णय करें कि शास्त्र क्या कहता है ? विद्वन्मण्डली राग-द्वेष छोड़कर जो बतावे और निर्णय करे, उसे सबको मान लेना चाहिए।

"अस्पृश्यता और मंदिर-प्रवेश बिल के सम्बन्ध में मेरा अपने भाई (गाँधीजी) से कुछ मतभेद है। मेरी राय में ऐसा बिल असेम्बली द्वारा नहीं पास होना चाहिए।

"अछूत लोगों को हिन्दू-जाति से बाहर निकालने का ईसाइयों ने प्रयत्न किया, मुसलमानों ने प्रयत्न किया, कितने ही अछूत भाइयों को उन्होंने मुसलमान और ईसाई बना भी लिया। वे अब धर्म-रक्षक नहीं रहे। इसी बात पर महात्मा गाँधी ने यह आवाज़ उठायी है। चुटिया जिनके सिर पर, राम-नाम जिनके मुहँ में, सत्यनारायण की कथा जिसके घर पर होती हो, ऐसे सनातन धर्म के माननेवाले चमार-भंगी को ईसाइयों ने अपने दल में बुलाया, और मुसलमानों ने अपने; किन्तु उन्होंने अनेकों कष्ट सहकर भी गंगा और गऊ को, राम और कृष्ण को नहीं छोड़ा; मेरा सिर उनके आगे झुक जाता है।

"मैं धर्म-ग्रंथों के अध्ययन के अनुसार कहता हूँ कि इनको भी देव-दर्शन का लाभ मिलना चाहिए। यही अभिलाषा गाँधीजी की भी होगी।

"सदाचार ऐसी वस्तु है कि इससे नीच कुल में उत्पन्न होकर भी मनुष्य ऊँचा सम्मान पा सकता है।

"चाण्डाल भी हमारे ही अंग हैं। क्या आप लोगों में से कोई चाहते हैं कि उन्हें पीने को पानी न मिले ? (श्रोता—नहीं, नहीं)

"क्या आप चाहते हैं कि जिन सड़कों पर सब लोग चलते हों, उनपर उन्हें चलने न दिया जाय ? (श्रोता--कभी नहीं)

"क्या आप चाहते हैं कि जिन स्कूलों में ईसाई-मुसलमानों के लड़के पढ़ते हैं उनमें वे न पढ़ने दिये जायँ ? (श्रोता--कभी नहीं)

"मेरी यही इच्छा है कि ऐसी जगहों में जहाँ रोक हो, वह मिटे।

"हमें इन अछूतों को जल देना है, रहने को स्थान देना है और उन्हें शिक्षा देनी है। मैं तो चाहता हूँ कि इनके चार करोड़ घरों में मूर्तियाँ रक्खी हों और भगवान् का भजन हो, तभी मंगल होगा।

"गांधीजी ने जो बारह महीने से कार्य उठाया था, वह इस विश्वनाथजी की पुरी में समाप्त हो जायगा। आपकी तपस्या और परिश्रम के लिए धन्यवाद है। भगवान् विश्वनाथ आपको दीर्घजीवी करें।"

सन् १९३६ की शिवरात्रि के दिन काशी में हाथियों पर छः विख्यात विद्वानों का जलूस निकला। उनके पीछे बड़े-बड़े पंडित शिवमहिम्न स्तोत्र का पाठ करते हुए चल रहे थे। उनके पीछे हरिजनों के अखाड़े, गाने-बजानेवालों की गाड़ियाँ और दर्शकों का अपार समूह चल रहा था।

दशाश्वमेध घाट पर जलूस समाप्त हुआ और वहाँ एक सभा हुई, जिसमें महाराज ने भाषण किया। महाराज उस दिन बीमार थे, फिर भी सभा में गये और अगले दिन वहीं उन्होंने हरिजनों को मंत्र-दीक्षा भी दी।

इस मंत्र-दीक्षा का यह सबसे बड़ा परिणाम निकला कि हरिजन समझने लगे कि हम भी विशाल हिन्दू-जाति के एक अंग हैं और सारा हिन्दू-समाज हमारे साथ है ।

महाराज ने अछूतों को यह दोहा बनाकर दिया है :—

दूध पियो, कसरत करो , नित्य जपो हरिनाम ।
हिम्मत से कारज करो , पूरेंगे सब काम ॥

अछूतोद्धार-आन्दोलन में महाराज को जो सफलता मिली और उससे जो हर्ष उन्हें हुआ, उसका उद्‌गार उन्हीं के शब्दों में सुनिए:—

कूप खुले मंदिर खुले , खुले स्कूल चहुँ ओर ।
सभा, सड़क, जमघट खुले , नाचत है मन मोर ॥

'नाचत है मन मोर' में महाराज का जीवन-साफल्य स्वयं नृत्य कर रहा है !

चौबीसवाँ दिन

१७ सितम्बर

शाम को ७ बजे के लगभग महाराज टहलने निकले। पण्डित राधाकांतजी और मैं साथ थे।

आकाश स्वच्छ था। पूर्णचन्द्र अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से विश्वविद्यालय के भवनों, वृक्षों, सड़कों और मैदानों में मादकता-सी बिखेरे हुए था। महाराज मोटर में से यह सुहावना दृश्य देखकर पुलकित हो उठे। कहने लगे—

चन्द्रमा कितना सुन्दर लग रहा है! कैसी मनोहर रात्रि है!

महाराज कुछ देरतक चन्द्रमा की उस मनोहर रात्रि में निस्तब्ध-से हो गये।

फिर कहने लगे—अब एक छोटे-से कमरे में रहता हूँ और वहाँ से निकला तो विश्वविद्यालय के घेरे में घूम लेता हूँ। अब यही मेरा संसार है।

'अब यही मेरा संसार है' में हृदय की गूढ़ पीड़ा निहित थी। मैंने भी कुछ अनुमान किया और मेरा हृदय करुणार्द्र हो आया।

फिर थोड़ा ठहरकर वे कहने लगे—चाँदनी में विश्व-विद्यालय कितना सुन्दर लगता है!

मानो महाराज अपने विश्वविद्यालय की प्रशंसा सुनने को प्रत्येक क्षण उत्सुक रहते हैं। ऐसा मोह तो किसी वृद्ध का अपने इकलौते पुत्र में भी नहीं होगा।

आज रास्ते में मैंने महाराज को कलकत्ते की एक घटना की याद दिलायी, जिसमें महाराज की मोटर से एक मुसलमान लड़का दब गया था, और महाराज मुसलमानों की भीड़ में मोटर से अकेले उतरकर लड़के को उठाने चले गये थे।

घटना को याद करके महाराज कहने लगे—मुझे भय नहीं लगता। पिछले कुम्भ में सेवा-समिति के स्वयं-सेवकों और बैरागियों में झगड़ा हो गया। स्वयं-सेवकों ने कई बैरागियों को पीटा। मैं कुम्भ के अवसर पर कथा कह रहा था। मुझे ख़बर लगी। मैं झगड़ा शांत करने गया। एक बैरागी ने कहा—झगड़े का मूल यही है। यह कहकर उसने मेरे सिर पर चार डंडे मारे। मैंने कुछ नहीं कहा। झगड़ा शान्त होने पर बैरागियों के नेता साधु मेरे पास आये और उन्होंने क्षमा माँगी।

ऐसी ही एक घटना और है, जिसे मैं पहले सुन चुका था, इस समय याद आगयी।

काशी में हरिहर बाबा नाम के एक महात्मा तुलसी-घाट पर नाव में रहते हैं, पहले यूनिवर्सिटी के सामनेवाले घाट पर रहते थे। एक बार हिन्दू-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों का उनकी मण्डली के साधुओं से झगड़ा हो गया। विद्यार्थियों ने शायद किसी साधु पर हाथ भी चला दिया। महाराज बाहर थे। आने पर उनको यह ख़बर सुनायी गयी तो वे हरिहर बाबा से क्षमा माँगने गये। मालवीयजी को हरिहर बाबा ने बड़ी भद्दी-भद्दी गालियाँ दीं। ये सब चुपचाप सुनते और बार-बार क्षमा माँगते रहे। पर बाबाजी का क्रोध शान्त न हुआ।

उस दिन तो मालवीयजी लौट आये, लेकिन उनके मनमें बड़ी ग्लानि थी। वे बार-बार यही कहते थे—लड़कों ने इतनी उद्दण्डता की कि एक महात्मा को इतना कष्ट पहुँचा। उन्होंने लड़कों और वार्डनों की मीटिंग की और कहा—तुम लोगों ने एक महात्मा को दुःखी किया है, मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर सकता। ऐसा आचरण विश्व-विद्यालय की मर्यादा के विपरीत है। क्या मैं गंगाजी में डूब मरूँ ?

इसके बाद वे बाबाजी के भक्तों और मिलनेवालों से बराबर क्षमा कराने के लिए कहते रहे। अन्त में उन्होंने महात्मा को यज्ञ में निमन्त्रित किया। महात्मा आये, तब महाराज को विश्वास हुआ कि क्रोध शान्त हो गया है और तब उन्हें शान्ति मिली।

आज घूम-फिरकर लौटे तो अपने बँगले के सामने, कुरसी पर, चाँदनी में, बैठ गये। आज अन्य दिनों की अपेक्षा वे बहुत प्रसन्न थे।

उसी समय डाक्टर पाठक भी आ गये। उनमें और महाराज में कभी-कभी विनोद-भरा वाक्य-विनिमय भी हो जाता है। डाक्टर पाठक ने नागोजी भट्ट की कथा सुनायी। मैंने वेदान्त के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र की स्त्री भामती की कथा सुनायी। महाराज आनन्द में विभोर हो गये। कहने लगे—ये सब कथायें किसी एक पुस्तक में लिखकर छपा देनी चाहिएँ। विश्वविद्यालय के विद्यार्थी जानें तो कि उनके अपने देश में कैसी-कैसी महान् आत्माओं ने जन्म लिया था।

महाराज ने फिर विश्वविद्यालय की चर्चा छेड़ दी और

कहने लगे--विश्वविद्यालय में इतनी जगह है कि इसमें त्यागी विद्वान् अलग-अलग आश्रम बनाकर रहें और अपने-अपने ज्ञान का उपदेश करें तो कितना अच्छा हो ! कहीं वशिष्ठ, कहीं अत्रि, कहीं गौतम और कहीं अंगिरा हों, तब विश्वविद्यालय का उद्देश्य सफल हो।

महाराज प्रतिदिन नियम से सन्ध्या-वंदन और शिव-मन्त्र का जप करते हैं।

हिन्दू-धर्म के प्रति महाराज की आस्था उनकी पैत्रिक सम्पत्ति है। आज महाराज ने अपने पूर्वजों का कुछ हाल सुनाया।

महाराज के पूर्वज मालवा से आये थे, इससे वे मल्लई या मलैया ब्राह्मण कहलाते थे। मालवीयजी ने अपने नाम के साथ मलैया का शुद्ध रूप मालवीय प्रचलित किया; तबसे इस जाति के सभी ब्राह्मण अपने को मालवीय कहने लगे।

मालवीय ब्राह्मण पंचगौड़ ब्राह्मण हैं। इनमें चौबे, दूबे और व्यास आदि कई उपनाम होते हैं। मालवा से निकलकर पटना होते हुए कुछ मालवीय ब्राह्मण मिर्जापुर पहुँचे। लगभग डेढ़ सौ घर तो वहीं बस गये। तेरह गोत्र सीधे प्रयाग आकर भारती-भवन महल्ले में बस गये। मालवीयजी का जन्म उसी महल्ले में हुआ था। मालवीयजी भारद्वाज गोत्री चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं। द्रोणाचार्य भी भारद्वाज गोत्र के थे। बातचीत में उनका प्रसंग आने पर मालवीयजी कुछ गर्व अनुभव करते हुए कहते हैं—द्रोणाचार्य हमारे ही गोत्र के थे।

महाराज के पितामह पंडित प्रेमधरजी संस्कृत के बड़े विद्वान् और श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनके पास दो फुट ऊँची, साँवले रंग की श्रीकृष्ण की एक मूर्त्ति थी, जिसकी वे पूजा किया करते थे। चौरासी वर्ष की उम्र में वे गंगातट पर, स्वेच्छा से जाकर, स्नान-ध्यान करके, पद्मासन लगाकर स्वर्गगामी हुए थे।

पंडित प्रेमधरजी पाँच भाई थे। दूसरे भाई साधोधर व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् थे। तीसरे भाई पं० मुरलीधर साधु हो गये। चौथे भाई पंडित वंशीधर संस्कृत साहित्य के धुरंधर पंडित थे। पाँचवें भाई पंडित बालाधर ज्योतिषी थे।

पंडित प्रेमधरजी के चार पुत्र हुए—लालजी, बच्चूलालजी, गदाधरजी और ब्रजनाथजी। यही पंडित ब्रजनाथजी मालवीयजी के पिता थे।

पंडित ब्रजनाथजी का शरीर बहुत सुंदर था। बुद्धि भी तीक्ष्ण थी और राधा-कृष्ण में अनन्य भक्ति तो उनको पैतृक सम्पत्ति की तरह प्राप्त हुई थी।

ब्रजनाथजी ने अपने पिता से संस्कृत का अध्ययन किया और फिर ननिहाल में जाकर उन्होंने उसमें इतनी गति प्राप्त कर ली कि वे चौबीस-पचीस वर्ष की अवस्था ही में व्यास बन गये और श्रीमद्भागवत की कथा कहने लगे।

पंडित ब्रजनाथजी का रूप-रंग तो सुन्दर था ही, उनका कंठ-स्वर भी बहुत मधुर था। उनके मधुर स्वर से कथा में बड़ी मिठास आ जाती थी। इससे साधारण जन-समाज ही में

नहीं, रीवा, दरभंगा और काशी के महाराजाओं में भी उनका बड़ा सम्मान था।

कथा कहते-कहते भावावेश में कभी-कभी वे रो पड़ते, कभी हँसने लगते और कभी अत्यन्त गम्भीर मुद्रा धारण कर लेते थे। उनमें कथा कहने की विलक्षण प्रतिभा थी। कथा में नये-नये दृष्टान्तों का समावेश करके वे उसे अत्यन्त हृदयग्राही बना लेते थे। अच्छे कथा-वाचक होते हुए भी वे लोभी नहीं थे। कथा पर जो कुछ भगवदिच्छा से चढ़ जाता, उसीपर सन्तोष कर लेते थे।

क्रोध की मात्रा भी उनमें बहुत कम थी। मधुर भाषण से वे सबको वश में किये रखते थे।

शुद्ध आचार-विचार के वे बड़े अभ्यासी थे। एक बार एक अंग्रेज ने उनको छू लिया। उस समय वे पाठ कर रहे थे, वे उसी वक्त उठकर घर गये और शरीर में गोबर मलकर स्नान किया, फिर पंचगव्य और पंचामृत ग्रहण किया, तब शुद्ध हुये। अपने कौटुम्बिक धर्म के पालन की उनमें बड़ी दृढ़ता थी।

उनका विवाह सहजादपुर में हुआ था। उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती मूनादेवीजी स्वभाव की बड़ी सरल और हृदय की बड़ी कोमल थीं। वे दूसरों का दुःख देखकर शीघ्र ही द्रवित हो जातीं और उनसे जो कुछ सेवा बन पड़ती, तत्काल कर देती थीं। महल्ले के बच्चों को वे बड़ा प्यार करती थीं। बच्चे उनको घेरे ही रहते थे। घर के प्रबन्ध में उन्होंने ऐसी दक्षता

दिखलाई कि पंडित व्रजनाथजी गृहस्थी का सारा भार उन्हींपर छोड़कर निश्चिन्त रहने लगे। कथा से उन्हें जो कुछ आय होती, सबको वे उन्हें सौंप देते थे। वे सारी गृहस्थी सँभालती थीं।

पंडित व्रजनाथजी चौवन वर्ष की अवस्था में बीमार पड़े, और यद्यपि पाँच-छः महीने में वे भले-चंगे हो गये, पर फिर बाहर न जा सके। सतहत्तर वर्ष की आयु तक वे घर पर ही भागवत, रामायण आदि धर्म-ग्रंथों का पठन-पाठन करते रहे। बयासी वर्ष की आयु में उन्होंने शरीर छोड़ा।

पंडित व्रजनाथ के छः पुत्र और दो कन्यायें हुईं। उनके नाम क्रमशः ये हैं—लक्ष्मीनारायण, सुखदेई, जयकृष्ण, सुभद्रा, मदनमोहन, श्यामसुन्दर, मनोहरलाल और बिहारीलाल।

लक्ष्मीनारायणजी आढ़त का काम करते थे। इक्यावन वर्ष की आयु में वे बद्रीनाथ की यात्रा को गये। लौटने पर उन्हें संग्रहणी हुई और तीन-चार महीने बाद ही उनका देहान्त हो गया।

जयकृष्णजी संस्कृत और अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करके डाक-विभाग में नौकर हुए। वे कसरती थे और कुश्ती भी अच्छी लड़ते थे। उनको संगीत का भी शौक था और सितार अच्छा बजाते थे। इक्यावन वर्ष की अवस्था में उनका भी शरीरान्त हो गया। पण्डित कृष्णकान्त मालवीय इन्हीं के पुत्र हैं।[१]

---

१. खेद की बात है कि ता० ३ जनवरी १९४१ को पण्डित कृष्णकान्त मालवीय का भी देहान्त हो गया। रा० न० त्रि०

मदनमोहन, यही देश-पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय हैं।

श्यामसुन्दरजी ने धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला में शिक्षा पायी थी। वे कुछ अंग्रेजी भी जानते हैं। पच्चीस वर्ष की आयु में वे बोर्ड आफ रेवेन्यू के दफ्तर में नौकर हुए और सन् १९२१ तक काम करके उन्होंने पेंशन ले ली। तबसे वे अपना समय पूजा-पाठ और भगवच्चर्चा में बिताते हैं।

मनोहरलालजी संस्कृत और अंग्रेजी पढ़े थे। विवाह होने के थोड़े दिन बाद ही, मालूम नहीं, किस कारण से अफीम खाकर उन्होंने शरीर त्याग दिया।

बिहारीलालजी ने भी संस्कृत और अंग्रजी पढ़ी थी। व्यापार की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति थी। वे रेलवे के प्रधान ठीकेदारों में थे। १९२१ ई० में उनका स्वर्गवास होगया।

इस समय भाइयों में श्यामसुन्दरजी ही जीवित हैं। बहनों में बड़ी बहन का देहान्त सन् १९०३ में हो गया, और छोटी बहन विधवा है।

मालवीयजी के कुल बारह सन्तानें हुई थीं। अब चार पुत्र और दो पुत्रियाँ जीवित हैं।

ज्येष्ठ पुत्र पंडित रमाकान्त मालवीय बी० ए०, एल-एल० बी०, इलाहाबाद हाईकोर्ट के वकील हैं।

दूसरे पुत्र पंडित राधाकान्त मालवीय एम० ए०, एल-एल० बी०, भी इलाहाबाद हाईकोर्ट के वकील हैं।

तीसरे पुत्र पंडित मुकुन्द मालवीय कई मिलों की एजेन्सी लेकर कानपुर में व्यापार करते थे। आजकल घर पर हैं।

चौथे पुत्र पंडित गोविन्द मालवीय एम० ए०, एल-एल० बी०, न्यू इन्श्योरेंस कम्पनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर हैं।

कन्यायें श्रीमती रामेश्वरी मालवीय का कानपुर के पंडित मदनगोपाल मालवीय के साथ, श्रीमती रुक्मिणी मालवीय का काशी के पंडित देवकीनन्दन भट्ट के साथ और श्रीमती मालती मालवीय का काशी के पंडित रामशंकरजी भट्ट के साथ विवाह हुआ था। द्वितीय कन्या श्रीमती रुक्मिणी का स्वर्गवास हो चुका है।

पुत्रों और पुत्रियों की सन्तानें मिलाकर इस समय मालवीयजी के १४ पौत्र और २४ पौत्रियाँ हैं।

मालवीयजी की धर्मपत्नी, जो मालवीयजी से चार-पाँच वर्ष छोटी हैं, अभी जीवित हैं।

सजातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥

पच्चीसवाँ दिन

२२ सितम्बर

आज महाराज टहलने नहीं निकले। पानी बरस रहा था। सरदी थी।

रात में भोजनोपरान्त वे अन्य दिनों की अपेक्षा कुछ अधिक स्वस्थ जान पड़ते थे। मैं उस समय पास ही बैठा था। मैंने पूछा—महाराज! आप इतनी ऊँचाई तक कैसे पहुँचे? वे सीढ़ियाँ कहाँ हैं? महाराज मुस्कराये, फिर कहने लगे—

'लड़कपन में मुझे पाठशाला में और घर में भी बहुत-से श्लोक कण्ठस्थ करा दिये गये थे। उन्होंने मेरे जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। मनुस्मृति, गीता और इतिहास-समुच्चय मैं बहुत पढ़ा करता था। बाद को महाभारत से मैंने बहुत-कुछ लिया। इतिहास-समुच्चय की एक बहुत पुरानी, शायद दो सौ वर्ष पहले की हस्तलिखित, प्रति मुझे पिताजी की पुस्तकों में मिल गयी थी। उसे मैं बहुत पढ़ा करता था।

इसके बाद उन्होंने कुछ श्लोक, जो उन्हें बहुत ही प्रिय हैं, सुनाये। दो-तीन श्लोक मैंने वहीं बैठे-बैठे लिख लिये हैं।

(१)

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'मैं राज की कामना नहीं करता, स्वर्ग भी मुझे नहीं चाहिए,

और मुक्त होना भी नहीं चाहता। मुझे तो दुःख से जलते हुए प्राणियों के दुःख-नाश की ही इच्छा है।'

(२)

कोऽनुसस्यादुपायोऽत्र येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तः प्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा ॥

'वह कौन-सा उपाय है जिसके द्वारा मैं दुःखी जनों के अन्तकरण में प्रवेश कर उनके दुःख से दुःखी होऊँ?'

(३)

असन्तो नाभ्यर्थाः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः।
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरम् ॥
विपद्युच्चैःस्थेयं पदमनुविधेयं च महताम्।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥

'नीच पुरुषों से प्रार्थना न करना, धन से क्षीण हुए मित्र से भी न माँगना, न्याय को अनुसरण करती हुई वृत्ति रखना, प्राण का नाश हो तो भी पाप न करना, विपत्ति में भी उच्च मार्ग का अवलम्बन करना, बड़ों का अनुगमन करना ये तलवार की धार के समान व्रत सत्पुरुषों को किसने बताया है? अर्थात् स्वयंसिद्ध हैं।'

श्लोक सुनाकर महाराज कहने लगे—इन्हीं श्लोकों का विकास मेरे जीवन में हुआ है। ये ही मेरी सीढ़ियाँ हैं।

मैंने कहा—ये आपके जीवन-रथ के घोड़े हैं।

महाराज हँस पड़े। कहने लगे—आपने ठीक उपमा दी।

इसके बाद महाराज ने एक कथा सुनायी। उन्होंने कहा—

जब रुक्मिणी के पुत्र हुआ, तब पुत्र की आकृति बिलकुल श्री-कृष्ण के अनुरूप देखकर जाम्बवती ने भी वैसा ही पुत्र पाने की इच्छा प्रकट की।

श्रीकृष्ण ने कहा—बड़ी तपस्या से वैसा पुत्र मिला है।

जाम्बवती ने कहा—मेरे लिए भी वैसी ही तपस्या कर दो।

श्रीकृष्ण तपस्या करने चले। रास्ते में महर्षि उपमन्यु का आश्रम मिला। श्रीकृष्ण ने उपमंन्यु से 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र की दीक्षा ली, और मन्त्र का जप प्रारम्भ किया। शिवजी प्रकट हुए। उन्होंने वर माँगने को कहा—श्रीकृष्ण ने वर माँगा—

धर्मे दृढ़त्वं युधि शत्रुघातं,
यशस्तथाग्र्यं परमं बलं च।
योग प्रियत्वं तव सन्निकर्षं,
वृणे सुतानां च शतं शतानि॥

पार्वती ने भी उनसे वर माँगने को कहा।

श्रीकृष्ण ने पार्वती से यह वर माँगा—

द्विजेष्वकोपं पितृतः प्रसादं,
शतं सुतानां परमं च भोगम्।
कुले च प्रीतिं मातृतश्च प्रसादं,
समप्राप्ति प्रवृणे चापि दाक्ष्यम्॥

महाराज का अभिप्राय मैंने यह समझा कि माता-पिता की तपस्या ही से पुत्र सद्गुणी होती है।

महाराज ने अपने जीवन में सफलता कैसे प्राप्त की, यह

रहस्य जानने की उत्सुकता हमारे हरएक प्रगतिशील पाठक में होनी स्वाभाविक है। यहाँ मैं उसकी चर्चा करूँगा।

महाराज बड़े स्वाध्यायी हैं। महाभारत, गीता और भागवत के एक-एक अध्याय का पाठ प्रतिदिन प्रातःकाल नियमित रूप से, सन्ध्या-वन्दन के पश्चात्, करते हैं। इन दिनों बीमारी की हालत में इस क्रम में कुछ शिथिलता आ गयी है, पर उक्त ग्रन्थों में से किसी-न-किसी का पाठ तो अब भी रोज़ कर ही लेते हैं। एक दिन कह रहे थे कि "मैं तो व्यास-मय हूँ।" मैं समझता हूँ, उनका व्यासमय होना ही उनके जीवन की सफलता का प्रधान कारण है।

महाराज के पास छोटा-सा एक गुटका है। उसमें उन्होंने चुने हुए बहुत से श्लोक अपनी क़लम से लिख रक्खे हैं। वे ही श्लोक उनके जीवन में पनपे और फूले-फले हैं। या यों कहना चाहिए कि उन श्लोकों में वर्णित सत्य का उन्होंने अपने जीवनद्वारा विश्लेषण किया है।

वह गुटका महाराज की बहुत प्यारी वस्तु है। उसे सदा अपने सिरहाने रखते हैं और प्रायः जब ख़ाली रहते हैं, तो उसीके पन्ने उलटते-पलटते दिखाई पड़ते हैं। उसमें जितने श्लोक हैं, सब उन्हें कंठस्थ हैं। वे श्लोक ही उनके जीवन के स्तम्भ हैं।

कुछ गुटके और भी थे। महाराज कहते हैं कि 'लोग उन्हें उड़ा ले गये।'

उसे वे "रत्नों की झोली" भी कहते हैं। कभी कोई

सरस प्रसंग आता है, तब वे झोली खोलते हैं और दो-चार रत्नों की जगमगाहट दूसरों को भी दिखला देते हैं। और तब सचमुच, एक तरफ़ उनके वे रत्न, दूसरी तरफ़ उनका जीवन दोनों को देखकर ऐसा लगने लगता है कि वे श्लोक उनके जीवन-निर्माण के लिए ही बनाये गये थे।

दो-चार बार महाराज ने मुझे भी गुटके के दर्शन कराये हैं और उसके रत्नों की दिव्य चमक भी देखने दी है। उनकी आज्ञा से मैंने उसमें से कुछ श्लोक लिख लिये थे, जिन्हें मैं अपने पाठकों की भेंट करता हूँ—

(१)

सुशीलो भव धर्मात्मा मैत्रः प्राणहिते रतः।
निम्नः यथाऽपप्रवणाः पात्रमायान्ति सम्पदः॥

'सुशील होओ, धर्मात्मा बनो, मैत्र-भाव रखो, प्राणियों के हित का ध्यान रक्खो, नीच रास्तों का अनुसरण मत करो, तब पात्र समझकर सम्पत्तियाँ अपने आप आयेंगी।'

(२)

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि न क्रुद्धेऽपि जनार्द्दनः।
नालं येन अवज्ञातं नावज्ञो हि माधवः॥

'आदर या निरादर भाव से भी क्रोधहीन होकर थोड़ा-सा भी भगवान् का जिसने ज्ञान-ध्यान किया, उसे भी भगवान् नहीं भूलते।'

(३)

सुव्याहृतानि महतां सुकृतानि ततस्ततः।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा॥

'महात्माओं की कही हुई बातें और उनकी सुक्तियाँ धीर पुरुष इकट्ठी करते हैं। जिस तरह उञ्छवृत्ति से जीविका करनेवाला उञ्छीयकरणों का संग्रह करता है।'

(४)

सहसा सम्पादयता मनोरथ प्रार्थितानि वस्तूनि ।
दैवेनापि क्रियते भव्यानां पुरुषैवेव ॥

'भाग्य भी भव्य पुरुषों के लिए ही मनोऽनुकूल प्रार्थित वस्तु को एकाएक सम्पादित करता है।'

(५)

शक्तिमानप्यशक्तोऽसौ गुणवानपि निर्धनः ।
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो नरः ॥

'जो मनुष्य धर्म-विमुख होता है, वह शक्ति सम्पन्न होते हुए भी निर्बल, गुणी होते हुए भी गरीब और वेदशास्त्र जानते हुए भी मूर्ख होता है।'

(६)

धर्मं ते धीयतां बुद्धिर्मनस्ते महदस्तु च ।

'तुम्हारी बुद्धि धर्म में लगे, तुम्हारा मन बड़ा हो।'

(७)

धर्मं पुत्र ! निषेवस्व सहतीक्ष्णं हिमातपैः ।
क्षुत्पिपासे च कोपं च जय नित्यं जितेन्द्रिय !

'हे पुत्र ! धर्म की सेवा करो; दुःसह शीत और गर्मी सहन करो। हे जितेन्द्रिय ! क्षुधा, प्यास, और क्रोध को जीतो।'

(८)

वाञ्छा सज्जन संगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता।
विद्याया व्यसनं स्वयोषितरतिः लोकापवादाद्भयम्॥
भक्तिश्चक्रिणि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले।
येऽप्येते निवसंति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥

'सज्जनों के सत्संग की इच्छा, पराये गुण से प्रीति, गुरु के साथ नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी स्त्री में प्रीति, लोक-निन्दा से भय, विष्णु की भक्ति, आत्म-दमन की शक्ति, दुष्टों के संसर्ग से मुक्ति, ये निर्मल गुण जिनमें बसते हैं, उन पुरुषों को नमस्कार है।'

(९)

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

'नीति में निपुण लोग निन्दा करें, या प्रशंसा करें, लक्ष्मी ज़ाय या रहे, आज ही मृत्यु हो या युगान्तर में हो, परंतु धीर पुरुष न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते।'

छब्बीसवाँ दिन

२३ सितम्बर

आज शाम को ५ बजे के लगभग कोचीन राज्य (मद्रास प्रांत) के राजकुमार महाराज से मिलने आये। उनसे मिलकर महाराज पैदल टहलने निकले। मैं साथ-साथ चला।

आज महाराज ने बहुत हिम्मत दिखायी; क्योंकि पैदल चलने की शक्ति इन दिनों उनमें बहुत कम रह गयी है। डाक्टर के प्रोत्साहन देने से वे थोड़ा-बहुत चल लेते हैं, लेकिन बाद को थक भी बहुत जाते हैं। नौकर कुरसी लेकर पीछे-पीछे चलता है; जहाँ थक जाते हैं, वहाँ बैठ जाते हैं। ६ अगस्त से आज तक मैंने महाराज को एक उठान में ८० क़दम से अधिक चलते नहीं पाया। इसीसे उनकी शारीरिक निर्बलता का अनुमान किया जा सकता है। पर आश्चर्य की बात यह है कि न उनका मस्तिष्क निर्बल हुआ, न मन। गले के ऊपर स्वस्थ हैं, गले के नीचे अस्वस्थ। मन की उमंगें और तरंगें अब भी पूर्ववत् हैं। शरीर कुछ भी चलने-फिरने योग्य हो जाय तो उनको हम विश्वविद्यालय में बैठा हुआ नहीं पायेंगे। वे विश्वविद्यालय, सनातन-धर्म-सभा, महावीर-दल, हिन्दू-संगठन आदि सम्बद्ध संस्थाओं के लिए देश के कोने-कोने में पहुँचते हुए मिलेंगे। ऐसी सच्ची लगन महात्मा गाँधी को छोड़कर बहुत ही कम पुरुषों में पाई जायगी।

बँगले के सामने ही 'आयुर्वेद-वाटिका' है। कुछ दिनों से महाराज उसीमें टहलते या टहलाये जाते हैं।

मेरे देखने में आज पहला दिन है, जब महाराज बँगले से वाटिका में, बिना बीच में एक या दो बार बैठे हुए, पैदल चले गये।

वाटिका के अन्दर पहुँचकर वे कुरसी पर बैठ गये। मैं उनकी दाहिनी ओर खड़ा था। उन्होंने कहा—ज़रा पीछे देखिये। मैंने पीछे मुड़कर देखा तो क्षितिज पर आकाश अपने मनोरम चित्रों की प्रदर्शिनी खोले खड़ा था। क्षितिज पर कुछ बादल थे और उनकी आड़ में सूर्य। बादलों का रंग बैंगनी हो गया था, और उनके किनारों पर सिंदूरिया रंग की गोट लगी हुई थी। बादलों के बच्चे भालुओं के झुंड की तरह उनको घेरे हुए थे। उनकी आकृति और रंग भी क्षण-क्षण पर बदल रहे थे। सचमुच बड़ा सुन्दर दृश्य था।

मैं सोचने लगा—महाराज के तन की अस्वस्थता का कुछ भी प्रभाव उनके मन पर नहीं पड़ा है। प्रकृति के सौन्दर्य को ग्रहण करने में उनका मन अब भी पूर्ण समर्थ है।

मैं उधर मुँह करके प्रकृति का वह सन्ध्याकालीन नृत्य देख ही रहा था कि महाराज ने फिर कहा—अब ज़रा पीछे की ओर देखिए। मैंने उधर मुँह मोड़ा तो उधर के क्षितिज पर दूसरा ही दृश्य उपस्थित था।

इन दोनों दृश्यों से अधिक मधुर तो मुझे महाराज की कवि की सी भावुकता लगी।

वाटिका दो-तीन खंडों में विभाजित है। एक सड़क, जिसपर मोटर चल सकती है, वाटिका को बीच से चीरती हुई पार निकल गयी है। पहला खंड डेढ़ फर्लांग लम्बा होगा। बीच में एक गोलाकार स्थान बना है, जिसमें पत्थर की आठ बेंचें सुस्तानेवालों के लिए रखी हैं।

महाराज वहाँ दम लेकर और आगे गये और वाटिका के पहले खण्ड के छोर पर जा बैठे। उसके बाद पहले खण्ड और दूसरे खण्ड को अलग करती एक चौड़ी सड़क बायें से दाहिने को गयी है।

मैंने कहा—आगे की वाटिका में एक सुन्दर-सा तालाब है, जिसमें जल-पक्षी विहार करते हैं और आजकल उसमें कुईं के श्वेत पुष्प बड़ी शान से खिले हुए हैं।

महाराज ने कहा—इसे मैंने खुदवाया है, सरकार!

महाराज के मुँह से 'सरकार' शब्द सुनकर मुझे बहुत कौतूहल हुआ। यह शब्द बहुत घनिष्ट मित्रों ही में चलता है। महाराज उस समय अवश्य अपने शरीर के बाहर थे और संपूर्ण वाटिका में मन के साथ विचरण कर रहे थे।

उसी समय कुछ विद्यार्थी सामने की सड़क से आये। महाराज के चरण छूने के बाद वे सामने खड़े हो गये।

महाराज ने पूछा—कसरत करते हो? शिवाजी हाल जाते हो?

उनमें से सिर्फ़ एक ने कहा कि वह घर पर कसरत कर लेते हैं।

महाराज ने कहा—कसरत करो; कुश्ती लड़ना सीखो; यह दुबला-पतला शरीर किस काम का ?

महाराज वहाँसे पीछे लौटे। रास्ते में और भी विद्यार्थी, जो भ्रमण को निकले थे, मिले। सबसे महाराज ने वही प्रश्न किया—कसरत करते हो ?

प्रायः अधिकांश ऐसे ही मिले, जो कसरत नहीं करते थे।

महाराज वाटिका के बीचवाले गोलाकार स्थान में आकर बैठ गये। वहाँ विद्यार्थियों की अच्छी संख्या आ उपस्थित हुई। महाराज ने सबसे कसरत करने का प्रश्न किया। मैंने गिना, २१ में केवल ३ ऐसे निकले, जिन्होंने कहा कि वे शिवाजी हाल जाते हैं और कसरत करते हैं। यह औसत बहुत ही कम था।

महाराज ने व्यायाम करने के लिए सबको उपदेश दिया और उनमें से दो-तीन जोड़ लगाकर उनकी कुश्ती भी देखी। कुश्ती देखकर वे बहुत हँसते थे और दोनों की तारीफ़ करते थे।

महाराज कहने लगे—मैंने कई वर्ष कुश्ती लड़ी है। कुश्ती से मनमें इतनी हिम्मत हो गयी है कि अपने ड्योढ़े-दूने को पाऊँ तो पटक दूँ।

फिर विद्यार्थियों को कहा—लँगोटा पहना करो।

विद्यार्थियों को विदा करके महाराज आगे चले। मैंने रास्ते में पूछा—क्या आप हमेशा लँगोटा पहनते हैं ?

महाराज ने कुछ गर्व अनुभव करते हुए कहा—मैंने लड़कपन में लँगोटा बाँधना शुरू किया, वह आज तक नहीं खुला।

तथा हि वीराः पुरुषा न ते मता,
जयन्ति ये साश्वरथद्विपान् नरान् ।
यथा मता वीरतरा मनीषिणो,
जयन्ति लोलानि षड़िन्द्रियाणि ये ।

(अश्वघोष)

सत्ताईसवाँ दिन

२ अक्टूबर

मालवीयजी के जीवन-चित्र में कालाकाँकर के राजा रामपालसिंह की उपस्थिति एक अद्भुत-सी दिखाई पड़ती है। एक ओर तो राजा साहब विलायत हो आये थे और विलायती बनकर आये थे; दूसरी ओर मालवीयजी महाराज, जो जबसे स्कूल में पढ़ते थे, तबसे किसी दूसरे के लोटे या गिलास का पानी भी नहीं पीते थे, और जो वृद्धावस्था में विलायत भी गये, तो हाथ मटियाने के लिए हिन्दुस्तान की मिट्टी और गंगाजी का जल तक साथ ले गये थे। फिर वह जगह कौन-सी थी, जहाँ ये पूर्व और पश्चिम एकत्र हुए थे? वह थी देश-सेवा की एक प्रबल आकांक्षा। उसी ने दो परस्पर विरोधी आचार-विचार-वालों को एक कर दिया था।

आज दोपहर को राजा रामपालसिंह का प्रसंग फिर चल पड़ा। मैंने कहा—आपका और राजा साहब का साथ होना आपके जीवन की एक अद्भुत घटना है।

महाराज अपने जीवन की पुरानी तह खोलकर उस समय का मनोहर दृश्य देखते-देखते कहने लगे—

'राजा रामपालसिंह बड़े तेजस्वी और हृदय से देश-भक्त राजा थे। मुझपर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। मैंने 'हिन्दुस्थान' का सम्पादन छोड़ दिया, तब भी राजा साहब सौ रुपया मासिक

बराबर भेजते रहे और जब मैं वकील होकर कमाने लगा, तब भी उनके सौ रुपये नियमित रूप से आते ही रहे।

'मैंने राजा साहब को कई बार लिखा और एक बार मिलने पर कहा भी कि मैं अब आपका कुछ काम नहीं करता और आपकी नौकरी में भी नहीं हूँ, आप रुपये क्यों भेजते हैं ?

'इसपर राजा साहब बिगड़ गये और बोले—नौकरी में ? मालवीयजी, क्या आपने कभी मेरे व्यवहार में ऐसी कोई बात पायी है, जिससे आपके साथ नौकर-सा बर्ताव पाया जाता हो ? आपके पास विद्या है, आप गुणों की खान हैं, आप उसके द्वारा मेरी इच्छा की पूर्ति करते हैं और मैं थोड़े पैसों से आपकी सहायता करता हूँ। इससे आपपर मेरा एहसान क्या है ? आप जैसे बुद्धिमान आदमी के मुँह से ऐसी बात सुनकर मुझे दुःख होता है। फिर कभी न कहिएगा।'

मैं बीच ही में पूछ बैठा—क्या ऐसे राजा इस समय भी कहीं देखने को मिल सकते हैं ?

महाराज ने कहा—हाँ, अब भी हैं।

मैंने पूछा—आपका राजा रामपालसिंह से सम्बन्ध-विच्छेद कैसे हुआ ?

महाराज कहने लगे—एक दिन जब राजा साहब को मिलने उनके कमरे में गया, तब देखा कि वे खूब पिये हुए बैठे थे, और कमरा शराब की गंध से ऐसा भरा था कि मुझे साँस लेने में कष्ट हो रहा था। इधर-उधर की बातों के बाद राजा साहब ने पंडित अयोध्यानाथ के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कहीं जो

मुझे बहुत अप्रिय लगीं; क्योंकि मैं पंडित अयोध्यानाथ का बहुत सम्मान करता था।

'मैंने शीघ्र ही काग़ज़-पत्र, जिन्हें मैं साथ ले गया था, बटोर लिया और वहाँसे उठकर मैं सीधे घर चला आया। फिर १०-१२ दिनों तक मैं राजा साहब के पास नहीं गया।

'एक दिन जब गया, तब खबर पाकर राजा साहब बाहर निकल आये और मेरे सामने सिर झुकाकर कहने लगे—मालवीयजी ! उस दिन नशे में मैंने क्या-क्या कहा, मुझे बिलकुल याद नहीं है। फिर भी कोई अपमानजनक बात मेरे मुँह से निकली हो तो यह सिर आपके सामने है, इसपर उसकी सज़ा दे डालिए।

'राजा साहब की नम्रता देखकर मुझे विश्वास हो गया कि राजा साहब ने जान-बूझकर पंडित अयोध्यानाथ के विषय में अपमानजनक बात नहीं कही थी।'

रात की बैठक में बैठते ही विश्वविद्यालय की चर्चा शुरू हो गयी। विश्वविद्यालय-सम्बन्धी कुछ बातें उसकी रिपोर्टों से और कुछ समय-समय पर महाराज के मुख से सुनकर तथा कुछ स्वयं घूम-फिरकर देखकर मैंने नोट कर रक्खी थीं। आज कुछ बातें और सुनने को मिलीं। पाठकों की जानकारी के लिए मैं सबका उल्लेख यहाँ एक साथ कर देता हूँ:—

हिन्दू विश्वविद्यालय, जो मालवीयजी की चिन्ता का एक मुख्य केन्द्र है और जिसको लेकर वे अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए गत पैंतीस वर्षों से तप कर रहे हैं, एक दर्शनीय संस्था है।

मुझे एक दिन भी ऐसा नहीं मिला, जिस दिन महाराज ने हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा न की हो। यह उनके जीवन का सबसे बड़ा काम है, यही उनकी सबसे बड़ी देश-सेवा है।

यहाँ से विद्यार्थी निकलकर भारतवर्ष को स्वतंत्र करेंगे, धर्म की रक्षा करेंगे, सदाचार से रहकर, मनुष्य होने का सच्चा सुख अनुभव करेंगे, यह महाराज का प्रतिदिन का दिवा-स्वप्न है।

मैंने महाराज के साथ भी और अलग भी घूम-फिरकर विश्वविद्यालय को देखा, कुछ प्रोफेसरों और कुछ विद्यार्थियों से मिला और दो-तीन भाषण भी दिये; मुझे यहाँ के विद्यार्थियों के चरित्र की विशुद्धता और उनकी सादा रहन-सहन बहुत पसंद आयी। मुझे यह दृढ़ विश्वास होगया कि यहाँ के विद्यार्थी अपने तपोनिष्ठ कुलपति का मनोरथ पूरा करेंगे। सन् १९०५ में इस विश्वविद्यालय का पहला प्रस्ताव छापा गया था और बहुत विचार और परामर्श के उपरान्त वह प्रस्ताव संशोधित रूप में सन् १९११ में प्रकाशित हुआ। प्रस्तावित विश्वविद्यालय के प्रस्ताव नीचे लिखे अनुसार थे—

(१) हिन्दुओं के सर्वोत्तम विचार और व्यवहार की तथा उनकी प्राचीन और गौरवमयी सभ्यता के अच्छे-से-अच्छे और प्रसिद्ध गुणों की रक्षा और प्रचार करने के साधन, हिन्दू-शास्त्रों और संस्कृत-साहित्य की पढ़ाई का प्रचार करना।

(२) आधुनिक आर्ट्स और सायन्स की सभी शाखाओं का ज्ञान और उनमें अन्वेषण कराना।

(३) ऐसी वैज्ञानिक, आर्थिक और व्यापारिक विद्याओं

का उनको काम में लाने की शिक्षा के साथ फैलाना जिनसे देश में कला-कौशल और व्यापार का प्रचार हो और देश की सम्पत्ति बढ़े। तथा

(४) विद्यार्थियों को धर्म और सदाचार की शिक्षा देकर उनको न केवल विद्वान् किन्तु चरित्रवान् भी बनाना।

विश्वविद्यालय अखिल भारतवर्षीय संस्था है। हमारे कुछ गरीब-से-गरीब भाइयों के दिये हुए एक पैसे से लेकर उदार और यशस्वी राजा-महाराजाओं तथा अन्य श्रीमन्तों और सद्‌गृहस्थों के दिये हुए लाखों तक के दान से बना है।

बड़े और छोटे दोनों को मिलाकर विश्वविद्यालय में सर्व-साधारण की ओर से अबतक एक करोड़ इक्यावन लाख रुपये पहुँच चुके हैं। जिनमें एक करोड़ साढ़े अट्ठाईस लाख देशी रियासतों से और बृटिश राज के निवासियों से मिला है। कुल वादा एक करोड़ अस्सी लाख के लगभग का हुआ था। इसके अलावा साढ़े इक्कीस लाख रुपया विश्वविद्यालय को गवर्नमेंट ने दिया है और प्रति वर्ष तीन लाख रुपया देती है। विश्वविद्यालय गवर्नमेंट आफ इण्डिया के एक विशेष ऐक्ट (कानून) के अनुसार स्थापित हुआ है और उसके एक नियम के अनुसार पचास लाख रुपया विश्वविद्यालय को अपने स्थायी कोष में रखना पड़ता है, जिसका ब्याज सालाना खर्च के काम में आता है।

विश्वविद्यालय काशी नगर से चार मील बाहर स्थापित हुआ है। उसके लिए दो मील लम्बी, सवा मील चौड़ी जमीन ली गयी है और उसका ५,९२,१२५) दाम देना पड़ा है। इस

भूमि पर इक्कीस मील लम्बी नयी सड़कें बनायी गयी हैं। इनमें से तेरह मील सड़कें पक्की हैं। और लगभग बीस हजार पेड़ लगाये गये हैं। इसमें १५० इमारतें बनायी गयी हैं। जिनमें चार बड़ी-बड़ी इमारतें विद्यार्थियों के पढ़ाने और काम सिखाने के लिए हैं। और पाँच उनके रहने के लिए हैं।

इस समय विश्वविद्यालय में लगभग २५०० विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। और उसके साथ लगे हुए स्कूल के विभागों में १,५५० । इनमें से लगभग १८०० विद्यार्थी विश्वविद्यालय के छात्रावासों (बोर्डिंग हाउस) में रहते हैं।

अबतक ६९ लाख रुपये विश्वविद्यालय की नगरी बसाने में ज़मीन का मूल्य देने और इमारतों के बनवाने में और ३३ लाख रुपये पढ़ाने और सिखाने का सामान इकट्ठा करने में लगे हैं।

विश्वविद्यालय में नीचे लिखे विभाग कायम हुए हैं :—

(१) धर्म-विभाग, जिसमें कर्मकाण्ड के सहित वेद पढ़ाया जाता है।

(२) प्राच्य विद्या-विभाग, जिसमें वेद, स्मृति पुराण, धर्म-शास्त्र, वेदाङ्ग, व्याकरण, साहित्य, न्याय, मीमांसा, सांख्य योग आदि पढ़ाये जाते हैं।

(३) आयुर्वेद-विभाग, जिसमें प्राचीन रीति से आयुर्वेद पढ़ाया जाता है। और योरप की नयी नीति से भी विद्यार्थियों को कुछ जरूरी बातों का ज्ञान कराया जाता है जिससे वे उत्तम वैद्य बनें।

(४) स्कूल मास्टरों के शिक्षण का एक कालेज, जिसमें जो

लोग बी. ए. पास कर चुकते हैं, उनको अध्यापन-कार्य करने की शिक्षा दी जाती है।

संस्कृत के विद्यार्थियों में से लगभग दो सौ को रहने के लिए स्थान और १५० को भोजन के लिए छात्रवृत्ति दी जाती है। आयुर्वेद-कालेज के साथ एक बड़ा औषधालय है, जिसमें शास्त्र की विधि से शुद्ध औषधियाँ बनवायी जाती हैं, और विद्यार्थियों को उनके बनाने की क्रिया सिखलायी जाती है।

संयुक्त प्रांत की गवर्नमेंट १९२७ से ५००००) पचास हज़ार रुपये सालाना इस आयुर्वेद कालेज के लिए देती है।

देशी राज्यों की स्थायी सहायता, सरकारी सहायता, विश्व-विद्यालय की जायदाद की आमदनी, शिक्षा और परीक्षा-शुल्क, स्थायी कोष के व्याज आदि से कुल मिलाकर कुल आमदनी बारह लाख वार्षिक के लगभग की है और वार्षिक खर्च तेरह लाख रुपये के लगभग।

विश्वविद्यालय के कालेज

सेन्ट्रल हिन्दू-कालेज : इसके दो विभाग हैं—आर्ट्स और सायंस। आर्ट्स विभाग में एम० ए० तक की और सायंस-विभाग में एम० एस-सी० की पढ़ाई होती है।

आर्ट्स-विभाग में इन विषयों की शिक्षा दी जाती है—

संस्कृत, हिन्दी, पाली, प्राकृत, उर्दू, अरबी, फारसी, बँगला, मराठी, गुजराती, अंग्रेज़ी, फ्रेंच और जर्मन भाषायें।

गणित, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, प्राचीन भारतीय संस्कृति और इतिहास आदि विषय।

सायंस-विभाग में इन विषयों की शिक्षा दी जाती है—

रसायन-शास्त्र, भौतिकशास्त्र, जीवजन्तु-शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, कृषि-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, ओषधि-रसायन और व्यापारी रसायन-शास्त्र—चीनी मिट्टी के बर्त्तन, खिलौने, शीशा, साबुन, तेल आदि बनाना।

वनस्पति और कृषिशास्त्र-विभाग के साथ उनके अलग-अलग उद्यान भी हैं।

जीव-जन्तु, वनस्पति, भूगर्भ-शास्त्र, व्यायाम, रसायन-विभागों में उनके संग्रहालय भी हैं।

यह कालेज विश्वविद्यालय का सबसे बड़ा कालेज है।

इसमें दो हज़ार से ऊपर विद्यार्थी पढ़ते हैं, जिनके लिए १०९ शिक्षक हैं।

प्राच्यविद्या कालेज : इसमें वेद, वेदाङ्ग, व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेदांत, मीमांसा, सांख्य, योग, ज्योतिष, पुराण, धर्म-शास्त्र तथा कर्मकांड-सहित वेद की पढ़ाई होती है। सन् १९१८ में यह कालेज खोला गया था।

आयुर्वेद कालेज : इसमें चरक और सुश्रुत के साथ एलो-पैथिक पद्धति से शरीर-शास्त्र, शरीर-रचना, ओषधि-विज्ञान और शस्त्र-क्रिया का ज्ञान विद्यार्थियों को कराया जाता है। यह कालेज सन् १९२७ में खोला गया था। इसमें १४ शिक्षक नियुक्त हैं।

इस कालेज के साथ एक औषधालय और अस्पताल भी है। औषधालय में प्राचीन वैद्यक और अर्वाचीन एलोपैथिक प्रणाली से रोगियों का इलाज होता है।

औषधालय में वैद्यक की प्रायः सब ओषधियाँ बड़ी शुद्धता और सतर्कता से तैयार होती हैं और बेंची भी जाती हैं।

अस्पताल में १०० रोगियों को रखने का प्रबन्ध है।

आयुर्वेद कालेज का अपना निज का एक विशाल उद्यान है, जिसमें ओषधियों के पेड़, पौधों और जड़ी-बूटियों का अच्छा संग्रह है।

इंजीनियरिंग कालेज : इसमें मशीन और लोहे की विद्या, खान खोदने की विद्या, धातुओं के गलाने की विद्या और विद्युत्-शास्त्र आदि की पढ़ाई होती है। इसमें २५ अध्यापक हैं।

ट्रेनिंग कालेज : अध्यापन-कार्य करनेवालों को शिक्षा दी जाती है।

अध्यापक-छात्रों को पढ़ाने के लिए छः अध्यापक नियुक्त हैं।

लॉ कालेज : इसमें कानून की शिक्षा दी जाती है। पढ़ाने के लिए तीन अध्यापक नियुक्त हैं। समय-समय पर अवैतनिक अध्यापक भी आकर पढ़ा जाते हैं।

महिला कालेज : इसमें स्त्री-अध्यापिकाओं द्वारा स्त्रियों को बी० ए० तक के आर्ट्स विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध है। एम० ए० और विज्ञान के विषय उन्हें सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में पढ़ाये जाते हैं। गृह-प्रबन्ध, स्वास्थ्य-विज्ञान, बाल-मनोविज्ञान और संगीत-शास्त्र की शिक्षा छः स्त्री-अध्यापिकायें और तीन पुरुष-अध्यापक देते हैं।

छात्रायें एक महिला-सुपरिंटेंडेंट की देख-रेख में रहती हैं। छात्राओं का अलग छात्रावास है।

संगीत-शिक्षा——जो विद्यार्थी संगीत सीखना चाहें, उनके लिए संगीत के अध्यापक नियुक्त हैं, और रोज़ शाम को उनके वर्ग (क्लास) चलते हैं।

फौजी शिक्षा——सौ से अधिक विद्यार्थी फौजी शिक्षा पा रहे हैं। गवर्नमेंट ने इनके लिए फौजी वर्दी और एक-एक बन्दूक दी है और एक सार्जेंट दिया है, जो फौज़ी तालीम देता है।

हाईस्कूल तक की पढ़ाई अंग्रेज़ी को छोड़कर अन्य विषयों में हिन्दी में होती है।

स्कूल-विभाग को छोड़कर इस समय विश्वविद्यालय में ३५०० छात्र हैं और २०० से ऊपर अध्यापक।

पुस्तकालय——इसमें अनेक भाषाओं और भिन्न-भिन्न विषयों की लगभग ७०००० पुस्तकें इस समय मौजूद हैं। कुछ प्राचीन और दुर्लभ चित्रों का संग्रह भी है।

विश्वविद्यालय में सब हिन्दू-विद्यार्थियों को नियम से धर्म की शिक्षा दी जाती है। हर एकादशी के दिन विद्यार्थियों को कोई न कोई चुनी हुई पवित्र कथा और विशेष पर्वों पर उस पर्व की विशेष कथा सुनायी जाती है।

विद्यार्थियों को व्यायाम की अच्छी शिक्षा दी जाती है। इसके लिए 'शिवाजी-हॉल' नाम से एक व्यायाम-शाला है, जिसमें देशी और विदेशी सब प्रकार की कसरतें करने के साधन हैं।

विश्वविद्यालय का इंजीनियरिंग कालेज ऊँचे दर्जे की इंजीनियरिंग की शिक्षा देता है। इंजीनियरिंग की इतनी अच्छी शिक्षा अबतक हिन्दुस्तान में किसी दूसरे कालेज में नहीं दी

जाती। जबतक यह कालेज नहीं खुला था, तबतक इसकी शिक्षा पाने के लिए हिन्दुस्तान से विद्यार्थियों को यूरोप या अमेरिका जाना पड़ता था। इस कालेज में विशेषकर और समान्य रीति से विश्वविद्यालय के सभी विभागों में हिन्दुस्तान के सब प्रान्तों और अनेक देशी रियासतों से शिक्षा पाने के लिए विद्यार्थी आते हैं।

धर्म-विभाग, संस्कृत-विभाग, आयुर्वेद-विभाग और अध्यापक-विभाग को छोड़कर बाक़ी विभागों में विद्यार्थियों से पढ़ाई की फीस नहीं ली जाती थी; पर अब केवल धर्म-विभाग और संस्कृत विभाग को छोड़कर सबसे ली जाती है; किन्तु उनमें भी फीस दूसरी यूनिवर्सिटियों से कम है। इसके सिवा क़ानून के कालेज को छोड़कर और सब कालेजों में फी सैकड़ा दस विद्यार्थी बिना फीस के पढ़ाये जाते हैं और ग़रीब व होनहार विद्यार्थियों को ३८० छात्र-वृत्तियों तथा ३५० से अधिक पूरी या आधी फीस की माफी से सहायता की जाती है।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को और और सरकारी यूनिवर्सिटियों के विद्यार्थियों के समान ऊँची सरकारी नौकरियों की परीक्षाओं में बैठने का अवसर दिया जाता है, और इस विश्वविद्यालय के कितने ही विद्यार्थी कई विभागों में ऊँचे-ऊँचे स्थानों में नियुक्त हुए हैं।

श्रीमान् महाराणा साहब उदयपुर, श्रीमान् महाराजा साहब बड़ौदा, मैसूर, काश्मीर, गवालियर, इन्दौर, दतिया, बीकानेर, कोटा, किशनगढ़, अलवर, झालावाड़, पटियाला, नाभा, कपूरथला,

बनारस विश्वविद्यालय के संरक्षक (पैट्रन) तथा श्रीमान् महाराजाधिराज दरभंगा उप-संरक्षक (वाइस पैट्रन) हैं।

अपने पद के अधिकार से हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल विश्व-विद्यालय के लार्ड रेक्टर और युक्तप्रान्त के गवर्नर (लाट) इसके विज़िटर होते हैं और बृटिश इण्डिया के हर प्रान्त के गवर्नर भी इसके पेट्रन हैं। प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय पंडित आदित्य-रामजी भट्टाचार्य इसके रेक्टर थे। अब मालवीयजी महाराज हैं।

श्रीमान् महाराजा मैसूर विश्वविद्यालय के प्रथम चान्सलर (अर्थात् प्रधान) ६ वर्ष तक रहे और उनके बाद महाराजा गायक-वाड़ रहे। ग्वालियर के भूतपूर्व स्वर्गवासी महाराजा सिंधिया पहले प्रो-चान्सलर अर्थात् उप-प्रधान थे और दूसरे महाराजा बीकानेर थे, जो अब चान्सलर हैं। इस समय महाराजा जोधपुर और महाजाधिराज दरभंगा प्रो-चांसलर (उप-प्रधान) हैं।

विश्वविद्यालय के पहले वाइस-चांसलर स्वर्गीय डाक्टर सुन्दरलाल और दूसरे सर शिवस्वामी ऐयर थे। सन् १९१९ से मालवीयजी वाइस-चांसलर थे। महामहोपाध्याय पंडित आदित्यराम भट्टाचार्य विश्वविद्यालय के प्रथम, मालवीयजी द्वितीय, डाक्टर ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती तृतीय, प्रो० आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव चतुर्थ प्रो-वाइस-चांसलर थे। आजकल राजा ज्वालाप्रसाद प्रो-वाइस-चांसलर हैं; लेकिन इनकी भी अवधि अब समाप्त होने पर है। देश के बड़े-से-बड़े विद्वान्, देशभक्त नेता और श्रीमन्त विश्वविद्यालय की प्रधान सभा (कोर्ट) के सदस्य रह चुके हैं, या अब भी हैं।

विश्वविद्यालय के सम्पूर्ण आय-व्यय का प्रबन्ध करने, अध्यापकों और अन्य कार्यकर्त्ताओं को नियत करने तथा अपने यहाँ का प्रायः सम्पूर्ण प्रबन्ध करने में विश्वविद्यालय की कौंसिल को पूरी स्वतन्त्रता है। संक्षेप में, हर तरह से विश्वविद्यालय भारतवर्ष की अन्य सब यूनिवर्सिटियों से अधिक स्वतन्त्र है।

लार्ड हार्डिंज ने वसन्तपंचमी, फरवरी सन् १९१६ में विश्वविद्यालय की नींव डाली थी। ज़मीन लेने के बाद १९१८ में इमारतों का काम शुरू हुआ। तबसे यह उत्तरोत्तर उन्नति कर रहा है।

जिन महाराजाओं, जिन वाइसरायों और गर्वनरों ने और जिन विद्वानों, नेताओं और देशभक्तों ने विश्वविद्यालय का काम देखा है, उन्होंने उसकी उन्नति की बहुत प्रशंसा की है। विश्वविद्यालय आज संसार में हिन्दू-जाति की सबसे बड़ी नियमबद्ध संस्था है जो प्राचीन गुरुकुल और ब्रह्मचर्याश्रमों के प्रधान उद्देश्यों को ध्यान में रखकर धर्म के उपदेश के साथ नवयुवकों को सुचरित्रवान्, विद्वान्, कार्य-कुशल और देशभक्त बनाकर संसार की दृष्टि में हमारे देश और जाति का मान बढ़ाने का प्रयत्न कर रही है।

विश्वविद्यालय में छात्रों के स्वास्थ्य और चरित्र-गठन पर पूरा ध्यान रक्खा जाता है। वर्ष में एक बार छात्रों के शरीर की डाक्टरी परीक्षा होती है।

तैरना सीखने के लिए भी प्रबंध है। एक बोटिंग क्लब भी है।

सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, जैन, सिख आदि सभी धर्मों और सम्प्रदायों के विद्यार्थियों को अपने-अपने धर्म-प्रवर्तकों की जयंतियाँ और वार्षिकोत्सव मनाने की पूरी स्वतंत्रता है।

विश्वविद्यालय की भूमि तीन भागों में विभाजित है। कुछ में इमारतें बनी हैं, कुछ खेल के मैदानों से घिरा है और शेष खेती के लिए उठाया हुआ है।

छात्रावास सब एक पंक्ति में बने हुए हैं। अभी तक कुल सात छात्रावास इस भूमि पर बन चुके हैं। छात्रावासों के सामने खेलों के बड़े-बड़े मैदान हैं। मैदानों के बाद एक ही पंक्ति में कालेजों की इमारतें बनी हैं। इन इमारतों के बाद भी बड़े-बड़े मैदान छूटे हुए हैं।

शिक्षकों और कर्मचारियों के लिए सौ से अधिक इमारतें अलग एक पंक्ति में बनी हुई हैं।

शिक्षकों और शिक्षिकाओं के लिए कुछ नयी इमारतें और बन रही हैं।

सर सुन्दरलाल औषधालय, शल्य-क्रिया-भवन, आयुर्वेदिक फार्मेसी, फौजी शिक्षा का शस्त्रागार, डाक और तार-घर की इमारतें भी हैं।

आर्ट्स कालेज के खेल के मैदान के उस पार एक एम्फी-थियेटर बना हुआ है, जहाँ बैठकर दर्शकगण खेल, दौड़, व्यायाम तथा अन्य उत्सव, जो समय-समय पर होते रहते हैं, देखते हैं।

विश्वविद्यालय की अलग डेयरी है, जिसमें गौवें रहती हैं।

विश्वविद्यालय का अपना निज का प्रेस है।

विश्वविद्यालय के कालेजों और छात्रावासों की इमारतें भारतीय वस्तु-कला के आधार पर बनायी गयी हैं। ऊँचे-ऊँचे शिखरों और स्वर्ण-कलशों से ऐसा प्रतीत होता है मानो यह मंदिरों का नगर है। और विद्या-मन्दिरों का नगर तो वास्तव में हई है।

विश्वविद्यालय नगर की सफ़ाई, इमारतों की मरम्मत, सड़कों की देख-रेख और रोशनी का अच्छा प्रबन्ध है।

इंजिनियरिंग कालेज के 'पावर हाउस' से प्रकाश मिलता है।

कई कुएँ खोदकर उनसे पंपद्वारा सब जगह पानी पहुँचाया जाता है।

टाउन कमेटी के हाथ में सफ़ाई का प्रबंध है।

विश्वविद्यालय को देखने के लिए भारतवर्ष ही के नहीं, यूरोप और अमेरिका के भी यात्री आते रहते हैं। जर्मनी के प्रोफेसर सोमर फील्ड, फ्रांस के सिलवन लेवी, मैञ्चेस्टर के प्रोफेसर रामसे म्योर, अमेरिका के डाक्टर ह्यूम आदि कितने ही विद्वान् और प्रसिद्ध व्यक्ति यहाँ आ चुके हैं और देखकर सराह गये हैं।

यहाँ का वातावरण बड़ा ही शांत और स्वास्थ्यकर है। चारों ओर से खुली हवा में बनी हुई इमारतें, सीधी सड़कें, थोड़ी-थोड़ी दूर पर पड़नेवाले चौराहे, सड़कों के किनारे लगे हुए वृक्ष, खेल के विस्तृत मैदान, इमारतों के सामने के हरे-हरे लॉन, क्यारियों में ऋतु के फूले हुए फूल, और इन सबके साथ विद्या-मंदिरों के स्वर्ण-कलश, सभी तो सुन्दर हैं।

प्रातःकाल सूर्य की किरणों और चाँदनी रात में विश्व-विद्यालय का भौतिक सौन्दर्य खिल उठता है।

अट्ठाईसवाँ दिन

४ अक्तूबर

आजकल महाराज का स्वास्थ्य पहले से अच्छा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह मिला कि वे अपनी सहज प्रेरणा से शाम को पैदल टहलने के लिए बँगले से बाहर आजाते हैं। फिर भी अभी ५० क़दम से अधिक एक साँस में चलने की शक्ति उनमें नहीं है। ऐसी कमज़ोरी में अपनी इच्छा से पैदल टहलने निकलना साधारण मनोबल की बात नहीं है। अब उनकी आवाज़ में भी बल आ गया है और कदम भी जहाँ पहले छः या आठ इंच के फ़ासले से पड़ते थे, अब एक फ़ुट की दूरी पर पड़ने लगे हैं।

डाक्टर पाठक और मैं महाराज के साथ चले। बँगले के सामने आयुर्वेद-वाटिका है। उसको बीच से चीरती हुई एक या डेढ़ फर्लांग लंबी सड़क है, वही महाराज की शक्ति का परीक्षा-स्थान है। उसे वे चार-पाँच बैठकों में पार कर लेते हैं।

आज तीसरी बैठक पर महाराज जब कुर्सी पर और हम लोग उनके पास पत्थर की चौड़ी शिला पर बैठ गये, तब संयोग से द्वितीया का चन्द्रमा महाराज के ठीक सामने क्षितिज के पास दिखायी पड़ता था। मैंने उसे लक्ष्य करके कहा—वर्द्धनशील वस्तु को देखकर जितनी प्रसन्नता होती है, उतनी पूर्णता को प्राप्त वस्तु को देखकर नहीं। इसीसे द्वितीया के चन्द्र को पूर्ण चन्द्र से भी अधिक सम्मान दिया जाता है।

डाक्टर पाठक ने विनोद करते हुए कहा—पर वृद्धों को आपका यह कथन प्रिय नहीं लग सकता।

जान पड़ता है, महाराज सुन नहीं रहे थे। वे और कहीं थे। हम दोनों की बातचीत से उनका ध्यान भंग हुआ और उन्होंने पूछा—क्या बात हो रही है ?

डाक्टर पाठक ने बताया। महाराज हँसने लगे। उन्होंने कहा—वृद्ध लोग ऐसी बात सुनते भी नहीं।

इसके बाद उन्होंने मिस्टर ह्यूम की एक बात बतायी। वे कहने लगे—एक साहब मिसेज़ ह्यूम से मिलना चाहते थे। मिस्टर ह्यूम ने उनसे, जब वे मिसेज़ ह्यूम से मिलने जा रहे थे, हँसकर कहा—देखना, मिसेज ह्यूम के सामने जब कोई यह कहता है कि मिस्टर ह्यूम बूढ़े हो गये हैं; तब उसे बहुत बुरा लगता है।

मैंने धीरे से कहा—वृद्धता कैसी अप्रिय वस्तु है और किस नीरसता से मनुष्य के ऊपर लाद दी गयी है।

मुझे किसी उर्दू-कवि का यह शेर याद आया—

जो आके न जाये वो बुढ़ापा देखा।
जो जाके न आये वो जवानी देखी॥

जब पंडित राधाकान्त मालवीय नहीं रहते तब रात में ८ बजे से रेडियो से बर्लिन और लंडन की खबरें लेकर महाराज को बताने का काम मैंने ले रक्खा है। मैं रेडियो से खबरें लेने के लिए बैठा, उस समय महाराज पंडित यज्ञनारायण उपाध्याय और पंडित महादेव शास्त्री से किसी गम्भीर विषय पर बातें

कर रहे थे। उनकी बातों में बाधा न पड़े, इससे मैंने रेडियो का स्वर बहुत धीमा कर लिया था।

मेरे कान कभी-कभी महाराज की ओर भी चले जाते थे, क्योंकि वहाँ बड़ा ही मनोरंजक विषय छिड़ा हुआ था। पर मैं रेडियो को छोड़ नहीं सकता था, क्योंकि महाराज रेडियो की खबरों में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं और एक-एक खबर पूछते हैं और उनपर तर्क-वितर्क करते और सुनते हैं। ऐसा न होता तो मैं उस चिन्तामग्न गोष्ठी में अवश्य जा बैठता।

शास्त्रीजी ने यह प्रश्न उठाया था कि "अनाथाः विधवा रक्ष्याः" इस 'हिन्दू-धर्मोपदेश' के अनुसार विधवा की रक्षा कैसे की जाय ? यदि किसी के विवाह की आवश्यकता समझी जाय तो उसका विवाह किया जाय या नहीं ?

इसपर महाराज ने कहा---सभा कीजिए और सनातनधर्मी जनता से सम्मति मँगाकर फिर एक बड़ी सभा कीजिए और जो निर्णय उस सभा में हो, उसके अनुसार कीजिए। मेरी अपनी राय यह है कि यदि विधवा स्वयं चाहे तो उसका विवाह कर देना चाहिए। विधवा-विवाह के बारे में महाराज ने यह स्पष्ट राय देश, काल और पात्र पर अच्छी तरह विचार करके ही स्थिर की होगी, क्योंकि शास्त्रानुमोदित वचन बोलने ही के वे अभ्यासी हैं। सम्भव है, रूढ़िवादी व्यक्तियों में कुछ को यह प्रिय न लगे पर इससे अधिक विचारपूर्ण राय और हो ही क्या सकती है ?

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
शास्त्रपूतं वदेद्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत्॥

उन्तीसवाँ दिन

५ अक्तूबर

मार्च, १८८५ में मिस्टर ह्यूम ने सिविल सर्विस से छुट्टी पाकर 'इंडियन नेशनल यूनियन' नाम की एक संस्था खोली। उसका पहला अधिवेशन वे पूना में करना चाहते थे। पर वहाँ हैजा फैल गया, इससे अधिवेशन २८ दिसम्बर १८८५ को बंबई में हुआ। वही संस्था 'कांग्रेस' के नाम से विख्यात हुई।

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में २२ दिसम्बर, १८८६ में हुआ। दादाभाई नौरोजी उसके सभापति थे। कांग्रेस के उस अधिवेशन में महाराज भी सम्मिलित हुए थे। महाराज ने उस अधिवेशन में पहले-पहल जो भाषण किया, उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। महाराज स्वयं कहते हैं कि उस कांग्रेस में मैं जैसा बोला, वैसा फिर कभी नहीं बोला। मिस्टर ह्यूम ने महाराज की उस दिन की स्पीच के बारे में अपनी यह सम्मति प्रकट की :—

'But perhaps the speech that was most enthusiastically received was one made by Pandit Madan Mohan Malaviya, a high caste Brahmin whose fair complexion and delicately chiselled features instinct with intellectuality, at once impressed every eye, and who suddenly jumping up on a chair beside the president, poured forth a manifestly imprompter speech with an energy and eloquence that carried everything before him.



मालवीयजी

[राजा रामपालसिंह तथा अन्य अंग्रेज मित्रों के साथ । सबसे पुराना चित्र]

"जिस वक्तृता को जनता ने बड़े ही उत्साह से सुना, वह एक उच्चकुलीय ब्राह्मण पण्डित मदनमोहन मालवीय की थी, जिनके गौरवर्ण और मनोहर आकृति ने प्रत्येक व्यक्ति की आँखों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। अचानक सभापति के बराबरवाली कुरसी पर कूदकर उसने ऐसा सुन्दर जोरदार और धारा-प्रवाह भाषण दिया कि सब दंग रह गये।"

१८८७ में कांग्रेस की बैठक मद्रास में हुई। उसमें महाराज युक्तप्रांत से ४५ प्रतिनिधि लेकर पहुँचे थे, जब कि इतनी दूर के लिए किसी एक के भी पहुँचने की संभावना नहीं समझी जा रही थी। उसमें भी महाराज ने बड़ा प्रभावशाली भाषण दिया। उसे सुनकर राजा सर टी० माधवराव, दीवानबहादुर आर० रघुनाथराव तथा मिस्टर नार्टन-जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों ने महाराज की वक्तृत्व-शक्ति की बड़ी प्रशंसा की।

ह्यूम साहब ने उस वर्ष की कांग्रेस की रिपोर्ट में लिखा—"तब पण्डित मदनमोहन मालवीय खड़े हुए जो इस विषय के सबसे युवा और उत्साही कार्यकर्त्ता थे। उनके व्याख्यानों से ही हम बहुत अधिक लिखने को बाध्य हुए हैं। यद्यपि वह अंत में आकर अधिक जोशीला हो गया था, पर उसमें ऐसी सच्ची बातें हैं, जिनपर सावधानी से विचार करना ही चाहिए।

कांग्रेस में महाराज की पहली वक्तृता का और फिर मद्रास के अधिवेशन की वक्तृता का मिस्टर ह्यूम पर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने महाराज को युक्तप्रांत के एसोसियेशन का तथा स्थायी कांग्रेस कमिटी का मंत्री बना दिया।

महाराज ने सन् १८८५ में अध्यापकी की नौकरी छोड़ दी और तबसे वे बिलकुल स्वतन्त्र होकर कांग्रेस के कामों में अपना पूरा समय देने लगे।

मद्रास के बाद कांग्रेस का अधिवेशन प्रयाग में हुआ। महाराज ही ने कांग्रेस को निमन्त्रित किया था। महाराज स्वागत-समिति के मंत्री थे। पण्डित अयोध्यानाथ भी शामिल हुए और २६ दिसम्बर सन् १८८८ को जार्ज यूल के सभा-पतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन बड़ी शान से हुआ। महाराज की प्रबन्ध-शक्ति की सराहना कांग्रेस में आये हुए सब नेताओं ने की।

१८९२ में कांग्रेस का अधिवेशन प्रयाग में फिर हुआ। महाराज ने उसे भी पूर्ण रीति से सफल बनाया।

१९०५ में लार्ड कर्जन ने बंगाल के दो टुकड़े कर दिये, इससे सारे देश में बड़ी खलबली मची। काशी में कांग्रेस की बैठक हुई। माननीय गोपाल कृष्ण गोखले सभापति थे। उसी कांग्रेस में बृटिश माल के बहिष्कार का प्रस्ताव पास हुआ।

महाराज कांग्रेस के प्रतिवर्ष के अधिवेशन में सम्मिलित होते थे और उसके कार्यक्रम में प्रमुख भाग लेते थे।

काशी के बाद कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ, जिसमें दादाभाई नौरोजी सभापति थे। उसी कांग्रेस में सबसे पहले भारत की स्वतन्त्रता के लिए 'स्वराज' शब्द का प्रयोग हुआ था।

कलकत्ते के बाद कांग्रेस की बैठक सूरत में हुई। उस समय कांग्रेस में फूट पड़ गयी थी और नरम और गरम नाम से दो अलग-

अलग दल हो गये थे। गरम दल के नेता लोकमान्य तिलक थे और नरम दल के माननीय गोपाल कृष्ण गोखले, सर फीरोज़शाह मेहता आदि।

कांग्रेस के अधिवेशन में दोनों दलों में मारपीट हो गयी और शांति-स्थापन के लिए पुलीस को आना पड़ा।

उस समय मालवीयजी मंच पर थे और सभापति को बचाने का प्रयत्न कर रहे थे। एक व्यक्ति ने उनपर वार करना चाहा, उसी समय बाबू गंगाप्रसाद वर्मा उनको पकड़कर बाहर ले गये। सूरत की इस घटना से महाराज को बहुत खेद हुआ।

सन् १९०८ में लखनऊ में प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन हुआ। मालवीयजी उसके सभापति बनाये गये।

१९०९ में कांग्रेस का चौबीसवाँ अधिवेशन लाहौर में हुआ। सर फीरोज़शाह मेहता उसके सभापति होनेवाले थे, पर कांग्रेस की तारीख़ से छः दिन पहले उन्होंने इन्कार कर दिया। तब महाराज को सभापति बनाया गया। समय की कमी से महाराज अपना भाषण लिखकर नहीं ले जा सके। ज़बानी ही उन्होंने भाषण दिया। भाषण बड़ा जोशीला था। वंग-भंग के मसले को लेकर जनता में बड़ी उत्तेजना फैल रही थी।

लार्ड मिण्टो का समय पूरा होने पर लार्ड हार्डिंज वायसराय होकर आये। लार्ड हार्डिंज लार्ड मिण्टो से नेक वायसराय माने जाते हैं। उनके वक्त में वंग-भंग का विधान रद्द किया गया और कलकत्ते से राजधानी दिल्ली लायी गयी।

१९१४ में कांग्रेस की बैठक मद्रास में हुई। इन्हीं दिनों

श्रीमती एनी बेसेण्ट ने होमरूल लीग क़ायम करके आन्दोलन शुरू किया।

मालवीयजी ने भी उसमें सहयोग दिया। दौरे किये, व्याख्यान दिये और जनता की सोयी हुई शक्तियों को जगाया।

भारत भर में होमरूल आन्दोलन खूब जोरों से चला।

१९१७ में कांग्रेस की एक ख़ास बैठक में इंग्लैंड में कांग्रेस का एक अधिवेशन किये जाने की बात स्वीकृत हुई जो प्रमुख-प्रमुख नेता यहाँ से भेजे जानेवाले थे, उनमें मालवीयजी का भी नाम था। पर यह तजवीज ही तजवीज थी।

१९१७ की कांग्रेस कलकत्ते में हुई, उसी वर्ष मांटेगू साहब (भारत-मंत्री) ने भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन देने की घोषणा की। उससे होमरूल का आन्दोलन ढीला पड़ गया।

१९१७ ही में बम्बई में काग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। उसके बाद दिल्ली में कांग्रेस की वार्षिक बैठक हुई, जिसके सभापति मालवीयजी हुए। मालवीयजी ने दिल्ली की कांग्रेस में 'मांटेगू-चेम्सफोर्ड रिफार्म' की बड़ी खरी आलोचना की। उस कांग्रेस में सौ किसानों को बिना टिकट कांग्रेस के पंडाल में प्रवेश करने की आज्ञा दी गयी। कांग्रेस के इतिहास में यह पहला मौक़ा था, जब किसान उसमें सम्मिलित किये गये, और यह मालवीयजी के ख़ास प्रयत्न से हुआ था।

६ फरवरी १९१९ को विलियम विंसेंट ने बड़ी व्यवस्थापिका सभा में "रौलट बिल" पेश किया। इसने देश की सब आशाओं पर पानी फेर दिया। महाराज ने उक्त सभा में चार



मालवीयजी : अमृतसर कांग्रेस में नेताओं के साथ

घंटे तक लगातार खड़े होकर बड़ा ज़ोरदार भाषण दिया। पर मार्च के तीसरे सप्ताह में बिल का एक भाग पास हो गया, जिसके आधार पर सरकार के विरोधियों को पकड़कर तीन जजों के सामने पेश किया जाता और अगर उनको सज़ा दी जाती तो उसकी अपील नहीं हो सकती थी।

यहीं से महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन की नींव पड़ी। हिन्दू-मुसलमान दोनों ने मिलकर आन्दोलन में भाग लिया। ६ अप्रैल को भारत भर में हड़ताल की गयी; "रौलट बिल" के विरोध में जलूस निकाले गये और क्रोध प्रकट किया गया।

यह वह समय था जब १९१४ से जर्मनी और इंग्लैंड में भयंकर युद्ध छिड़ा हुआ था। १९१८ के ११ नवम्बर को जर्मनी ने सन्धि की याचना की। संधि हो गयी। इस युद्ध में भारतीय सिपाहियों ने ऐसी वीरता दिखायी कि इंग्लैंड हारने-से बच गया। देश को आशा थी कि इसका कोई अच्छा परिणाम सामने आयेगा। पर भारत के अंग्रेज शासक दूसरी ही धुन में थे। 'रौलट एक्ट' पास करके उन्होंने अपना एक दूसरा ही रूप हमारे सामने उपस्थित कर दिया।

'रौलट ऐक्ट'-विरोधी आन्दोलन का यह परिणाम हुआ कि महात्मा गांधी ने पहली अगस्त १९२१ को सरकार से असहयोग करने की घोषणा की। देश में उथल-पुथल मच गयी। जलियाँवाला बाग़ के हत्याकांड, पंजाब में अत्याचार और जाँच-कमेटी के सामने जनरल डायर के बयान ने बारूद में आग रखने का काम किया।

सरकार ने आन्दोलन को दबाने में कोई कसर नहीं रक्खी। गोलियाँ चलीं, लाठी और डंडे चले, धर-पकड़ हुई, ज़ायदादें ज़ब्त हुई पर 'मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'। महात्मा गांधी देवता की तरह पूज्य हो गये।

महात्माजी के आदेश से बहुत-से वकीलों ने वकालत छोड़ दी, बहुत-से ख़िताबवालों ने ख़िताब लौटा दिये और कितनों ने सरकारी नौकरियों पर लात दी। चारों ओर असहयोग की आग भभक उठी।

मालवीयजी स्कूलों और कालिजों के बहिष्कार के पक्ष में नहीं थे। इलाहाबाद में उन्होंने भाषण दिया, जिसमें उन्होंने कहा —

सरकारी स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार ठीक नहीं है। यह बड़ा ग़लत रास्ता है। स्कूल में बच्चों को भेजने से सरकार को कोई मदद नहीं मिलती। जब देशी या राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित हो जायें तभी बच्चों को वहाँसे उठाना चाहिए।

२७ जुलाई, १९२१ को बम्बई में कांग्रेस की बैठक हुई। उसमें सत्याग्रह और बायकाट का प्रस्ताव रक्खा गया। उसमें प्रिंस आफ़ वेल्स के बायकाट का प्रस्ताव पास होगया। मालवीय-जी ने उस प्रस्ताव का विरोध किया।

पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धुदास और मौलाना आज़ाद तो जेल में थे, और इधर मालवीयजी हिन्दू-विश्वविद्यालय में प्रिंस आफ़ वेल्स का स्वागत कर रहे थे।

मालवीयजी की नीति से लोग बहुत असन्तुष्ट हुए। माल-

वीयजी के चौथे पुत्र गोविन्द मालवीय विद्रोही हो गये; वे विश्व-विद्यालय छोड़कर चले गये। और भी बहुत-से विद्यार्थियों ने विश्वविद्यालय छोड़ दिया, पर मालवीयजी विचलित नहीं हुए।

उन दिनों बाजार में एक चित्र बिकता, जिसमें विश्वविद्यालय को शिव-मूर्ति बनाया गया था। मालवीयजी उसे पकड़े बैठे थे और एनी बेसेंट उसपर फूल चढ़ा रही थीं।

दिसंबर १९२१ में मालवीयजी की बिचवई से लार्ड रीडिंग और गांधीजी की मुलाकात हुई। समझौते की कुछ बातें तै हुईं, पर सरकार उसपर कायम न रह सकी और आन्दोलन शुरू हो गया।

४ फरवरी १९२२ को चौरीचौरा का हत्याकांड हुआ। लोगों का ऐसा भ्रम है कि मालवीयजी ने गांधीजी को देश की परिस्थिति समझाकर आन्दोलन बन्द कराया, इससे जनता मालवीयजी पर रुष्ट हो गयी। पर बात ऐसी नहीं है। गांधीजी ने ने स्वयं आन्दोलन बंद किया, मालवीयजी ने केवल समर्थन कियो था।

इसके बाद गांधीजी गिरफ्तार हो गये और उन्हें ६ वर्ष की सज़ा मिली। अब मालवीयजी सरकार की दमन-नीति को सहन न न कर सके। लगभग साठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने कमर कसी और पेशावर से आसाम तक दौरा किया।

गोरखपुर के जिले में व्याख्यान न देने की उन्हें सरकारी आज्ञा मिली। मालवीयजी ने उसकी अपेक्षा करके बरहज, देवरिया, रामपुर, कसिया, पड़रौना, गोरखपुर और खलीलाबाद

में व्याख्यान दिये। सरकार ने कोई कार्रवाई नहीं की।

आसाम और पंजाब में मालवीयजी पर दफ़ा १४४ का नोटिस तामील किया गया; पर उन्होंने कहीं उसकी परवा नहीं की और न सरकार की तरफ़ से उनपर कोई कार्रवाई की गयी।

२ अप्रैल १९३० को मालवीयजी ने व्यवस्थापिका सभा से इस्तीफा दे दिया। पंजाब में उस समय बड़ा अत्याचार हो रहा था। मालवीयजी पंजाब गये। सरकार ने मालवीयजी को पेशावर जाने से रोका, पर वे नहीं माने। इसपर सरकार ने उन्हें पकड़कर, गाड़ी में बैठा कर वापस कर दिया।

१ अगस्त १९३० को बंबई में लोकमान्य तिलक की पुण्य-तिथि मनायी गयी। जलूस में कांग्रेस-कमेटी के अन्य कई सदस्यों के साथ मालवीयजी भी थे। पुलिस ने जलूस को आगे जाने से रोक दिया और नेताओं को पकड़कर लारी में भरकर जेल पहुँचा दिया। दूसरे दिन मालवीयजी पर १००) जुरमाना हुआ।

मालवीयजी के पकड़े जाने के समाचार से हिन्दू-विश्वविद्यालय में बड़ी उत्तेजना फैली। १२० विद्यार्थियों का दल बंबई में सत्याग्रह करने के लिए गया। पर इस दल के पहुँचते-पहुँचते किसी ने जुरमाना अदा कर दिया और मालवीयजी छोड़ दिये गये।

इसके बाद २७ अगस्त १९३० को दिल्ली में डाक्टर अंसारी के घर पर कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की बैठक हुई। वहाँ मालवीयजी फिर पकड़े गये और स्पेशल ट्रेन से नैनी जेल भेजे गये। थोड़े दिनों बाद वे बीमार हो गये, सरकारी अस्पताल में भेजे गये, जहाँ से यकायक छोड़ दिये गये।

२९ अगस्त १९३१ को ७० वर्ष की अवस्था में मालवीय-जी राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस में शरीक होने के लिए जहाज़ पर सवार हुए और १२ सितम्बर १९३१ को वे लण्डन पहुँचे।

लण्डन में मालवीय जी ने कई भाषण दिये। १४ जनवरी, १९३२ को वे वहाँसे स्वदेश लौट आये।

१९३२ के दिसम्बर में उन्होंने इलाहाबाद में यूनिटी कान्फ्रेंस बुलायी और उसे सफल बनाया।

दिल्ली में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। मालवीयजी उसके अध्यक्ष चुने गये। काशी से वे रवाना हुए और दनकौर स्टेशन से ट्रेन छोड़कर मोटर से चले; पर जमुना के पुल पर पकड़ लिये गये और और तीन-चार दिन बाद इलाहाबाद पहुँचा दिये गये।

अगले साल कलकत्ते में कांग्रेस हुई। मालवीयजी फिर अध्यक्ष चुने गये। कलकत्ते जाते हुए वे आसनसोल स्टेशन पर फिर पकड़े गये और एक सप्ताह बाद इलाहाबाद लाकर छोड़ दिये गये।

साम्प्रदायिक बँटवारे के सम्बन्ध में मत-भेद होने के कारण मालवीयजी और श्री अणे ने १९ अगस्त १९३४ को कलकत्ते में एक स्वतन्त्र 'कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी' बनायी।

२८ दिसम्बर १९३५ को कांग्रेस की पचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर उस स्थान पर जहाँ कांग्रेस की पहली बैठक हुई थी, मालवीयजी के हाथों उसकी स्मृति-शिला रखी गयी।

२८ दिसम्बर १९३६ को फ़ैजपुर-कांग्रेस में मालवीयजी आखिरी बार कांग्रेस में दिखायी पड़े। फिर नहीं गये। कांग्रेस के

बहुत ही कम अधिवेशन ऐसे होंगे, जिसमें मालवीयजी न गये होंगे।

इस प्रकार कांग्रेस और कौंसिलों द्वारा मालवीयजी ने लगातार पचास वर्षों तक शिक्षित-समुदाय में विचारों की धारा बहायी है। उनकी नीति हमेशा काम निकालने की रही। यद्यपि वे शुद्ध देशभक्त और हिन्दू-जाति और धर्म की रक्षा और उन्नति के लिए निरंतर व्यग्र रहनेवाले नेता हैं, पर उनकी काम-निकाल नीति को न समझ सकने के कारण कभी-कभी उनको जनता का सन्देह-भाजन भी बन जाना पड़ा है। और सरकार तो भीतर-भीतर उनपर सदा सन्देह रखती ही रही है।

नरपति-हित-कर्त्ता द्वेषतां याति लोके।
जनपद-हित-कर्त्ता त्यज्यते पार्थिवेन ॥
इति महति विरोधे वर्त्तमाने समाने।
नृपति-जनपदानां दुर्लभः कार्य-कर्त्ता ॥

तीसवाँ दिन

६ अक्तूबर

महाराज का जीवन एक संन्यासी का-सा जीवन है। अंतर इतना ही है कि वे सफेद वस्त्र पहनते हैं। स्त्री, पुत्र, पौत्र सब हैं। पर मैंने कभी उन्हें किसी के लिए चिन्तित नहीं देखा। घर के छोटे बच्चे कभी उनके पास आते हैं तो एक बार हँसकर उनसे कोई बात पूछ ली या ज़रा-सा गाल या ठुड्डी छू दी, बस, इतना ही उनका प्यार है।

शरीर अस्वस्थ है, निर्बल है, कमर झुक गयी है, चला नहीं जाता, पर इनकी चर्चा वे उसी समय करते हैं, जब डाक्टर या वैद्य सामने होते हैं। शेष समय में वे देश या धर्म की चिन्ता ही में निमग्न पाये जाते हैं।

उन्होंने अपनी चिन्ताओं को क़ाग़ज़ पर लिखकर रख छोड़ा है। वह काग़ज़ पास ही, तकिये के बग़ल में रक्खा रहता है। वे प्रायः उसे एक बार रोज़ घोख लिया करते हैं।

आज आफिस में मालूम हुआ कि महाराज की चिन्ताओं का सूची जिसे उन्होंने अपने काँपते हुए हाथ से लिखा था, साफ़ अक्षरों में लिखी जा रही है।

दोपहर के बाद मुझे महाराज से मिलने का मौक़ा मिला। मैंने वह सूची देखनी चाही।

महाराज ने मुझे सूची दी और कहा—पढ़िए।

मैं पढ़ता गया और वे उसकी एक-एक चिन्ता की संक्षित व्याख्या करते गये। सूची की समूची प्रतिलिपि यह है :—

ॐ नमः शिवाय

आश्विन शु० प्रतिपदा, सं० १९९७

: १ : १—मन्दिर
२—संस्कृत कालेज
३—छात्रालय
४—एक हज़ार वृत्तियाँ
५—धर्मोपदेशक विद्यालय

: २ : १—संग्रह की पूर्ति
२—गीता का सम्पादन
३—भजन-संग्रह
४—अनाथ-पाठशाला
५—विधवा-आश्रम
६—सनातन-धर्म-सभाओं की स्थापना
७—महावीर-दल

: ३ : गोशाला-गोरक्षा

: ४ : व्यायाम-शिक्षा

: ५ : संस्कार

कायाकल्प मालवीयजी के जीवन की एक विशेष घटना है। इसकी चर्चा अखबारों में और जन-साधारण में भी काफी हुई। कायाकल्प का परिणाम जैसी आशा की गयी थी वैसा नहीं हुआ। मालवीयजी से इसकी चर्चा कई बार हुई और उन्होंने

सदा तपसी बाबा के प्रति कृतज्ञता ही प्रकट की। यह उनके उदार स्वभाव का गुण है कि किसी ने उनकी थोड़ी भी सेवा कर दी तो वे उसका उपकार सदा मानते रहते हैं, और उससे कितनी भी हानि वे उठावें तो भी उसके उपकार ही को याद रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता भी करते हैं।

आज मैंने इस सम्बन्ध में कुछ विशेष पूछताछ की। मेरा भी अनुमान है और पं० राधाकान्तजी और गोविन्दजी का भी कथन है कि कायाकल्प से मालवीयजी को हानि पहुँची है। पंडित राधाकान्तजी का कहना है कि इस उम्र में कायाकल्प सफल हो ही नहीं सकता और यह सच जान पड़ता है, क्योंकि वाग्भट्ट ने आयु के मध्य भाग में, अर्थात् ४० वर्ष के बाद कायाकल्प की सलाह दी है। गोविन्दजी का कहना है कि कायाकल्प के प्रयोग में प्रवेश करने के पहले दिन तक मालवीयजी अठारह और बीस घंटे रोज परिश्रम करते थे। थकावट उनको आती ही न थी। कायाकल्प-कुटी में जाकर पैंतालीस दिनों तक उनको बिना काम के और लेटे रहना पड़ा, यह उनके लिए अस्वाभाविक था। उसने उनके जीवन की धारा ही बदल दी। प्रयोग समाप्त करके वे निकले, तबसे उनके परिश्रम की शक्ति ही मारी गयी और एक ही बंधान में पचास-साठ वर्षों से चला आता हुआ उनका जीवन भीतर-ही-भीतर बिखर गया। शरीर तो उनका पहले भी आयु के अनुसार निर्बलता हो चला था, पर आत्मा इतनी प्रबल थी कि उसे उठाये रखती थी। कायाकल्प के बाद आत्मा की अधिकांश शक्ति शरीर में डूब-सी गयी।

फिर भी गोविन्दजी सिद्धान्तः कायाकल्प के प्रयोग के विरुद्ध नहीं हैं। वे कहते हैं कि ७८ वर्ष की आयु में ८ पौंड वजन का बढ़ना उन्हीं की नहीं, कई प्रसिद्ध डाक्टरों की दृष्टि से भी उसका अद्भुत चमत्कार था।

कायाकल्प की संक्षिप्त कथा यह है :

१६ जनवरी, १९३८ को मालवीयजी ने तपसी बाबा की देखभाल में, रामबाग (शिवकोटी : प्रयाग) में कायाकल्प का प्रयोग प्रारंभ किया। वे दिन के तीन बजे के लगभग एक कुटी में जो कायाकल्प के लिए खास ढंग की बनायी गयी थी, और जिसमें बाहर की हवा और रोशनी नहीं जा सकती थी, प्रवेश किया। उसदिन उनका वजन १०२ पौंड था। वे लगातार ४५ दिन तक उसीके अन्दर रहे। ता० २५ फरवरी, १९३८ को वे कुटी से बाहर निकले। उस दिन उनका वजन १०८ पौंड था, उनके बाल कुछ काले हो गये थे; चेहरे पर वृद्धावस्था भी कुछ कम दिखायी पड़ती थी। २७ जनवरी तक उनकी आँखों में इतनी शक्ति आ गयी थी कि जिन अक्षरों को वे पहले चश्मा लगाकर भी नहीं पढ़ सकते थे, उनको वे बिना चश्मे के पढ़ने लगे थे।

फिर भी यह निश्चय है कि कायाकल्प से मालवीयजी को लाभ नहीं पहुँचा। मालवीयजी कहते हैं कि उन्होंने कायाकल्प के नियमों का ठीक-ठीक पालन नहीं किया, इसीसे उनको पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हुई।

जो हो, इस प्रयोग से जन-साधारण को यह लाभ तो लेना



मालवीयजी : कायाकल्प के बाद का चित्र

ही चाहिए कि नियमों का कठोरता से पालन किये बिना काया-कल्प का प्रयोग सफल नहीं हो सकता था।

कायाकल्प का समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ तब योरप और अमेरिका से कायाकल्प की ओषधि की माँग आयी और कइयों ने लिखा कि वे कायाकल्प के लिए हिन्दुस्तान आ सकते हैं।

कुटी में प्रवेश करते समय मालवीयजी ने तपसी बाबा से से कहा था कि गांधीजी का भी कायाकल्प करा दीजिएगा। तपसी बाबा ने कहा—मैं उनका कायाकल्प नहीं कराऊँगा आप ही का कराऊँगा। सम्भवतः तपसी बाबा को विश्वास नहीं था कि गांधीजी इतनी जल्दी स्वीकार कर लेंगे।

आज महाराज के साथ के तीस दिन मैंने पूरे कर लिये, इस पर मुझे सचमुच हर्ष है।

महाराज का तो विराट् रूप है। उसमें मैं जितना समा पाया और उसको अपने में जितना अमा पाया, उसकी कुछ झलक मैंने अपने तीस दिन के संस्मरण में दे दी है। यह तो उनकी अति विस्तृत जीवन-कथा का एक पृष्ठ-मात्र है।

इस अस्सी वर्ष की आयु में भी वे सुबह से लेकर रात के दस बजे तक नाना प्रकार के कार्यों में, मुख्यतः विश्वविद्या-लय और धर्म-प्रचार-सम्बन्धी कार्यों में ऐसा व्यस्त रहते हैं और मिलने-जुलनेवालों और दर्शनार्थियों से ऐसे घिरे रहते हैं कि मुझे उनसे बात करने का नियमित समय, कभी नहीं मिला। और मिला भी तो कभी आधा घंटा, कभी पौन घंटा। और

बहुत बार तो उनकी थकावट का विचार करके मैं स्वयं उनके सामने जाने से बचता रहा हूँ। कभी रात के समय भोजनोपरान्त जब वे कुछ निश्चिन्त हो जाते थे, तब मेरी पारी आती थी; और कभी उनके साथ टहलने जाने का भी सौभाग्य प्राप्त हो जाता था, उस समय भी कुछ बातें पूछने और सुनने का मौक़ा मिल जाता था।

रात में कभी साहित्य का कोई प्रसंग छिड़ जाता तो कभी वर्तमान राजनीति का, और कभी उनके निजी जीवन का। नौ और कभी दस बजे के लगभग जब महाराज को नींद आने लगती, तब मैं उठकर चला आता और दिनभर में जो बात उल्लेखनीय होती, उन्हें घंटे-दो घंटे और कभी-कभी रात के डेढ़-दो बजे तक बैठकर लिख लिया करता था। उन्हीं सबका संग्रह इस पुस्तक में है। कुछ बातें मालवीयजी के अन्तरङ्ग मित्रों और निकटस्थ कर्मचारियों से पूछकर और कुछ महाराज के सम्बन्ध में प्रकाशित हिन्दी और अंग्रेज़ी की पुस्तकों से लेकर मैंने इसमें संग्रह कर दी है। किसी खास क्रम से न मैंने उनसे कोई बात पूछी ही है और न सिलसिले से उन्होंने कभी अपनी जीवन-कथा लिखायी ही है। फिर भी मेरा विश्वास है कि उनके जीवन की मुख्य-मुख्य बातें, संक्षिप्त रूप में, इस संग्रह में आ गयी हैं।

जिन प्रकाशित पुस्तकों से मैंने सहायता ली है, उनके नाम ये हैं:

१—**कांग्रेस का इतिहास**—डा० पट्टाभि सीतारामैया।

२—महामना पंडित मदनमोहन मालवीय—पंडित सीताराम चतुर्वेदी।

३—Malaviya Commemoration Volume—हिन्दू-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।

मुझे विश्वास है कि मालवीयजी के जीवन की जो रूप-रेखा मैंने तैयार कर दी है, वह यदि उपयोगी साबित हुई तो बिड़लाजी जो एक समर्थ व्यक्ति हैं एक अन्य ऐसे किसी सुयोग्य व्यक्ति को नियुक्त करेंगे जो मालवीयजी के पास उनके शेष जीवन तक साथ रहकर उनके जीवन की अनमोल घटनायें लिखकर संग्रह कर ले। वह संग्रह हिन्दू-जाति का एक जीवन-कोष होगा।

जो भाग्यशाली सज्जन महाराज के साथ नियुक्त किये जायँ, उनके ध्यान में रखने की बात मैं पहले बता देना आवश्यक समझता हूँ। वह यह कि महाराज ने कवि का हृदय पाया है। जीवनभर कर्म-रूपी अनेक महाकाव्यों की रचना करके अब उनका हृदय विश्राम ले रहा है। उनका मुहँ खोलना और उसके अन्दर झाँककर उसमें बिखरे पड़े हुए ज्योतिर्मय रत्नों का दर्शन करना हो तो महाराज को आत्मत्याग, दया, उदारता, करुणा, वीरता और धर्म-पालन आदि उन्हें उत्साहित करने-वाली बातें सुनानी चाहिएँ। महाराज उन्हें सुनते ही जाग-से उठते हैं और अपना हृदय और मस्तिष्क दोनों खोल देते हैं। फिर उनके मुख से अनुभूतियों की धारा बहने लगती है; और वही समय है, जब सावधान व्यक्ति प्रसंग उपस्थित करके इच्छित

बात उनके मस्तिष्क से निकाल सकता है।

कोई भी बात, जिसमें विवेक न हो और जो मर्यादा का अतिक्रम करती हो, सुनकर महाराज खिन्न हो जाते हैं। दो-तीन बार मैं भी डाँट खा चुका हूँ।

एक दिन संध्या समय वे बँगले के बाहर खुले स्थान में बैठे थे। सामने दूसरी कुरसी पर हिन्दू-विश्वविद्यालय के एक नवयुवक ग्रेजुएट, जो कहीं अध्यापक हैं और महाराज-द्वारा संचालित महावीर-दल के शायद मंत्री भी हैं, उनसे कुछ आदेश प्राप्त कर रहे थे। उसी समय मैं भी वहाँ पहुँच गया। नवयुवक उठना चाहते थे पर मैंने उन्हें बैठे रहने का संकेत किया। इतने में मेरे लिए कुरसी आ गयी। मेरे बैठ जाने पर महाराज ने अपने नवयुवक शिष्य को डाँटा—तुम उठे क्यों नहीं ?

शिष्य ने कहा—मैं उठ रहा था, पर आपने (अर्थात् मैंने) रोक दिया।

यह सुनकर महाराज मेरी ओर घूमकर कहने लगे—शिष्टाचार के पालन में नवयुवकों को रोकना नहीं चाहिए। शिष्टाचार ही इनका गौरव है।

दूसरी बार मैं उनके साथ टहलने गया था। पंडित राधाकांतजी (मालवीयजी के दूसरे पुत्र) भी साथ थे और रेडियो से इंग्लैंड का समाचार सुनकर आये थे। मैंने उनसे पूछा—कहिए, इंग्लैंड का कोई रोचक समाचार है ?

उनके उत्तर देने पहले ही महाराज बोल उठे—जान पड़ता है, इंग्लैंड से आपका द्वेष बहुत बढ़ गया है ? शासक और

शासित के भाव को अलग रखकर हमको मनुष्य के नाते संकट में ग्रस्त मनुष्यमात्र से सहानुभूति रखनी चाहिए।

यह कहकर महाराज ने एक श्लोक पढ़ा, जो मुझे इस समय याद नहीं रहा है।

मैंने तत्काल स्वीकार किया कि किसी भी संकट-ग्रस्त मनुष्य से द्वेष रखना हृदय की दुर्बलता है और क्षमा माँगी।

तीसरी बार की घटना यह है कि मैंने सत्याग्रह और असहयोग के दिनों (१९२१) के अपने एक जेल के साथी की एक बात महाराज को सुनायी। उसमें उस साथी की एक मूर्खता प्रकट होती थी। महाराज अन्त तक चुपचाप सुनते रहे, फिर कहने लगे—आपने यह कथा क्यों याद कर रक्खी है? इससे आपके साथी को तो कुछ लाभ होगा नहीं, इसे कहने और सुननेवालों को भी लाभ नहीं मिलेगा। ऐसी कथायें याद रखिए और सुनाइए, जिनसे सुननेवालों के हृदय में धर्म-बल बढ़े, कर्त्तव्य-पालन की स्फूर्ति उत्पन्न हो और जो किसी मित्र के गौरव को भी बढ़ावे।

महाराज की बात सुनकर मैं सचमुच लज्जित हुआ।

इन घटनाओं का उल्लेख मैंने इसलिए कर दिया है कि एकाएक मालवीयजी महाराज की संगति में आ जानेवाले व्यक्ति को मालूम रहे कि शिष्टाचार उनके स्वभाव का एक स्थायी अङ्ग है। उसकी अवहेलना से उनको चोट लगती है। मर्यादा से उतरी हुई कोरी बात उनको सहन नहीं होती। और उनमें पर-दुःख-कातरता इतनी है कि अपना इस प्रकार का कष्ट वे सब

पर प्रकट भी नहीं होने देते। चुपचाप सह लेते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक बड़ी ही रोचक कथा है:—

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूपुर्देवा मनुष्या असुराउषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षर-मुवाच 'द' इति। व्यज्ञासिष्टा ३ इति, व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १ ॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षर-मुवाच 'द' इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षर मुवाच 'द' इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेवदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनभिस्तुर्दद द इति दाम्यत दत दयध्वमिति तस्मादेतत्त्रयम् शिक्षेत् दमं दानं दयामिति च ॥ ३ ॥

इसका भावार्थ यह है कि एक बार प्रजापति के तीन पुत्र देव, मनुष्य और असुर उनके पास आये और क्रमशः अलग-अलग बोले कि हमने ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन समाप्त कर लिया। अब कल्याण का कोई उपदेश दीजिए। प्रजापति ने हरएक को एक ही अक्षर 'द' कहा और हरएक से पूछा—क्या समझे ? देवों ने कहा—दमन; मनुष्यों ने कहा—दान, और असुरों ने कहा—दया। प्रजापति ने कहा—ठीक समझा, जाओ।

उच्च कोटि के जो मनुष्य हैं, वे ही देव हैं, मन और इन्द्रियों की समस्त गतियों से वे परिचित होते हैं। उनके नष्ट होने के बहुत से द्वार होते हैं अतएव उनको मन और इन्द्रियों

को दमन करना जानने की अत्यन्त आवश्यकता है।

मनुष्य जो जीवन के प्रारम्भ से लेकर अंत तक दूसरों के परिश्रम और सहयोग से जीतता है, उसपर इनका ऋण है। उसे चुकाने के लिए उसे दान करते रहना चाहिए, तीसरी श्रेणी में असुर हैं, जिनकी प्रकृति तामसी है। उनको दया की शिक्षा मिलनी चाहिए। उनमें दया न होगी तो उनका जीवन कष्टों से सदा भरा ही रहेगा।

असुरों में दया, मनुष्यों में दया और दान और देवों में दया, दान और दम इस क्रम से मनुष्य समाज की तीन श्रेणियों में गुणों का वर्गीकरण हुआ है।

मालवीयजी ने अपने देवोपम गुणों से अक्षय यश प्राप्त किया है।

आज मैं महाराज से विदा माँगने गया। एक महीने के लिए आया था, तीन महीने बादल की छाया की तरह निकल गये। कई दिन पहले महाराज ने कहा था कि 'दो वर्ष तक मेरे साथ रहिए'। पर मेरे भाग्य में बदा हो तब न ? मैं अपनी असमर्थता पर मन ही मन दुःखी होकर रह गया। पर दो वर्ष की बात सुनकर मुझे यह संतोष हो गया कि महाराज मेरी सेवा से संतुष्ट रहे।

महाराज सचमुच बहुत सरल हैं और सहज सेवा ही से वश में हो जाते हैं। मैंने उनके चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया और अपनी धृष्टता की, यदि कभी बातचीत या व्यवहार में हुई हो तो, क्षमा माँगी। महाराज ने आशीर्वाद दिया और कहा—

शिष्टाचार में आप पास हो गये। मैं सचमुच निहाल हो गया।

मैं कांग्रेसी विचारों का साधारण आदमी और महाराज एक दूरदर्शी विद्वान् और जीवन-साफल्य की सर्वोच्च ऊँचाई पर पहुँचे हुए महान् पुरुष, फिर भी मैंने राजनीतिक वाद-विवाद में कभी-कभी पूरी स्वतंत्रता ले ली थी। मैं अपनी धृष्टता से स्वयं भयभीत था। मेरा भय सुनकर महाराज कहने लगे—मैंने आपकी स्वतंत्रता-पूर्वक बातचीत से सुख ही अनुभव किया है। मुझे तो ऐसा ही साथी चाहिए। महाराज की बात सुनकर मानों छाती पर से पहाड़ उतर गया।

तीन महीनों में मैंने महाराज के जीवन-पुष्प की बहुत-सी पंखड़ियाँ उलट-पुलटकर देखीं और प्रति दिन मैं उनके निकट होता गया। महाराज के सहज-मधुर स्वभाव ने मुझे अपना लिया था। इससे आज उनसे अलग होते समय हृदय में मधुर-मधुर पीड़ा का अनुभव होने लगा। मैं जैसे उनको छोड़ना चाहता ही न था। आँखों में आँसू भरे मैंने फिर उनके चरण छुए और विदा ली।

ये दीनेषु दयालवः स्पृशति या नल्पोऽपि न श्रीमदो
व्यग्रा ये च परोपकारकरणे हृष्यन्ति ये याचिताः।
स्वस्थाः सन्ति च यौवनोन्मद महाव्याधिप्रकोपेऽपि ये
तैः स्तम्भैरिव सुस्थिरैः किल भर क्लान्ता धरा धार्यते ॥

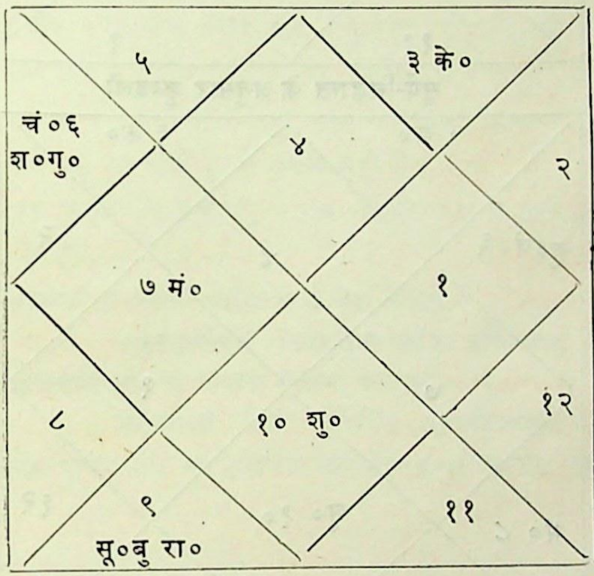
मालवीयजी की जन्म-कुण्डली

हिन्दू-विश्वविद्यालय के ज्योतिषाध्यापक पंडित रामव्यास शास्त्री ने मालवीयजी की जन्म-कुण्डली तैयार की है, उसकी

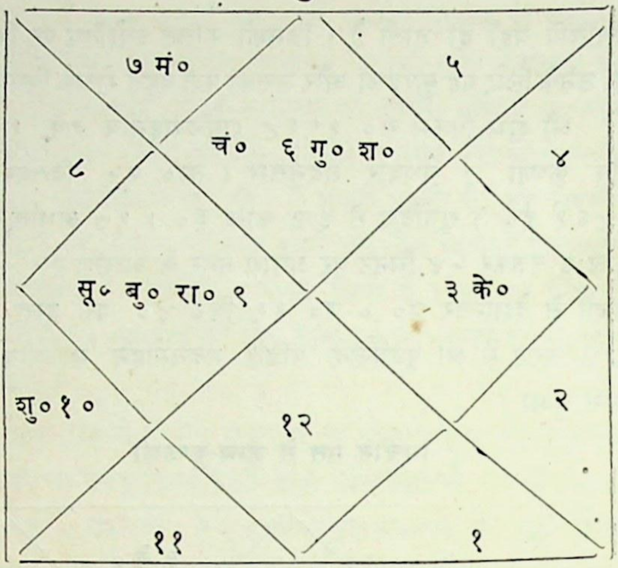
प्रतिलिपि यहाँ दी जाती है। जिनको फलित ज्योतिष पर विश्वास हो, उनके लिए यह कुण्डली और उसका फल बहुत रोचक विषय है :

श्री शुभ विक्रम सं० १९१८ शालिवाहनीय शक १७८३ पौष कृष्णा ८ बुधवार तदनुसार (ता० २५ दिसंबर, सन् १८६१ ई०) सूर्योदय से इष्ट काल ३०। १७ अर्थात् सायं-काल ६ बजकर ५४ मिनट पर प्रयाग नगर के अक्षांश २५°। २२′ काशी से देशान्तर घ० ० प० ११ वि० ४० पर हस्त नक्षत्र के ४ चरण में श्री पूज्यपाद पंडित मदनमोहन मालवीय का जन्म हुआ।

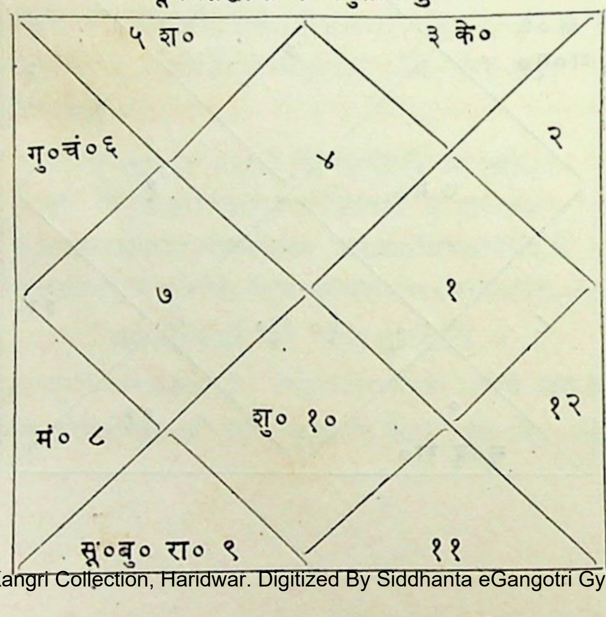
प्राचीन मत से जन्म-कुण्डली



राशि-कुण्डली



सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार कुण्डली



इस कुण्डली में फलित ज्योतिष के अनुसार गुरु चान्द्री योग अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि मनकारक चन्द्रमा, ज्ञानकारक गुरु दोनों का योग पराक्रम स्थान में है। इसी कारण धर्म में दृढ़ता, पराक्रमशीलता, दृढ़संकल्पता, आशामूलकता, परोपकारिता, पवित्रता तथा निर्भीकता आदि साहसमय कार्यों की पराकाष्ठा का योग होता है, षष्ट में सूर्य-राहु का योग प्रबल शत्रुहन्ता है, किन्तु मनोऽभिलषित सिद्धि में बुध के कारण आर्थिक न्यूनता पड़ जाती है, तथापि सूर्य के प्रबल होने के कारण बाधाओं के बीच से लक्ष्य तक पहुँच ही जाना होगा। एक बात विचित्र है, जो प्राचीन रीति के मतानुसार सिद्ध होती है। वह यह कि लोकमान्य तिलक की और इनकी कुंडली दोनों में लग्न गुरु चांद्री योग मंगल और शत्रुहन्ता योग इनकी बिलकुल समानता है। केवल लोकमान्य तिलक की कुंडली में गुरु चान्द्री योग को न्यून करनेवाला तथा कारावासादि कष्ट-विशेष देनेवाला राहु का योग है जो इसमें नहीं है।

इस कुंडली में उच्च गृह में गुरु चान्द्री योग है, इसी कारण जन्म से ही—

लसल्लक्ष्मी लीला वसतिरनिशं वेद विहित—
स्फुरद्धर्माचारः स्मितमुख पयोदः प्रतिदिनम्।
अतीवप्रख्यातः स जयति गुणानां जननभू—
मंदीयोऽयं देशो हरिरिव सदानंदजनकः॥

इस परम पवित्र मंत्र का उच्चारण अहर्निश हुआ करता रहेगा।

उपसंहार

इस प्रकार मेरा तीस दिन का यह तीर्थ-वास निर्विघ्न और आनन्द-पूर्वक समाप्त हुआ। तीर्थ-स्वरूप मालवीयजी की स्नेह-धारा में अवगाहन करने का जब-जब अवसर मुझे मिला है, तब-तब मैंने एक नये सुख का अनुभव किया है।

प्रेम पिरित कै रूप बखनइत तिले-तिले नूतुन होइ।

विद्यापति

इन तीस दिनों में मैंनें मालवीयजी के विराट् रूप का एक संक्षिप्त संस्करण तैयार कर दिया है। अब हम उनसे अपने जीवन का मन्दिर सजा सकते हैं।

मालवीयजी का सारा जीवन हमें केवल 'काम करो, काम करो' की ध्वनि से गूँजता हुआ दिखाई पड़ा है। किशोरावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक उन्होंनें स्वदेश और स्वजाति की उन्नति के लिए काम ही काम किये हैं।

वे ग़रीब कुल में उत्पन्न हुए थे। पिता ने पेट काटकर उन्हें अंग्रेज़ी पढ़ायी थी; अर्थ-कष्ट के कारण ४०) मासिक पर वे अध्यापक हुए थे और उसी समय वे कांग्रेस के मंच पर भी पहुँचे थे। पहुँचे ही नहीं, अपने भाषण से उन्होंने मिस्टर ह्यूम और बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे प्रगल्भ वक्ताओं पर अपना सिक्का जमा लिया था। आज से साठ वर्ष पहले स्कूल के एक नौजवान अध्यापक का यह काम क्या आश्चर्यजनक नहीं था? अध्यापक-वर्ग से शायद ही कोई इतना ऊँचा उठा होगा। अध्यापकी छोड़कर सम्पादक बने; सम्पादकी छोड़कर वकील बने और वकालत छोड़कर वे देश के लिए संन्यासी बने।

लगातार साठ वर्षों तक उन्होंने भारत और हिन्दू-जाति की जो सेवायें की हैं, उनका इतिहास कागज़ पर नहीं लिखा जा सकता; सुख-समृद्धि से सम्पन्न हिन्दू-जाति और स्वतन्त्र भारत ही कभी उनका सच्चा इतिहास होगा।

गत साठ वर्षों में देश की उन्नति का कोई भी ऐसा काम हमें दिखायी नहीं पड़ता, जिसमें वे आगे न खड़े दीखते हों। भगवान ने उनको अपरिमित बल दिया है। आइए, इस अनमोल हीरे के कुछ विशेष चमकदार पहलुओं पर अलग-अलग दृष्टि डालें :—

चरित्र-बल

मालवीयजी के जीवन में सबसे मनोहर वस्तु है उनका चरित्र। उनके चरित्र पर एक छोटा-सा भी धब्बा कहीं पड़ा हुआ दिखाई नहीं पड़ता। और यह चरित्र ही उनकी सफलता का मुख्य कारण हुआ है। उनके स्वभाव में दया और निरभिमानता बहुत है; इससे मित्र-शत्रु, अंग्रेज-हिन्दुस्तानी, अमीर-ग़रीब, जमींदार-किसान सभी से उनको प्रेम और विश्वास प्राप्त हुआ है।

द्वेष की मात्रा उनमें सदा से कम रही है। कांग्रेस में जब गरम और नरम दो दल हो गये, और एक दल का नेतृत्व तिलक करते थे और दूसरे का गोखले, उस हालत में भी लोकमान्य तिलक और मालवीयजी में वैसी ही मित्रता थी, जैसी गोखले से थी।

सी० कृष्ण स्वामी ऐयर और सी० विजयराघवाचार्य में नहीं पटती थी, पर दोनों मालवीयजी के मित्र थे।

सन् १९०६ में कांग्रेस में एक दल लाल (लाला लाजपतराय) बाल (बाल गंगाधर तिलक) और पाल (विपिनचन्द्र पाल) का था, जो गरम-दल कहलाता था। दूसरा दल गोखले और फ़ीरोज़शाह मेहता आदि का था, जो नरम-दल कहलाता था।

यद्यपि मालवीयजी भी नरम-दल ही के नेता प्रसिद्ध थे, पर इनके हृदय में देश-सेवा का उत्साह गरम-दलवालों जैसा था और उस दल के नेताओं के साथ इनकी आन्तरिक सहानुभूति रहती थी। दोनों दलों पर मालवीयजी के चरित्र-बल का प्रभाव था। मालवीय जी ने कांग्रेस के दोनों दलों में मेल कराने ही का प्रयत्न किया, कभी उनमें फूट बढ़ाने की चेष्टा नहीं की। इनके जीवन की यह बहुत बड़ी सफलता है, जो अन्य तत्कालीन नेताओं में दुर्लभ थी।

सर इब्राहीम रहमतुल्ला से इम्पीरियल कौंसिल में मालवीयजी-की पटती थी। सर इब्राहीम ने 'इंडस्ट्रियल कमीशन' बैठाने का प्रस्ताव रक्खा। मालवीयजी ने उसमें प्रजा का भी एक प्रतिनिधि रखने की राय दी। सरकार ने मान लिया। सेक्रेटरी ने नाम पूछा। सात-आठ नाम बताये गये। उसने एक भी नाम स्वीकार न करके मालवीयजी ही को उसका मेम्बर होने के लिए कहा। मालवीयजी-ने अस्वीकार किया। उसने फिर ज़ोर देकर लिखा, तब मालवीय-जी ने स्वीकार कर लिया। उसमें सरकार की तरफ़ से एक मेंबर सर राजेन्द्र मुकर्जी भी थे। सरकार की कृपा से बहुत नीचे से वे बहुत ऊँचे पहुँचे थे। इससे वे सदा सरकार ही के पक्ष में बोलते थे। कमीशन की बैठक हुई, उसकी रिपोर्ट सात-आठ बार लिखी गयी और फाड़ी गयी; अन्त में एक आखिरी रिपोर्ट तैयार करके मालवीयजी के सामने दस्तखत करने के लिए रक्खी गयी। मालवीयजी ने उसपर दस्तख़त करने से इन्कार किया और अपनी अलग रिपोर्ट लिखकर देने की बात कही। इसपर सर राजेन्द्र आपे से बाहर हो गये और उन्होंने मालवीयजी को बहुत सख्त-सुस्त कहा।

मालवीयजी चुपचाप सुनते रहे। उन्होंने अलग रिपोर्ट लिख कर दी और वह कमीशन की रिपोर्ट के साथ छपी भी। वह इतनी

अच्छी समझी गयी कि कलकत्ता विश्व-विद्यालय में एम० ए० के कोर्स में रक्खी गयी।

इसके बाद एक दिन मालवीयजी सर राजेन्द्र के घर गये। मालवीयजी को देखकर वह बहुत चकित हुए और कहने लगे—आप मेरे घर कैसे आये ? मैंने तो आपको बहुत बुरा-भला कहा था।

मालवीयजी ने कहा—देश के काम में हम सब एक हैं।

इस मुलाक़ात का परिणाम यह हुआ कि सर राजेन्द्र के हृदय में मालवीयजी के लिए बहुत सम्मान बढ़ गया और तबसे वह मालवीयजी के कामों में सदा सहायक होते रहे।

यह सब चमत्कार मालवीयजी के शुद्ध चरित्र और द्वेषरहित स्वभाव ही का समझना चाहिए।

जलियाँवाला हत्याकाण्ड के बाद मालवीयजी ने कौंसिल में लार्ड चेम्सफ़ोर्ड की बड़ी कड़ी आलोचना की थी; पर उसके बाद जब वे बनारस आये तो मालवीयजी ने उन्हें हिन्दू-विश्वविद्यालय देखने को बुलाया। वे आये और देखकर खुश हुए और उन्होंने कहा—आपने यह बड़े ही महत्त्व का काम किया है। लगे रहिएगा तो कभी यह संसार में एक बड़ी शान का विश्वविद्यालय हो जायगा।

सर मुडीमैन ने कौंसिल में मालवीयजी के लिए मधुर विवेकशील (Sweet reasonableness) शब्द का प्रयोग किया था और यह उस समय की बात है, जब मालवीयजी कांग्रेस के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे।

५०-६० वर्षों के जीवन में मालवीयजी की राजनीतिक विचार-धारा एक-सी रही है। उसमें परिवर्तन बहुत-ही कम हुआ है। वे हिन्दू-मुस्लिम-एकता के हृदय से समर्थक रहे और उसके लिये उद्योग भी करते रहे। साम्प्रदायिक और अलग चुनाव के वे सदा विरोधी रहे। लाजपतराय, केलकर, जयकर, अने, मुंजे और

मालवीयजी ने एकमत से यह सिद्धान्त कर लिया था कि अलग-अलग चुनाव न हो। संख्या के अनुसार मेंबरों की संख्या रख दी जाय और चुनाव स्वतन्त्र लोकमत के आधार पर हो।

हिन्दू-राजनीतिक

अग्रणी होने के साथ-साथ आचार-विचार और राजनीति में भारत के अन्य राजनीतिक नेताओं से मालवीयजी में एक मौलिक विशेषता और है। वह यह है कि वे हिन्दू हैं। कांग्रेस के अन्य नेता अपने को हिन्दुस्तानी कहते हैं और उनके हिन्दुस्तानी होने ही में कांग्रेस की सफलता है। मालवीयजी में हिन्दुत्व का अभिमान सबसे पहले है। वे हिन्दू-संस्कृति के प्रबल समर्थक और रक्षक हैं। उन्हें हिन्दू होने में आत्म-गौरव बोध होता है। जिस जाति में जन्म लेकर उन्होंने ज्ञान और विद्या के जन्मदाता ऋषियों, दिग्विजयी सम्राटों, धुरन्धर नीतिज्ञों, प्रगल्भ वक्ताओं, ग्रन्थकारों, योगियों, साधु-सन्तों और धर्म-प्रचारकों का प्रतिनिधित्व अनायास प्राप्त किया है, उसमें उनकी श्रद्धा का होना उनके व्यक्तित्व का बहुमूल्य अंश है। वे ब्राह्मण हैं। शास्त्र में निर्दिष्ट ब्राह्मण-धर्म का वे नियमित पालन करते हैं। ईश्वर के भक्त हैं। पूजा-पाठ करते हैं। यज्ञ करते-कराते हैं, विद्या-दान देते-दिलाते हैं और उपदेशक भेजकर जनता में धर्म की जाग्रति कराते हैं। पिछले हज़ारों वर्षों में ऐसा कोई ब्राह्मण नहीं दिखायी पड़ता, जिसे मालवीयजी के समकक्ष बैठाया जा सके। उनका विश्वास है कि हिन्दू-जाति अपनी वास्तविकता को प्राप्त कर लेगी, तो देश का संकट आपसे आप दूर हो जायगा। उनकी राजनीति में हिन्दू-संस्कृति का उद्धार भी शामिल है। इसीसे उसमें विचित्रता दिखायी पड़ती है।

मालवीयजी के हिन्दुत्व की सीमा संकुचित नहीं है। हिन्दुत्व की उनकी परिभाषा अतिव्यापक है। वह किसी खास विचार

का वाचक नहीं, राष्ट्र विशेष का वाचक है; जिसमें मूर्ति-पूजक ही हिन्दू नहीं, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिख और बौद्ध भी हिन्दू हैं; जिसमें वेदानुयायी आस्तिक की तरह घोर नास्तिक भी अपने को हिन्दू कहता है; अघोर-पन्थी औघड़ जो मुर्दा खाते हैं वे भी हिन्दू हैं और श्री सम्प्रदायवाले आचारी भी हिन्दू हैं; जिसमें उन अछूतों को भी हिन्दू होने का गर्व होता है, जिनको छूकर ब्राह्मण स्नान करते हैं। जिसमें बलख-बुखारा, ब्रह्मा और लंका से आकर काशी या प्रयाग में गंगा-स्नान करके अपने को कृतार्थ माननेवाला भी हिन्दू हैं और तीर्थ-स्थान में रहकर पर्व के दिन भी गंगाजी में स्नान न करनेवाला भी हिन्दू है। इनके सिवा जिनमें भाषा-भेद, आचार-भेद, वेष-भूषा-भेद आदि अन्य कितनी ही विभिन्नतायें हैं, पर सबकी मूल संस्कृति एक है। सब कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं, सब गोरक्षा चाहते हैं और सब राम और कृष्ण आदि हिन्दू-देवताओं के उपासक हैं। इस तरह की एकता में अनेकता और अनेकता में एकता भारतवर्ष और हिन्दू-जाति की खास विलक्षणता है। मालवीयजी उसी बहु-मुखी हिन्दू-जाति के नेता हैं। इसीसे उसके हरएक मुख को आहार पहुँचाने के लिए उनके प्रयत्न भी बहुमुखी हैं।

मालवीयजी ने युवावस्था से लेकर अबतक जितने और जितने भिन्न प्रकार के कामों को हाथ में ले रक्खा था और हरेक में उन्होंने अपनी जितनी शक्ति लगा दी, सबकी जानकारी प्राप्त कर लेने पर यह दिखाई पड़ेगा कि राजनीतिक क्षेत्र में जितनी शक्ति उन्होंने लगायी है, वह कम नहीं; बल्कि आश्चर्यजनक है। वृक्ष का जो तना सैकड़ों शाखाओं को सँभाल रहा है, उसकी शक्ति का निर्णय किसी एक शाखा को लेकर नहीं किया जा सकता।

और कार्य करने की अपनी-अपनी पद्धति भी राजनीतिक

मतभेद का एक कारण है। हरएक नेता का ज्ञान, धारणा, निर्णय, प्रयोग और प्रयोग के पीछे लगी हुई शक्ति अलग-अलग होती है। और सबके पीछे उसका निज का स्वभाव लगा होता है। गांधीजी स्वभाव ही से अहिंसावादी हैं, जवाहरलालजी स्वभाव से अहिंसावादी नहीं हैं। सरदार पटेल भी स्वभाव से अहिंसावादी नहीं हैं और न तिलक महाराज ही थे। इसी प्रकार मालवीयजी अहिंसा-प्रेमी तो हैं, पर वादी नहीं। कांग्रेस के प्रारम्भ से लेकर अबतक देश के प्रत्येक नेता का लक्ष्य यद्यपि एक ही रहा है; अर्थात् भारतीय स्वराज्य। पर स्वराज्य तक पहुँचनें के लिए सबके रास्ते भिन्न रहे हैं, क्योंकि सबके स्वभाव और शक्ति-प्रयोग में भिन्नता थी। मालवीयजी के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। वे स्वभाव से उग्र राजनीतिक नहीं हैं। अपने विशाल अनुभव, ज्ञान, शक्ति और संस्कृति को लेकर उन्होंने अपना जो कार्य-पथ निश्चित किया, उसी पर वे न्याय, नीति और धर्म की मर्यादा को सँभाले हुए चलते हैं। उनका विश्वास है कि जनता में अभी राजनीतिक ज्ञान, दृढ़ इच्छा-शक्ति और संगठन का बल कम है। जबतक उसका अन्तर्बल न बढ़ेगा, तबतक वे उसे लेकर विद्युद्वेग से दौड़ नहीं सकते। इससे उनका सारा प्रयत्न अबतक जनता का अन्तर्बल बढ़ाने ही में लगा रहा है। भारत के राज-नीतिक रंग-मंच पर यद्यपि हमारे अन्य नेता सामने से आते दिखायी पड़ते हैं, और मालवीयजी बग़ल के द्वार से; पर अपनें साथ वे भविष्य के लिए प्रामाणिक युवकों का, जो आगे चलकर नेता बनेंगे, एक बड़ा दल भी ला रहे हैं। क्या यह साधारण महत्त्व की बात है?

जनता में मालवीयजी की शक्ति भीतर-भीतर प्रवेश करने-वाले उस जल की तरह है जो मिट्टी के कण-कण में चुपचाप व्याप्त होता जा रहा है और सब कणों को एक होकर ठोस बनने को

प्रेरित कर रहा है। वह उस धारा के समान नहीं है, जो आयी और वह गयी और मिट्टी के कण कुछ समय तक गीले रहकर फिर सूख गये और बिखर गये। अतएव मालवीयजी का जीवन अपना खास महत्त्व रखता है, उसकी तुलना किसी अन्य नेता के जीवन से की ही नहीं जा सकती।

संयम

मालवीयजी ने बड़ा संयमी जीवन बिताया है। खान-पान, पोशाक, मधुर भाषण और मर्यादा-पालन के नियमों में उन्होंने जीवन भर जैसी दृढ़ता दिखायी है, वैसी ही मन और इंद्रियों के संघर्ष में उन्होंने अपने भीतर भी विजय प्राप्त की है।

एक बार वे घनश्यामदासजी बिड़ला से कह रहे थे कि उन्होंने गोविन्दजी (मालवीयजी के चौथे पुत्र) के जन्म के बाद से अखंडित ब्रह्मचर्य का पालन किया है। कभी वे स्त्री के कमरे में बैठे भी हैं तो इस स्थिति में नहीं बैठे हैं कि बच्चे वहाँ न आ सकें या आयें तो उन्हें संकोच हो।

दयालुता

मालवीयजी के दयालु स्वभाव की बहुत-सी कहानियाँ सुनने को मिलीं और सब एक-से-एक सरस हैं।

जहाँ किसी के आँसू देखे या किसी का हाहाकार सुना कि वे द्रवित हुए।

पंडित मधुमंगल मिश्र ने एक घटना लिखी है। उसका सारांश यह है :—

प्रयाग में घंटाघर के पास एक भिखारिन किसी पीड़ा से हाय-हाय कर रही थी। मालवीयजी उसके पास से गुज़र रहे थे। उसका हाहाकार सुनकर रुक गये। उससे उन्होंने पूछा—क्या दर्द कर रहा है?

वह बोल न सकी; तब उसके पास बैठकर वे पूछने लगे—कभी दवा करायी है ?

वह फिर न बोली और उनकी ओर ताकती रही। तब उन्होंने मिश्रजी से कहा--एक इक्का लाओ और इसे अस्पताल पहुँचाओ। उसे इक्के पर बिठलाकर इक्केवाले से उन्होंने कहा--मेरे पीछे आओ। वे अस्पताल की ओर बढ़े और उस भिखारिन को अस्पताल पहुँचाकर तब उनको शान्ति मिली।

स्वर्गीय पंडित शिवराम वैद्य मालवीयजी के बालपन के मित्र थे। उन्होंने मालवीयजी के कुछ संस्मरण लिखे हैं। उन्होंने लिखा है कि एक दिन मालवीयजी बड़ी तेजी से उनके घर आये और कहने लगे कि एक कुत्ते के कान के पास एक बड़ा घाव है, उसकी दवा बताइए। दोनों डाक्टर अविनाश के पास गये। डाक्टर अविनाश ने कोई दवा बता दी। वहाँ से मालवीयजी कुत्ते के पास गये। कुत्ता मक्खियों के डर से एक टट्टर की आड़ में बैठा था। मालवीयजी ने एक बाँस में कपड़ा लपेटकर उसे दवा से तर किया और दूरसे कुत्ते के घाव में दवा लगाना शुरू किया। कुत्ता गुर्राता और भूँकता था। दवा लगाने पर कुत्ते को आराम मिला और वह आराम से सो गया।

मालवीयजी की दानशीलता

मालवीयजी के स्वभाव में दानशीलता का गुण भी बहुत है। गत दो-तीन महीनों में मेरी जानकारी में शायद ही कोई दिन खाली गया होगा जब दो-चार व्यक्ति उनसे आर्थिक सहायता न ले गये हों।

हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा भी उनका एक प्रिय विषय है। मानस-शास्त्र के कुछ विशेषज्ञ लोग आँसू के बूँद दिखलाकर और विश्वविद्यालय की प्रशंसा सुनाकर मालवीयजी से स्वार्थ-सिद्धि करते हुए भी सुने गये हैं।

सन् १९३२ या ३३ की बात है। उन दिनों मालवीयजी सवेरे ६॥ या सात बजे के लगभग पैदल टहलने निकलते थे और साथ ही साथ विश्वविद्यालय के होस्टलों की सफाई वगैरह का निरीक्षण भी कर लिया करते थे। लड़कों से भी मिलते और कभी-कभी उनके कमरों में जाकर उनकी रहन-सहन पर भी निगाह डालते थे; और घंटे-डेढ़ घंटे बाद वापस आते थे।

एक दिन बँगले से जैसे ही निकले, एक बुढ़िया गोबर बटोरकर उसे सिर पर उठाये हुए उसी ओर जाती हुई मिली, जिधर मालवीयजी को जाना था। मालवीयजी ने रास्ते में उससे देहाती बोली में बातचीत शुरू की—

"तोहरा घर कहाँ है ?"

"सुन्दरपुर"

"घर में का काम होथै ?"

"दुइ ठें लरिका हवैं, भइया ! उनहिन कछु मेहनत-मजूरी कर लेथैं। हम इह गोबर-ओबर बिनि कै गोहरी बनाइके बेंचि लेई थैं। पहिले हमार घर त इही मँ रहल है। बकी मलवीजी ई कुल लेइ लिहलेन।

"खेत-ओत नाहीं है ?

"नाइँ भइया ! खेती-वारी हमरे कछु नाहीं न।"

दोनों दूर तक बात करते चले गये। इतने में ठाकुर शिवधनी सिंह, जो पिछड़ गये थे, पहुँच गये, तबतक बातें समाप्त हो चुकी थीं। मालवीयजी ने करुणार्द्र होकर उनसे उसे ५) दिलाये।

सेवा-भाव

मालवीयजी में सेवा-भाव स्वाभाविक है। गरीबों का दुःख वे जानते हैं। सन् १९०० में प्रयाग में बड़े जोरों का प्लेग का प्रकोप हुआ। उस समय उन्होंने प्रयाग-निवासियों, खासकर गरीबों की

बड़ी सेवा की। सबके लिये झोंपड़े बनवाये, अपने जीवन का मोह छोड़कर रोग-ग्रस्त मुहल्लों में घूम-घूमकर उन्होंने बीमारों की दवा-दारू की, सहायता और सान्त्वना देते फिरे, यहाँ तक कि स्वयं बीमार होगये; पर बीमारी से ज़रा अवकाश मिला कि फिर उसी काम में लग गये।

स्व० पंडित बालकृष्ण भट्ट ('हिन्दी-प्रदीप' के सम्पादक) मालवीयजी पर बड़ा स्नेह रखते थे। एक बार वे बीमार पड़े। मालवीयजी ने उनकी सेवा एक कुटुम्बी से भी बढ़कर की। वे स्वयं हाँड़ी लेकर पेशाब कराते और फेंकते थे।

पंडित रामनारायण मिश्र ने अपने संस्मरण में एक घटना का ज़िक्र इस प्रकार किया है:—

'एक दिन रात के एक बजे श्री मालवीयजी हिन्दू स्कूल के बोर्डिंग हाउस में, जिसमें मैं रहता हूँ, पधारे और तीन-चार बड़ी उम्र के लड़कों को अपने साथ मोटर पर ले गये और एक घंटे के अन्दर उनको स्वयं लाकर पहुँचा गये। पता लगा कि जब बनारस स्टेशन पर उतरे थे, उन्होंने देखा कि बच्चेवाली एक स्त्री के पीछे दो बदमाश लगे हैं और वह उनसे बचने का प्रयत्न कर रही है। वह स्त्री के साथ हो लिये और जब वह इक्के पर बैठ गयी, तब उन्होंने उसका पता जान लिया। बोर्डिंग-हाउस के लड़कों को अपने साथ ले जाकर उनको खोजवाँ में उस स्त्री का पता लगाने के लिये छोड़ दिया। लड़कों ने पता लगा लिया। पहले तो उस स्त्री ने डरकर दर्वाजा बन्द कर लिया और समझा कि वही बदमाश उसके पीछे पड़े हैं; परन्तु जब उसको मालूम हुआ कि श्रीमालवीयजी ही ने उसकी रक्षा की है और वे यह जानने के लिए बाहर खड़े हैं कि वह घर पहुँच गयी अथवा नहीं; तब वह प्रसन्न हो गयी और उसने तुरन्त दरवाज़ा खोल दिया।"

मिश्रजी ने एक दूसरी घटना और भी लिखी है :--

"गोखले के सभापतित्व में काशी में, कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। उसके साथ 'सोशल कान्फ्रेंस' की बैठक भी होनेवाली थी, जिसके प्रधान मन्त्री बम्बई हाईकोर्ट के जज सर नारायण चन्दावरकर थे। उनके ठहरने का प्रबन्ध राजामुंशी माधवलाल ने अपने ऊपर लिया था। शाम को चन्दावरकर का तार मिला कि बड़े सबेरे चार बजे के लगभग वे काशी पहुँचेंगे। पंडित रामनारायण मिश्र राजा साहब को सूचना देने गये; पर वे नहीं मिले। उनके बगीचे में गोखले ठहरे हुए थे। उनसे कहा गया कि वे उन्हें अपने पास ठहरा लें। गोखले ने कहा--उनको पूरा मकान चाहिए। वे रानाडे नहीं हैं कि थोड़ी जगह में गुज़र कर लेंगे।

मिश्रजी दूसरे दिन बड़े सबेरे राजा साहब के पास फिर गये। वे सो रहे थे। संयोग से उन्हें मालवीयजी दिखायी पड़े, जो शौच से निवृत्त होकर आ रहे थे। मिश्रजी ने उन्हें अपनी मनोव्यथा कह सुनायी। मालवीयजी ने कहा--सर नारायण को इसी खेमे में ले आओ।

यह कहकर उन्होंने तत्काल अपना सामान उठवाकर और अपने हाथों से उठाकर भी खेमा खाली कर दिया। मालवीयजी ने उस खेमे से दूर दो पेड़ों के बीच परदा खड़ाकर अपना सामान रखवा लिया और वहीं वे रहे भी।"

इलाहाबाद में सन् १९१८ में कुंभ का मेला हुआ, उसमें प्रयाग सेवा-समिति ने मेले के यात्रियों को बड़ी सहायता पहुँचायी। मालवीयजी उस समिति के सभापति थे और पंडित हृदयनाथ कुँजरू मंत्री। यही समिति उसी वर्ष 'अखिल भारतीय सेवा समिति ब्वाय स्काउट एसोसियेशन' में परिणत हो गयी। मालवीयजी उसके चीफ स्काउट बने। अब यह संस्था देश भर में फैल गयी

है और इससे जनता की नियमित रूप से सेवा हो रही है।

सेवा-समिति का यह मोटो मालवीयजी ही का चुना हुआ है:—

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

पंजाब-हत्याकांड के बाद मालवीयजी ने सेवा-समिति की ओर से ५०००) हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के घरवालों को, जिन्हें कष्ट पहुँचा था, बाँटा। इसी समिति की ओर से २५०००) पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी के चार्ज में पंजाब में गाँव-गाँव बाँटा गया था।

१५ जनवरी, १९३४ को बिहार में भयंकर भूकम्प हुआ। मालवीयजी ने बिहार पहुँचकर भूकम्प-पीड़ितों को बड़ी सहायता पहुँचायी और उनके लिए बहुत-सा रुपया एकत्र करके भेजा।

एक बार प्रयाग में कुंभ के अवसर पर, त्रिवेणी तट पर, सेवा-समिति का कैम्प था। स्वयं-सेवक बालू पर बिछौने बिछाकर सोये थे। मालवीयजी ने भी उसी कैम्प में डेरा डाला। वे भी बालू पर बिछौना बिछाकर बैठ गये। लोग चारपाई ले आये। लेकिन मालवीयजी ने यह कहकर कि "स्वयं-सेवक तो सोयें जमीन पर और उनका सभापति सोये चारपाई पर, यह नहीं हो सकता" चारपाई पर बैठने से इन्कार कर दिया।

पंजाब में 'मार्शल-लॉ' की समाप्ति पर मालवीयजी इलाहाबाद से पंजाब जा रहे थे। पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी भी साथ थे। तिवारीजी ने मालवीयजी को यह दोहा सुनाया:—

मरि जाऊँ माँगूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारने, मोंहि न आवै लाज।।

दोहे के भाव पर मालवीयजी मुग्ध हो गये। उन्होंने उसे पाँच-सात

चार सुना और फिर उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

उसी यात्रा की एक दूसरी घटना पंडित वेंकटेशनारायण ने यह बतायी:--

जून का महीना था। मालवीयजी गुजरानवाला का खालसा कालेज देखने गये, जिसपर मार्शल-लॉ के दिनों में बम फेंके गये थे। पंडित मोतीलालजी, स्वामी श्रद्धानन्दजी और पंडित वेंकटेश-नारायण तिवारीजी भी साथ थे। पीछे-पीछे एल लम्बी भीड़ भी थी। प्राय: सबके पास छाते थे, तेवारीजी बिना छाते के थे।

पंडित मोतीलालजी ने तिवारीजी की ओर देखकर कहा—क्या तिवारीजी, आप खुदकुशी करने पर आमादा हैं?

स्वामीजी ने कहा—सवा रुपये का तो मिलता है, एक खरीद क्यों नहीं लेते?

मालवीयजी ने भी देखा। वे भीड़ में दाहिने से खसकते-खसकते बायें, जिधर तिवारीजी थे, आये और छाते की छाया में तिवारीजी को लेकर चलने लगे। तिवारीजी नें हाथ जोड़कर मूक प्रार्थना की कि वे ऐसा न करें। इसपर मालवीयजी नें कहा—देखो, मैं सेवा-समिति का सभापति हूँ; पर काम तो तुम करते हो, क्या मैं तुम्हारी सेवा भी न करूँ?

तिवारीजी का कहना है कि इस घटना में तीनों नेताओं के रूप अलग-अलग व्यक्त हो रहे हैं।

पंजाब के सरकारी अफ़सर सेवा-समिति के काम में बाधक न हों, इसलिए पंजाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर मेकलेगन से मिलानें के लिए मालवीयजी तिवारीजी को शिमला ले गये। वहाँ पंडित मोहनलाल बैरिस्टर की कोठी में मालवीयजी ठहरे थे। तिवारीजी की आदत रात में पैर सिकोड़कर सोने की है। मालवीयजी रात में पेशाब करनें उठे। तिवारीजी को सिकुड़ा हुआ देखकर उन्होंने

समझा कि उनको सर्दी लग रही है। उनके ऊपर मालवीयजी ने अपना कम्बल ओढ़ा दिया। पर वे सिकुड़े ही रहे। दूसरी बार मालवीयजी फिर पेशाब करने निकले तो एक कम्बल और ओढ़ा गये। तीसरी बार तीसरा कम्बल ओढ़ा गये। मालवीयजी के पास अब एक भी कम्बल नहीं रह गया और सरदी खाते हुए बाकी रात उन्होंने बैठे-ही-बैठे बिता दी।

सबेरे उठकर तिवारीजी ने नौकर से पूछा—ये कम्बल किसने ओढ़ाये ?

नौकर ने कहा—बाबूजी ने ओढ़ाये होंगे।

पर मालवीयजी ने इस बात का कभी जिक्र भी नहीं किया।

क्षमा

मालवीयजी के स्वभाव से सहनशीलता इतनी है कि इस कोटि के व्यक्तियों में शायद ही किसी में इतनी देखने को मिले। अपने निम्नस्थ कर्मचारियों पर क्रोध करते मैंने उन्हें कभी देखा ही नहीं। क्षमा बहुत है। किसी कारण से कभी क्रोध आता है तो देर तक, जबतक, क्रोध पच नहीं जाता, चुप हो जाते हैं। आदमी की पहचान उनको बहुत है। उद्धत स्वभाव के आदमियों से भी संघर्ष बचाकर, सावधानी से, वे काम लेते रहते हैं।

कुछ दिन हुए, उनके पास एक टाइपिस्ट महाशय थे। नाम था पंडित लालताप्रसाद। आफ़िस के काम में बड़े साफ़-सुथरे और सच्चे आदमी थे। दो पैसे का स्टाम्प खर्च करते तो बाक़ायदा उसका बिल बनाते और उसपर मालवीयजी का हस्ताक्षर भी करा लेते थे। एक घंटे की भी छुट्टी प्रार्थना-पत्र लिखकर ही लेते थे और ठीक समय पर आ भी जाते थे। बड़े क्रोधी और कुछ अंशों तक झक्की और सनकी भी थे।

श्रीघनश्यामदास बिड़ला ने मुझे उनकी एक घटना सुनायी।

वे एक दिन मालवीयजी के पास बैठे थे। मालयवीजी ने उसी टाइपिस्ट को एक ज़रूरी काम के लिए नौकर भेजकर बुलाया। टाइपिस्ट ने नौकर से कहा--चलो, आते हैं। और फिर देर तक वह नहीं आये। मालवीयजी ने नौकर को फिर भेजा। अबकी बार नौकर यह जवाब लाया कि पण्डित मालवीयजी को कह दो कि अभी नहीं आयेंगे।

बिड़लाजी के लिए यह दिलचस्प बात थी; क्योंकि वे सम्भवतः खुद अपने टाइपिस्ट की ऐसी अवज्ञा नहीं सहन कर सकते। वे ज़रा कौतूहल से देखने लगे कि अब आगे क्या होता है।

थोड़ी देर बाद टाइपिस्ट महाशय आये। मालवीयजी ने पूछा क्यों जी ! कल कुछ भाँग पी ली थी क्या ?

"भाँग तो नहीं पी थी। रात में नींद नहीं आयी थी, सो रहा था।"

"नींद नहीं आयी ?"

मालवीयजी ने डाँटकर कहा—जाओ, सो जाओ।

बिड़लाजी कहते हैं कि मैं चकित हो गया।

मैंने यह घटना सुनकर मालवीयजी के निकटवर्तियों से उक्त टाइपिस्ट के बारे में पूछ-ताछ की तो उसकी कितनी ही मनोरंजक कहानियाँ और भी सुनने को मिलीं।

एक बार मालवीयजी एक महाराजा के मेहमान हुए। टाइपिस्ट साथ था। मालवीयजी का कैम्प महल के पास ही था। टाइपिस्ट दिन में एक ही बार, चार बजे के लगभग, अपनें हाथ से भोजन बनाता और खाता था। उसने कैम्प के बिलकुल सामने अपना चूल्हा जलाया और खाना बनाना शुरू किया। लकड़ी जलती न थी; धुएँ से सारा कैम्प भर गया। उसी समय मालवीयजी आ गये। उन्होंने कहा—भाई ! इतना धुवाँ फैला

दिया, कहीं एक किनारे बना लिया होता।

टाइपिस्ट ने कहा—आप तो महल में रहते हैं; आपको क्या मालूम कि अपने हाथ से खाना बनाकर खाने में कितना कष्ट होता है ! मैं तो चूल्हे की आँच सह रहा हूँ, आप धुआँ भी नहीं सह सकते।

मालवीयजी चुपचाप चले गये।

एक बार गोविन्दजी (मालवीयजी के चतुर्थ पुत्र) उक्त टाइपिस्ट को बुलाने गये। उस वक्त वह खाना बना रहा था। गोविन्दजी जूता पहने हुए उस स्थान तक चले गये, जहाँ उसने पानी रख छोड़ा था। टाइपिस्ट उस समय तो कुछ नहीं बोला; लेकिन जब मालवीयजी के पास आया, तब अपना इस्तीफ़ा टाइप करके साथ लाया। इस्तीफ़े में कोई खास कारण उसने नहीं लिखा था।

मालवीयजी ने दो-तीन बार पूछा, तब उसने आवेश में आकर कहा—साहब, मैं आपके यहाँ अपना धर्म बिगाड़ने नहीं आया हूँ। गोविन्दजी जूता पहनकर मेरी रसोई के पास चले गये।

मालवीयजी ने कहा—लड़के हैं, भूल से चले गये होंगे, माफ़ कर दो, मैं समझा दूँगा।

टाइपिस्ट ने कहा—लड़के आपके हैं, आप उनकी सुनेंगे कि मेरी। मैं अब यहाँ नहीं रहूँगा।

मालवीयजी ने कई बार उसको शान्त भाव से समझाया, पर वह मालवीयजी के पास इस्तीफा छोड़कर चला ही गया।

महीने दो महीने के बाद वह फिर आया और मालवीयजी ने उसे फिर नौकर रख लिया। इसी तरह आठ-दस बार वह छोड़-छोड़कर गया और दो-चार महीने तक घूम-फिर कर अपनी बेकारी का दुःख लिए हुए लौटा और मालवीयजी ने कभी उसे रखने से इन्कार नहीं किया। आख़िरी बार वह नौकरी छोड़कर गया तो

कुछ दिनों बाद ख़बर आयी कि वह रायबरेली में बीमार पड़ा है। मालवीयजी पाँच-छः महीने तक उसके पास कुछ रुपया मासिक भेजवाते रहे; और डाक्टर की फीस और दवा का दाम भी देते रहे। अन्त में वह पागल होकर मर ही गया।

सत्य-निष्ठा

व्यवहार में वे सत्य का कितना ध्यान रखते हैं, इसे आगे की घटना में देखिए। ठाकुर शिवधनीसिंह की बताई हुई, १९२९ की बात उन्हींकी जबानी सुनिये—

''एसेम्ब्ली का शारदीय अधिवेशन दिल्ली में हो रहा था। मालवीयजी उसमें सम्मिलित होने के लिए रवाना हुए। प्रयाग से दिल्ली का सेकेंड क्लास का रिटर्न टिकट लिया गया। प्रयाग में मकर-संक्रान्ति के लिए पुनः शीघ्र ही वापस आना था। ९ दिन बाद दिल्ली से चलते समय मैंने उनका टिकट, जो मेरे पास था, देखा तो उसमें आठ दिन के अन्दर वापस आने को लिखा था।

''गाड़ी में बैठने पर मैंने महाराज का ध्यान इसकी तरफ दिलाया। सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला और बाबा राघवदासजी भी उसी ट्रेन से आ रहे थे। सबने टिकट देखा और गिनती की। ९ दिन हो गये थे। महाराजने स्वयं भी कई बार गिना और ९ दिन ठीक पाये। तब उन्होंने कहा कि टिकट में कुछ ग़लती ज़रूर मालूम होती है, तुम इलाहाबाद पहुँचकर स्टेशन मास्टर को दिखाना।

''मैं अपने डिब्बे में जा बैठा। रात को लगभग १२ बजे मथुरा स्टेशन पर बाबा राघवदास को भेजकर महाराज ने कहलाया कि दूसरा टिकट खरीद लो। मैंने मथुरा से इलाहाबाद का रिटर्न टिकट ख़रीदा। इलाहाबाद पहुँचकर पहला टिकट स्टेशन मास्टर को दिखाया, उन्होंने देखतेही उसे ८ दिन के बजाय १८ दिन का बना दिया।

"महाराज मथुरावाले टिकट से दिल्ली गये। फिर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के कोषोत्सव में महाराज को सम्मिलित होना था, इसलिए पुराने टिकट से दिल्ली से बनारस रवाना हुए।

"स्टेशन पर पहुँचकर महाराज ने आज्ञा दी कि मथुरा तक का सेकेंड क्लास का एक टिकट ले लो। मेरी हिम्मत नहीं पड़ी कि उनसे पूछूँ कि किसके लिए? मैंने टिकट खरीद लिया और पंडित रमाकान्त मालवीय और पंडित देवरत्न शर्मा (मंत्री, हिन्दू महा-सभा) से, जो महाराज को पहुँचाने स्टेशन पर आये थे, पूछा कि आप लोगों में से किसी को मथुरा चलना है? उन लोगों ने बत-लाया——नहीं। तब मैंने पंडित रमाकान्तजी से यह जानना चाहा कि यह मथुरा तक का सेकेंड क्लास का टिकट क्यों लिया गया? उन्होंने कहा—हमें नहीं मालूम।

"हम लोगों की बात महाराज सुन रहे थे। जब गाड़ी चलने लगी तो महाराज ने पूछा कि मथुरा तक का टिकट लाये हो? मैंने कहा—जी हाँ। उन्होंने कहा कि उसे बक्स में रख दो।

"मेरी समझ में यह पहेली आती ही न थी। जानने की उत्सु-कता भी अधिक हो रही थी। थोड़ी देर बाद महाराज स्वयं कहने लगे—इसे किसी के जाने के लिए नहीं मँगाया है। पिछली बार तुमने मथुरा से इलाहाबाद का टिकट खरीदा था तो दिल्ली से मथुरा तक तो मुफ्त में सफर किया। रेलवे का गद्दा, पानी, लाइट वगैरह इस्तेमाल किया, उसका नुकसान हुआ कि नहीं? इसी-लिए यह टिकट मँगवाया है।"

निस्पृहता

लोभ का त्याग मालवीयजी के जीवन का एक महान् त्याग है। पैसे के भी मुँह होता है। जिनके पास पैसा पहुँचता है, वह यदि संयमी होता है तो पैसे को खाता है, और यदि वह असाव-

धान हुआ तो पैसा उसको खाने लगता है। आलस्य, अनुदारता, ईर्ष्या, विलासिता, अशिष्टता, अति लोभ, कीर्ति से विरक्ति आदि लक्षण उस रोगी के हैं, जिसको पैसा खारहा होता है। पैसा जब आदमी को खाना शुरू कर देता है, तब उसे चुका कर हीं छोड़ता है, उसके मुँह से उबरना बहुत ही कठिन है।

मालवीयजी के हाथ में लाखों नहीं, करोड़ों रुपये आये, पर कभी उन्होंने उसका एक पैसा भी अपने निजी काम में खर्च नहीं होने दिया। पैसे का मुँह उन्होंने एक क्षण के लिए भी खुलने नहीं दिया कि वह उनपर मुँह मार सकता।

उनके निजी खर्च के लिए भी किसी राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार ने रुपये दिये, तो उसे भी उन्होंने संस्थाओं में जमा करा दिया। मेरे सामने की बात है कि एक धनी घर की स्त्री ने १३००) लाकर दिये। मालवीयजी ने एक घंटे के अन्दर उन रुपयों को दो संस्थाओं के खातों में जमा करा दिया।

अपने लिए उनमें लोभ बहुत कम है, शायद नहीं ही होगा। उनका निजी खर्च अब बहुत ही कम रह गया है। उससे जो बचता है वह सब दान-दक्षिणा (सहायता) में चला जाता है। जमा तो वे एक पाई भी नहीं करते।

एक बार महाराजा जोधपुर हिन्दू-विश्वविद्यालय देखने और मालवीयजी से मिलने आये। मिलकर लौटे तो प्रयाग पहुँचने पर उनको किसी से मालूम हुआ कि २५ दिसम्बर को मालवीयजी की वर्ष-गाँठ है। महाराजा ने भेंट-स्वरूप ५०००) भेजे। मालवीयजी ने उसी वक्त उसे धर्म-ग्रन्थों के प्रकाशन-विभाग को दे दिया।

हिन्दू-विश्वविद्यालय के दौरे में राजा-महाराजाओं और रईसों ने उनको चंदे के सिवा निजी खर्च के लिए जो कुछ अलग

रक़में दी थीं, सब को मालवीयजी ने विश्व-विद्यालय के कोष में जमा करा दिया। अब भी लोग जो कुछ भेंट-स्वरूप दे जाते हैं, उसे वे बराबर विश्वविद्यालय के कोष में भेज देते हैं।

१९३४ में मालवीयजी की धर्मपत्नी पशुपतिनाथ महादेव के दर्शन के लिए नेपाल गयीं। वहाँ वे नेपाल राज्य की मेहमान रहीं। चलते समय महारानी ने उन्हें कस्तूरी की एक सुन्दर और क़ीमती माला भेंट की। श्रीमती मालवीया जब लौटकर घर आयीं तो मालवीयजी को उन्होंने माला दिखलायी। मालवीयजी ने उसी वक्त उसे लेकर विश्वविद्यालय के कोष में जमा करा दिया।

उदारता

उनकी दानशीलता का दृश्य तो मैं देखता ही था। रोज़ कोई न कोई ग़रीब विद्यार्थी या सहायता का पात्र कोई गृहस्थ उनसे कुछ-न-कुछ ले ही जाता है। उनकी उदारता की पुरानी कहानियाँ भी मुझे सुनने को मिलीं, उनमें से डाक्टर मंगलसिंह की बतायी हुई एक कहानी उन्हीं के शब्दों में यह है :—

'१९२६ या २७ की बात है। मालवीयजी बंगलोर से बंबई आये और बंबई से कलकत्ते। मैं साथ था। रुपये-पैसे का हिसाब मेरे पास था। कलकत्ते में एक सज्जन जापानी कुश्ती 'जुजुत्सु' पर एक पुस्तक लिखकर लाये। उसे छपाने के लिए उन्हें धन की आवश्यकता थी। मालवीयजी को व्यायाम और कुश्ती से बड़ा प्रेम है। उन्होंने उस पुस्तक को देखा और बहुत पसन्द किया। फिर उसके लेखक को २००) देकर कहा—इसे तो ले जाकर अपने निजी खर्च में लाइए। कभी फिर आइएगा तो पुस्तक को छपाने के लिए रुपया अलग देंगे।'

वसुधैव कुटुम्बकम्

१९३२ या ३३ में काशी में हिन्दू-मुसलमानों में बड़े ज़ोर

का दंगा हुआ। हिन्दू-मुसलमान दोनों अपने-अपने महल्लों और घरों में से डर के मारे बहुत कम बाहर निकलते थे। जो नित्य-कमाने और खानेवाले थे, उनकी दशा बड़ी ही शोचनीय थी।

हिन्दुओं को सहायता पहुँचाने के लिए एक कमेटी बनी, जिसमें मालवीयजी और बाबू शिवप्रसाद गुप्त आदि काशी के प्रायः सभी प्रमुख व्यक्ति थे। किसी ने मालवीयजी से कहा—मुसमानी महल्लों में मुसलमान भूखों मर रहे हैं। मालवीयजी के कोमल हृदय को उनका दुःख असह्य होने लगा। उन्होंने कहा-- उनके घरों में भी खाने का सामान भेजा जाय।

कुछ लोगों ने इसका विरोध किया और कहा—उनको मरने दीजिए, इतना पैसा कहाँ से आयेगा ?

मालवीयजी ने बाबू शिवप्रसादजी को कहा—निस्सहाय मुसलमानों को भी वैसी ही सहायता मिलनी चाहिए, जैसी हिन्दुओं को दी जा रही है।

गुप्तजी चेक देने लगे, तब कमेटी के कुछ मेम्बरों ने उनको भी रोका। गुप्तजी ने कहा--भाई, मैं क्या करूँ, बाबूजी का हुक्म है।

मालवीयजी ने स्वयं एक छोटी लारी पर खाने का सामान रखवाकर मुसलमानी महल्ले में भेजा। लारी एक बंगाली बाबू की थी, जो ख़ुद चला रहे थे। जब वे महल्ले में पहुँचे, तब किसी मुसलमान ने एक पत्थर मारा, जिससे लारी का शीशा टूट गया। बंगाली बाबू के मुँह पर शीशे के टुकड़ों से घाव हो गये और मुँह लोहूलुहान हो गया। बंगाली बाबू लारी लेकर लौट आये। तब मालवीयजी ने फिर भेजा। इस तरह सैकड़ों ग़रीब मुसलमानों को, जो अपने घरों में ख़ुद क़ैद होकर भूखों मर रहे थे, खाना मिला।

इस घटना के बाद ही डा० मंगलसिंह गाँधीजी के नाम मालवीयजी की कोई ज़रूरी चिट्ठी लेकर दिल्ली गये थे। गाँधीजी ने डाक्टर साहब को देखते ही आश्चर्य से पूछा--आप मालवीयजी को अकेला क्यों छोड़ आये ?

इसके बाद गांधीजी ने चिट्ठी पढ़ी और दंगे का हाल पूछा। मुसलमानों को सहायता पहुँचानेवाली बात सुनकर वह गद्गद हो गये।

त्याग

असहयोग के दिनों में आन्दोलन चलाने के लिए रुपये की बड़ी ही कमी हो गई थी। यहाँतक कि काम चलाना बन्द होगया। सरकार के डर के मारे कोई गुप्त सहायता भी नहीं देता था। कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता जेल में थे। जब किसी तरह पैसे की समस्या सुलझती हुई न दिखाई दी, तब कांग्रेस के उस समय के प्रमुख कार्यकर्त्ता मालवीयजी के पास आये। मालवीयजी ने कहा—मेरा इलाहाबादवाला मकान गिरवी रखकर रुपया लाओ और अभी तो काम चलाओ, आगे देखा जायगा।

इसका प्रभाव कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं पर इतना पड़ा कि वे मालवीयजी से कुछ चिट्ठियाँ लेकर वापस गये और तीन-चार हज़ार रुपये चंदा माँग लाये।

मालवीयजी खुल्लम-खुल्ला हिन्दू-नेता हैं, पर मुसलमान या ईसाई आदि किसी भी जाति या सम्प्रदाय से वे द्वेष-भाव नहीं रखते। और यही कारण है कि सभी धर्म और सभी सम्प्रदाय के लोग उनका सत्कार करते हैं।

कौंसिल में जब इंडिपेन्डेण्ट पार्टी क़ायम हुई, तब उसके प्रेसीडेंट होने का पहला हक़ मालवीयजी को था; पर उनको मालूम हुआ कि लाला लाजपतराय प्रेसीडेण्ट होनें की इच्छा

रखते हैं। मालवीयजी ने बड़ी प्रसन्नता से उनके लिए स्वयं प्रस्ताव किया।

इसी तरह दूसरी बार मिस्टर जिन्ना ने पार्टी के सेक्रेटरी से कहलाया कि वह प्रेसीडेंट होना चाहते हैं। मालवीयजी ने उनके लिए भी प्रस्ताव कर दिया और वह हो गये।

सदाचार-पालन

सदाचार-पालन में मालवीयजी बहुत-ही कठोर हैं। किसी को सदाचार से च्युत हुआ सुन लेते हैं तो वह उनको अप्रिय लगता है।

मेरे ही समय की बात है। विश्व-विद्यालय के किसी समारोह में किसी छात्र-कन्या के नृत्य का प्रोग्राम लेकर एक प्रोफेसर साहब मालवीयजी को निमंत्रित करने आये। उनसे मालवीयजी ने पूछा—क्या आपने विश्वविद्यालय के उद्देश्य पढ़ लिये हैं? प्रोफेसर ने कहा—इसमें कोई ऐसी बात नहीं है। ठीक समझकर ऐसा किया गया है।

प्रोफ़ेसर से पूछने पर यह पता चला कि उस नृत्य-समारोह में विश्वविद्यालय की छात्रायें भी निमंत्रित की गयी हैं। इसपर मालवीयजी को बड़ा विक्षोभ हुआ। उन्होंने प्रो-वाइस चांसलर को कहला भेजा कि विश्वविद्यालय की छात्राओं को उस समारोह में सम्मिलित होने का जो आदेश आपने दिया है, उसे वापस लीजिए।

उस दिन मालवीयजी दिन भर खिन्न दिखायी पड़े। कइयों से मिलने का प्रोग्राम था, पर नहीं मिले। साथवालों को जब उनकी खिन्नता का आभास मिला और उन्होंने विश्वास दिलाया कि प्रबंध ठीक रहेगा और किसी प्रकार की शिकायत का मौक़ा नहीं मिलेगा, तब उनमें शान्ति दीख पड़ी।

सौजन्य

१९२६ में कांग्रेस की स्वराज-पार्टी के साथ ला० लाजपतराय और मालवीयजी की नेशनलिस्ट पार्टी का चुनाव-युद्ध हुआ। पंडित मोतीलालजी स्वराज-पार्टी का नेतृत्व कर रहे थे। मालवीयजी चुनाव के दौरे में मेरठ पहुँचे। वहाँ उन्हें एक अभिनन्दन-पत्र दिया गया। किसीने एक कविता भी पढ़ी; उसमें मालवीयजी की तो प्रशंसा थी, पर पंडित मोतीलालजी को देश-द्रोही कहा गया था। यह मालवीयजी को बहुत अप्रिय लगा। उन्होंने अपने भाषण में इसका ज़िक्र किया और कहा—मोतीलालजी मेरे बड़े भाई हैं। मैं उनकी शान के विरुद्ध कोई बात नहीं सुन सकता।

प्रतिज्ञा-पालन

सन् १९३४ में, लगभग ७० वर्ष की अवस्था में, मालवीयजी की धर्म-पत्नी के एक पैर में एक दौड़ते इक्के के पायदान की टक्कर से चोट लग गयी। वे गिरकर मूर्छित हो गयीं। उनका वह पैर सदा के लिए निर्बल पड़ गया। उन दिनों मालवीयजी बिहार में दौरा कर रहे थे। जब उनको धर्म-पत्नी के चोट की ख़बर मिली, तब उनके साथवालों ने उन्हें प्रयाग जाने की सलाह दी। लेकिन उन्होंने नहीं माना और कहा—प्रोग्राम के अनुसार जहाँ-जहाँ जाने का वचन मैंने दिया है, वहाँ जाकर तब मैं प्रयाग जाऊँगा। और फिर प्रोग्राम पूरा करके ही वे प्रयाग लौटे।

बिहार ही के दौरे में उनको कारबंकिल हो गया था, और उस हालत में भी वे बराबर दौरा करते रहे।

आत्म-निर्भरता

मालवीयजी में ईश्वर का विश्वास इतना प्रबल है कि वे कभी भयभीत होते नहीं सुने गये।

एक बार वे बंगाल में नमः शद्रों की एक सभा में रात्रि के

समय नाव से जा रहे थे। नाव से उतरकर पैदल चले तो एक मसजिद में कुछ मुसलमान जमा दिखायी पड़े। वहाँ से और आगे बढ़े तो रास्ते के एक किनारे कुछ मुसलमान पंक्ति-बद्ध खड़े मिले। सरलादेवी चौधरानीजी साथ थीं। यह आशंका थी कि मुसलमान लोग मार-पीट करेंगे; पर मालवीयजी निडर होकर सभा में गये और देर तक भाषण करके तब लौटे।

निर्भयता

जिन दिनों स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की गयी थी, उन दिनों कुछ ऐसा वातावरण तैयार होगया था, कि हिन्दू-नेताओं की जान खतरे में समझी जाती थी।

विश्वविद्यालय के जिस बँगले में मालवीयजी रहते हैं, उसमें रहनेवाले कुछ कर्मचारी कहते हैं कि एक रात में किसी या किन्हीं ने कई गोलियाँ बँगले की ओर चलायी थीं। पर मालवीयजी को पता नहीं था। वे सो रहे थे। उनको अबतक यह बात बतायी भी नहीं गयी।

१-१०-२७ की एक चिट्ठी, जो बाहर से आयी थी, और मेरे सामने है, उसमें मालवीयजी के एक शुभचिंतक ने गोविन्दजी को लिखा है :—

"......से एक मुसलमान ने कहा है कि ५ मुसलमान पंजाब से मालवीयजी के चक्कर में रवाना हुए हैं। इस कारण आपको सूचना देता हूँ कि यदि आप मालवीयजी के पास अति शीघ्र चले जायँ तो अच्छा है। शिमला भी यह ख़बर हमने भिजवा दी है।"

सन् १९२९ में मालवीयजी जब मद्रास की तरफ़ गये थे, तब मदुरा स्टेशन पर उतरते ही कुछ गुंडे साथ हो लिये। पर कोई शरारत करने के पहले वे भाँप लिये गये और मालवीयजी के साथी श्री सुन्दरम् और ठा० शिवधनीसिंह उनपर नज़र रखने

लगे। परिणाम यह हुआ कि वे चलते बने।

इनमें से किसी घटना की खबर मालवीयजी को तत्काल नहीं पहुँचायी गयी।

कलकत्ते में जब हिन्दू-मुसलिम दंगा हुआ था, तब एक दिन मालवीयजी मोटर में जा रहे थे, अचानक मुसलमान का एक लड़का मोटर के नीचे आ गया। मुसलमानों का महल्ला था,। चारोंओर उत्तेजना फैली हुई थी। बात की बात में हजारों मुसलमान जमा हो गये। मालवीयजी के साथ डा० मंगलसिंह थे। ड्राइवर गाड़ी भगा ले जाना चाहता था, पर मालवीयजी ने आग्रह करके गाड़ी खड़ी करायी। गाड़ी से उतरकर क़रीब एक फर्लांग तक मुसलमानों की भीड़ में से होते हुए वे उस लड़के के पास पहुँचे और उन्होंने उसे दूसरी मोटर में बैठवाकर अस्पताल पहुँचाया।

जबतक वह अच्छा नहीं हुआ, तबतक बराबर उसकी खबर लेते रहे। डा० मंगलसिंह ने मुझसे कहा—महाराज जब मोटर से उतरकर मुसलमानों की भीड़ में पैदल चले, तब साथ के हम लोग डर गये थे कि कहीं कोई हमला न कर दे; पर महाराज को ज़रा भी अपनी चिन्ता न थी।

डा० मंगलसिंह ने यह भी कहा कि उस दिन महाराज बड़ी देर तक सन्ध्या-वन्दन करते रहे। महाराज भगवान के ध्यान में ऐसे निमग्न हो गये थे कि उनको अपनी सुध नहीं रह गयी थी। कुछ देर बाद महाराज ने मुझसे पूछा—लड़के की कोई खबर आयी? मैंने अस्पताल को टेलीफोन किया। वहाँ से जवाब मिला—लड़के को कहीं चोट नहीं लगी है। वह घर भेज दिया गया। मैंने महाराज को यह खबर दी। उस समय महाराज के चेहरे पर जो प्रसन्नता और भगवान के प्रति कृतज्ञता का भाव चमक उठा था, वह अपूर्व था।

मुलतान के हिन्दू-मुसलमानों के दंगे के समय भी मालवीयजी ने मुसलमानों की सभा में बड़ा ही प्रभावशाली भाषण किया था। और मुसलमानों पर उसका बड़ा प्रभाव भी पड़ा था।

हठ

मालवीयजी के स्वभाव में कोमलता तो बहुत है, पर कभी-कभी वे बड़े हठी भी साबित हुए हैं।

जब वे कालेज में पढ़ते थे, उन दिनों लार्ड रिपन प्रयाग में आये। लार्ड रिपन भारतीयों के हितैषी समझे जाते थे, इससे अंग्रेज़ लोग उन्हें अच्छी निगाह से नहीं देखते थे।

उन दिनों कालेज के प्रिन्सिपल हैरिस साहब थे। वे थे तो एक उदार-चरित अंग्रेज़, पर लार्ड रिपन का स्वागत वे भी पसन्द नहीं करते थे।

मालवीयजी को लार्ड रिपन के स्वागत की धुन सवार हुई। प्रिन्सिपल को खबर होने के पहले ही उन्होंनें साथियों को लेकर रातों-रात कड़ी मेहनत करके स्वागत और जलूस की तैयारी कर ली और दूसरे दिन लार्ड रिपन का धूम-धाम से जुलूस निकाला गया और उनको मानपत्र दिया गया।

किसी निश्चित सिद्धान्त में उनकी इच्छा या मर्यादा के विरुद्ध कोई कुछ कर बैठता है तो वे क्रोध से उत्तेजित हो उठते हैं। १९१४ में पंडित कृष्णकांत मालवीय ने अभ्युदय में एक लेख लिखा, जो शायद विधवा-विवाह के समर्थन में था। उसे पढ़कर मालवीयजी ने जो पत्र लिखा, वह मुझे स्व० पं० कृष्णकांतजी के कागज़-पत्रों में उनके पुत्र श्रीपद्मकांत से मिला है। उसकी नक़ल यह है—

चि० कृष्ण

पिछली रात हमने स्वप्न देखा था कि 'अभ्युदय' प्रेस में एक

भयंकर आग लग गयी है, अग्नि की ज्वाला प्रचंड वेग से ऊपर जा रही थी और आस-पास के मकानों पर फैल रही थी। इस समय डाक में आये हुए २३ संख्या के 'अभ्युदय' को पढ़कर जो वेदना हमको हुई वह उससे बहुत अधिक है जो स्वप्न में प्रेस को जलते देखकर हुई थी। यदि पिछली संख्या का प्रधान लेख छपने के पहले प्रेस भस्म हो गया होता तो हमको उतना दुःख न होता जितना इस लेख को अभ्युदय में छपा देखकर हुआ है। यदि पत्र के बंद कर देने से इसका प्रायश्चित्त हो सकता तो हम पत्र को तुरंत बंद कर देते; किन्तु वह भी नहीं हो सकता। जबतक हम जीते हैं तबतक हमको 'अभ्युदय' या 'मर्यादा' में ऐसे भाव प्रकाश करना उचित नहीं है जिनके कारण हमको समाज के सामने अपराधी बनना और लज्जित होना पड़े।

तुम समाज का हित चाहते हो, समाज की सेवा किया चाहते हो; किन्तु समाज कभी तुम्हारी सेवा न स्वीकार करेगा—तुमको सेवा का अवसर भी न देगा—यदि तुम मर्म की बातों में समाज की मर्यादा का पालन न करोगे और समाज को मर्मवेधी वचन सर्वसाधारण में कह दुखित और लज्जित करोगे। जो बातें घर में बैठकर धीरता और दुःख के साथ विचारने की हैं उनको इस रीति से ऐसे शब्दों में पत्र में प्रकाश करना अक्षन्तव्य अपराध है।

सत्कार्य का उत्साह प्रशंसनीय है किन्तु यदि वह, मात्रा और मर्यादा के भीतर रहे। जो उत्साह की बाढ़ में विवेक और विचार को बह जाने दोगे तो कुछ भी उपकार नहीं कर सकोगे।

हम आशा करते हैं कि आगे तुम ऐसी शोचनीय भूल न करोगे। सहस्रों घावों पर मलहम लगाना—सहस्रों विषों का असर समाज के शरीर से निकालना—सहस्रों ओषधियों के आहार के प्रभाव से उस शरीर को पवित्र और पुष्ट बनाना है,

परन्तु यह सब तभी संभव है जब मर्यादा का पालन करते, समाज का आदर और मान मन में प्रधान रखते सेवा करोगे और औरों को ऐसी सेवा करने का उपदेश करोगे।

हम एक लेख भेजते हैं, इसको आगे की संख्या में--जो आगामी शनिवार को--२०जून को--छपेगी छपवा दो। हिचिकना मत। इससे कम में काम नहीं सँभल सकता। इतना करने पर भी सँभलेगा कि नहीं यह निश्चय नहीं—दूसरी संख्या के लिए फिर लेख भेजेंगे।

तुम्हारा
म० मो०

१७-६-१४

'उर्दू अशआर' भी थोड़ा कम उद्धृत किया करो।"

कैसे क्रोधावेश में यह पत्र लिखा गया है ! शायद ऐसी कठोरता मालवीयजी ने अपने जीवन में फिर कभी न दिखायी होगी।

१९२६ में कलकत्ते में हिन्दू-मुसलिम दंगा हुआ। मालवीयजी कलकत्ते जाना चाहते थे, सरकार ने आज्ञा नहीं दी। इसपर मालवीयजी यह कहकर उठे-"देखें सरकार कैसे रोकती है ?" और और यह श्लोक पढ़ाः—

यदि समरमपास्य नास्तिमृत्यु
र्भयमिति युक्तमितः प्रयातु दूरम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः
किमिह मुधा मलिनं यशः कुरुध्वम्॥

'युद्ध से भाग जाने पर यदि मृत्यु का भय न हो तो भाग जाना ठीक है; पर प्रत्येक प्राणी की मृत्यु तो निश्चित ही है, तो यश को व्यर्थ ही कलंकित क्यों किया जाय ?'

श्लोक पढ़ते हुए वे चल खड़े हुए। उस समय उनकी आयु ६८ वर्ष की थी। सरकार ने उनकी ललकार को चुप-चाप सहन कर लिया।

स्वभाव की सरसता

कोमलता उनकी वाणी ही में नहीं, स्वभाव में भी है। परुष वचन बोलना शायद वे जानते ही नहीं। कई बार ऐसा देखने में आया कि कोई साहब मिलने के लिये बेवक्त आगये हैं। उनको फिर आने के लिए कहना है। पर कहना ऐसा चाहिए, जिससे उनको कष्ट न हो। कोई निकटस्थ कर्मचारी आगन्तुक सज्जन को उस समय न मिलने का कोई वास्तविक कारण बताकर फिर आने के लिए कहने को चला। मालवीयजी उसे रास्ते से बुलाकर पूछ लेते हैं—क्या कहोगे ? देखो, ऐसा कहने से रूक्षता प्रकट होगी। इस तरह कहना जिससे उनको अप्रिय न लगे।

किसी को उनके व्यवहार से कष्ट तो नहीं पहुँच रहा है, इस बात की चौकसी वे सदा रखते हैं। एक घटना मेरे साथ भी घटी है। एक दिन मैं भोजन करने के लिये रसोईघर में गया। पंडित राधाकान्तजी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने कहा——बाबू सदा एकान्त में भोजन करते हैं; सो आप बरामदे में भोजन कर लें। मैं जानता हूँ, आप बुरा न मानेंगे।

बुरा मानने की बात ही नहीं थी। रसोई-घर के एक ओर भोजन का कमरा है। उसी से लगा हुआ, आँगन की तरफ़, एक बरामदा है। बरामदे में बैठकर मैंने भोजन कर लिया।

मालवीयजी भोजन करने के कमरे में आये और वे भोजन कर ही रहे थे, जब मैं भोजन करके अपने कमरे में चला आया। उन्होंने मुझे देखा नहीं। ऐसा प्रसंग दो-तीन बार और पड़ा जब मैं और वे थोड़े ही आगे-पीछे रसोई-घर में पहुँचे। मैं बरामदे

में भोजन करके चला आया करता था। पता नहीं किससे, शायद रसोई के नौकरों से, उन्हें यह बात मालूम हो गयी। उन्होंने समझा, मुझे कुछ चोट लगी होगी। उस दिन से वे मुझे अपने सामने बैठाकर भोजन कराने और स्वयं करने लगे।

मैंने एक दिन कहा भी कि आप एकान्त में भोजन करने का अपना नियम न बदलें; पर जैसे उन्होंने सुना ही नहीं। जबतक मैं न जाता, तबतक कई बुलावे आते और वे भी बैठे रहते। उनके हृदय की कोमलता का अनुभव करके तबसे मैं खुद उनसे पहले भोजन कर लेने की सावधानी रखने लगा।

सहिष्णुता

उनमें धार्मिक सहिष्णुता का भी एक विशेष गुण है।

लाहौर के डी० ए० वी० कालेज की जुबिली के अवसर पर सन् १९३६ में आर्य-समाज के नेताओं ने मालवीयजी को सभा-पतित्व के लिए बुलाया। वे गये। २४ अक्तूबर १९३६ को पंडाल में उन्होंने स्वामी दयानन्द और आर्य-समाज द्वारा होनेवाली हिन्दू-जाति की सेवा पर बड़ा ही मर्मस्पर्शी भाषण किया। स्वामी दयानन्द के वे बड़े प्रशंसकों में हैं; क्योंकि स्वामीजी ठीक समय पर हिन्दू-जाति को सचेत किया था।

काशी के पास सारनाथ बौद्ध-धर्म का एक केन्द्र है। बिड़ला जी ने वहाँ बौद्ध-यात्रियों के लिए एक आर्य-धर्मशाला बनवा दी है, जिसकी नींव मालवीयजी के हाथ से दी गयी थी।

मालवीयजी ने सिक्खों की सभा में भी कई वार भाषण किया और उनके गुरुओं के धर्म पर बलिदान होने की कथा सुना-सुनाकर उनको प्रेम-बिह्वल कर दिया।

मालवीयजी न अपने धर्म की निन्दा सुन सकते हैं न करते हैं और न भरसक किसी को करनें देते हैं। सुना है कि एक बार

हिन्दू-विश्वविद्यालय में आर्य-समाज के एक उपदेशक ने भाषण किया, जिसमें उन्होंने मुसलमान और ईसाई धर्म पर कुछ कठोर व्यंग किये। मालवीयजी को मालूम हुआ तो उन्होंने व्याख्यान के प्रबन्धकों को कहला भेजा कि हिन्दू-विश्वविद्यालय में ऐसे लोगों के व्याख्यान न कराये जायँ, जिनकी वाणी संयत न हो।

मौलिकता

मालवीयजी नें किसी बाहरी वक्ता से कुछ ज्ञान या उपदेश ग्रहण किया हो, ऐसा नहीं दीखता। उनका वक्ता उनके भीतर ही था। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार वे अपने कालेज-जीवन ही से (सन् १८८० से) करने लगे थे। भारत की स्वाधीनता का स्वप्न वे अपने अन्तःकरण की प्रेरणा ही से देखने लगे थे। कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनों में दिये हुए भाषणों में भी उनके मौलिक विचार थे और अबतक उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ा है। विदेशी वस्तुओं के विरुद्ध उनकी आवाज़ शायद सबसे पहली होगी। कांग्रेस की स्थापना के वर्षों पहले वे प्रयाग में देशी तिजारत कंपनी खुलवा चुके थे।

धर्म की शिक्षा उनकी पैतृक-संपत्ति है। संस्कृत और अंग्रेज़ी भाषा द्वारा जितना ज्ञान उनको बाहर से मिला, उससे हज़ारों गुना उसमें अपना मिलाकर उन्होंने सर्वसाधारण को दान किया है। उन्होंने दिया-ही-दिया है। कभी थके नहीं। अपना दिया और अपने सहृदय मित्रों, भक्तों और धर्म-प्राणों के घर से उठा-उठाकर दिया है। हिन्दू-विश्वविद्यालय उनकी और उनके स्नेहियों की वदान्यता का एक ठोस प्रमाण है।

हिन्दी-सेवा

मालवीयजी ने हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि की जो सेवा की है, वह हिन्दी के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। कच-

हरियों में देवनागरी लिपि के जारी कराने में जो सफल परिश्रम मालवीयजी ने किया था, उसका विवरण इस पुस्तक में किसी दिन की बात-चीत में आ चुका है। हिन्दी-साहित्य की उन्नति का यत्न मालवीयजी ने उस समय किया था जब हिन्दी जाननेवाले बहुत थोड़े थे। हिन्दी की जो उन्नति आज दिखायी पड़ती है, उसमें मालवीयजी का उद्योग मुख्य है।

मालवीयजी ने हिन्दू-विश्वविद्यालय में एम० ए० तक हिन्दी की पढ़ाई का प्रबंध करके हिन्दी के मूल को दृढ़ कर दिया। यही नहीं प्रायः सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम भी उन्होंने हिन्दी ही को रक्खा।

सन् १९१० में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पहला अधिवेशन काशी में हुआ। सर्वसम्मति से मालवीयजी उसके सभापति चुने गये। १९१९ में सम्मेलन का अधिवेशन बम्बई में हुआ। इसके सभापति भी मालवीयजी हुए।

मालवीयजी की हिन्दी बड़ी सरल और सुबोध होती है। हिन्दी में उनका भाषण ऐसा ललित होता है कि श्रोता मुग्ध हो जाते हैं।

भारती-भवन

प्रयाग में भारती-भवन महल्ले में भारती-भवन नाम का एक पुस्तकालय है, वह भी मालवीयजी के स्मारकों में एक है।

भारती-भवन की स्थापना १५ दिसम्बर १८८९ को हुई। प्रयाग के लाला गयाप्रसाद के पुत्र लाला ब्रजमोहन लाल हिन्दी के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने कई सौ हिन्दी-पुस्तकें जमा कर ली थीं। उन को और पंडित जयगोविन्दजी की दी हुई कुछ हस्त-लिखित पुस्तकों को लेकर भारती-भवन की स्थापना हुई थी।

लाला ब्रजमोहन लाल के कोई सन्तान नहीं थी। उनकी

इच्छा थी कि संसार में भारती-भवन ही उनका स्मृति-चिन्ह हो। उन्होंने अपनी बीमारी के अन्तिम दिनों में भारती-भवन के लिए एक दान-पत्र लिखकर और भवन बनवाने का वचन प्रयाग के सुप्रसिद्ध रईस रायबहादुर स्व० लाला रामचरणदास से लेकर, शान्तिपूर्वक शरीर छोड़ा। लाला रामचरणदास ने मृतात्मा की इच्छा के अनुसार भारती-भवन की नींव डलवाकर भवन-निर्माण करा दिया। दान-पत्र में भारती-भवन के ट्रस्टियों में मालवीयजी का भी नाम है। भारती-भवन की उन्नति में मालवीयजी और उनके मित्रों का पूरा हाथ रहा। भारती-भवन आजकल एक प्रथम श्रेणी का पुस्तकालय है।

गोरक्षा

दुर्भाग्य से हमारे देश के दुःखियों में एक हमारी गौमाता भी है। मालवीयजी ने उसके दुःख-निवारण का भी भरसक प्रयत्न किया।

कांग्रेस के जन्म के बाद ही से उसके साथ गोरक्षा-सम्मेलन भी होने लगा था। मालवीयजी उसमें बड़ी तन्मयता से भाग लिया करते थे।

बाद को भारत-धर्म-महामंडल और सनातन धर्म-सभाओं ने गोरक्षा के आन्दोलन को हाथ में लिया। मालवीयजीने उनको भी प्रोत्साहन दिया और वे कई बार गोरक्षा-सम्मेलनों के सभापति भी हुए।

उन्होंने केवल भाषण ही नहीं दिये, स्थान-स्थान पर गोशालाएँ और पिंजरापोल खोलने और खुलवाने के लिए चंदा भी जमा किया; तथा राजाओं, महाराजाओं और ताल्लुक़ेदारों से से गो-चर भूमि भी छुड़वायी।

गोरखपुर ज़िले में चौरीचौरा हत्याकांड के बाद मालवीयजी

दौरा कर रहे थे और पड़रौना से गोरखपुर आ रहे थे। रात का वक्त था, मोटर में सबको नींद आ गई। ड्राइवर भी झपकी लेने लगा। एकाएक ड्राइवर को सामने बैलगाड़ी जाती हुई दिखायी पड़ी। उसने मोटर को रोकने और बगल से मोड़ने का प्रयत्न किया, पर फिर भी बैलगाड़ी को धक्का लगा और मोटर एक पेड़ से टकराकर टूट-फूट गयी। मालवीयजी को भी चोट लगी। उन्होंने अपनी चिन्ता बाद को की और सबसे पहले बैलगाड़ी के बैलों की जाँच की कि कहीं उन्हें चोट तो नहीं आयी।

फिर अपनी चोटों पर पट्टी बाँधकर वे अपने साथियों के साथ इक्का तलाश करके उसपर गोरखपुर गये। मोटर बेकार हो चुकी थी।

विनोद-प्रियता

विनोद-प्रियता गाँधीजी की तरह मालवीयजी में भी काफ़ी है। उनका विनोद ऊँचे दरजे का होता है। और जितना ही समझा जाता है, उतना ही सरस मालूम पड़ता है।

अपने प्रोग्राम के बारे में उन्होंने एक बार ख़ुद अपना मज़ाक उड़ाया था।

प्रेसीडेंट पटेल और मालवीयजी उत्तर भारत के प्रान्तों का दौरा लगा रहे थे। बनारस से लखनऊ दोनों साथ गये। वहाँ से प्रेसीडेंट पटेल का प्रोग्राम कानपुर का बनाया गया था। नोटिस बँट चुकी थी, लेकिन कुछ ऐसा आवश्यक कार्य आ पड़ा, जिससे यह सोचा जाने लगा कि कानपुर न जाना ही अच्छा होगा। बहुत तर्क-वितर्क के बाद मालवीयजी ने पटेल साहब से कहा--आपका जाना ही उचित है। ऐसा न करने से दुनिया कहने लगेगी कि यह तो मालवीयजी का प्रोग्राम हो गया।

पटेल साहब को कानपुर जाना ही पड़ा।

एक मनोरंजक घटना

मालवीयजी समय के पाबंद बहुत कम हैं। उन्होंने प्रायः 'लेट' ट्रेन ही पकड़ी है। ट्रेन का समय बीत जाने पर भी वे स्टेशन तक तो चले ही जाते हैं और इस संबंध में भी ऐसे भाग्यशाली हैं कि उनकी ट्रेन प्रायः लेट आती भी है।

पंडित मोतीलाल नेहरू कलकत्ता-कांग्रेस के प्रेसीडेंट चुने गये थे। प्रयाग से वे जिस मेल ट्रेन से कलकत्ते जा रहे थे, उसीसे मालवीयजी भी जा रहे थे। बातें करने के लिए मालवीयजी उनके डब्बे में जा बैठे। गया स्टेशन से जब गाड़ी चलने को हुई, तब मालवीयजी अपने डब्बे की ओर चले। डब्बे तक पहुँचते-पहुँचते गाड़ी चल पड़ी। मालवीयजी ने एक दूसरे डब्बे में बैठना चाहा, पर वह जनाना था। वे प्लेटफ़ार्म पर खड़े हो गये। गाड़ी जब प्लेटफार्म से आगे निकल गई, तब पीछे के डब्बे के किसी मुसाफिर ने मालवीयजी को प्लेटफ़ार्म पर खड़े देखा और उसने जंज़ीर खींचकर गाड़ी खड़ी करा ली। गाड़ी के रुक जाने पर वह उतरा, और गार्ड के हाथ में ५०) के नोट रखकर उसने कहा—जंज़ीर मैंने खींची है। यह ५०) जुर्माना लीजिए। एक खास व्यक्ति छूट गया है, जिसका इसी ट्रेन से कलकत्ता पहुँचना आवश्यक है, उसके लिए मैंने गाड़ी खड़ी कराई है।

इतने में मालवीयजी अपने डब्बे में पहुँच गये। मालवीयजी की यह धारणा थी कि शायद उनको छूटा हुआ देखकर गार्ड ने स्वेच्छा से गाड़ी खड़ी करा दी है। असली रहस्य तो हवड़ा पहुँचने पर खुला, जब गार्ड ने रसीद देने के लिये उस मुसाफिर की खोज की और वह नहीं मिला। आजतक उसका पता नहीं चला।

इसमें मालवीयजी के लेट होने की बात तो ज़रा-सी है, उस मुसाफिर का उदात्त-भाव ही अधिक दर्शनीय है।

प्रशंसित जीवन

मालवीयजी के मित्रों का उनपर हमेशा विश्वास रहा है और वे उनके सुन्दर स्वभाव के सदा प्रशंसक रहे हैं।

काशी के अधिवेशन में जब कांग्रेस के नरम और गरम दलों में संघर्ष हुआ, तब मालवीयजी नरम दल की ओर से समझौता करने के लिये प्रतिनिधि चुने गये। मालवीयजी ने एक मसौदा ऐसा तैयार किया जिसे गरम दलवालों ने भी स्वीकार कर लिया। उसे लेकर जब वे फीरोज़शाह मेहता को दिखाने गये, तब सर-फीरोज़शाह ने कहा--मैं नहीं देखूँगा। आपने सब ठीक ही लिखा होगा। और सचमुच उन्होंने नहीं देखा।

बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है :--

'पंडित मदनमोहन मालवीयजी सबसे पुराने और सबसे योग्य कांग्रेस कार्यकर्ताओं में से एक हैं। १८८६ की मुझे वह घटना याद आती है, जबकि कालेज की शिक्षा पार कर हमारे नये मित्र ने पहली बार कलकत्ता कांग्रेस में भाषण दिया था। वे इतने छोटे थे कि उनको कुर्सी पर खड़ा किया गया था कि जनता उनको देख सके। उनका रूप बहुत आकर्षक था, जो अब भी है। किन्तु जनता उस रूप से अधिक उस नवयुवक के उस भाषण पर मुग्ध थी, जैसाकि मैंने बहुत कम सुना होगा; जिसने कांग्रेस-सभा पर एक गहरा प्रभाव डाला और जिसने उनको कांग्रेस-आंदोलन का एक भावी नेता बना दिया। सन् १८८६ की आशा पूर्णतः सफल हुई है। आज मालवीयजी कांग्रेस के बड़े सैनिकों में से एक हैं।'

श्री एम० विश्वेश्वरैया का कथन है :—

'जनता के हित के लिये पं० जी ने कांग्रेस-मंच से सन् १८८६ ई० से और इम्पीरियल लेजिस्लेटिव असेम्बली (भारतीय धारा-सभा) में सन् १९१० से लड़ाइयाँ लड़ी हैं।

'सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता के रूप में पंडितजी का प्रभाव उनकी सुन्दर वक्तृत्व-कला से और बढ़ जाता है। आपका स्वर अत्यन्त मधुर और मनोहर है। आपका विषय-प्रतिपादन अनेक चमत्कृत भावों से अलंकृत रहता है। संस्कृत-साहित्य के ज्ञान, अंग्रेज़ी के इतिहास और साहित्य से आपके विशद परिचय, जनता की परिस्थितियों के गंभीर अध्ययन और वर्तमान अर्थनीति में नवीन विचारों से आपके व्याख्यान बड़े ही सुन्दर हो जाते हैं। आप घंटों तक सरलता से बोल सकते हैं। आपके हिन्दी के भाषणों में भारत, विशेषकर उत्तरी भारत की प्राचीन विचारों की जनता के विचारों को इच्छानुसार परिवर्तित करने की बड़ी शक्ति होती है। आपके सभी सार्वजनिक वक्तव्यों और कार्यों में आदि से अन्त तक उद्देश्य की एकता और सिद्धान्त की समानता रही है। आपके सरल स्वभाव और सादे जीवन से आपके चरित्र में विचित्र प्रभाव पड़ता है।

'आपके यूरोपीय (विदेशी) विरोधी यह जानते हैं कि आप विशुद्ध वीर हैं, और इसके लिए वे आपका आदर करते हैं। भारतवर्ष के राजा-महाराजा आपको अपना मित्र समझते हैं। देश के सनातनधर्मियों के पूज्य देवता होने पर भी आप सुधारों के विरोधी नहीं हैं। आप कट्टर नहीं हैं। दलित-अछूत जातियों के प्रति आप के विचारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है, जो उन (अछूतों) के लिए हितकारी है। और अब देश के प्रति अपने कर्तव्य से प्रेरित होकर आपने प्रसन्नतापूर्वक समुद्र को पार कर यूरोप-यात्रा की है।'

सर. प्रफुल्लचन्द्र राय की राय यह है :—

'मालवीयजी ने देश-हित के अनेक पक्षों में सारा ध्यान लगा देने के लिए अपनी धन-धान्यपूर्ण वकालत छोड़ दी और ग़रीबी को अपनाया। आपका जीवन देश-सेवा के लिए समर्पित परम

त्याग का जीवन है । काशी-विश्वविद्यालय आपकी असीम शक्ति और अटूट लगन का जीवित स्मारक है ।

'महात्मा गाँधी के अतिरिक्त इतना त्यागी और सर्वतोमुखी कार्य-तत्परता का प्रमाण देनेवाला मालवीयजी-सा दूसरा व्यक्ति दुर्लभ है ।'

महात्मा गाँधी की क़लम से

'सन् १९१५ में भारत वापस लौटने के बाद से ही मुझे पं० मदनमोहन मालवीयजी को जानने का सुअवसर मिला है । मुझे उनके साथ घनिष्ठ व्यवहार रखने का संयोग मिला है । ये हिन्दुओं के उन सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में हैं जो रूढ़िवादी होते हुए भी उदार नीति रखते हैं । ये किसी से द्वेष नहीं कर सकते । इनके पास हृदय है, जिसमें शत्रुओं को भी स्थान देनेवाला विशाल हृदय है । इन्होंने कभी अधिकार पाने का ध्येय नहीं किया है । इनके पास जो कुछ अधिकार है, वह जन्म-भूमि की लगातार सेवा करने का फल है । जिसका गर्व हममें बहुत कम कर सकते हैं । हम दोनों स्वभावतः भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे को भाई की तरह से प्यार करते हैं । हम लोगों में कभी मतभेद हुआ ही नहीं है ।'

ब्रिटिश पार्लमेन्ट के मेम्बर मिस्टर अर्नाल्ड वार्ड की सम्मति भी जानने योग्य है:—

'अपने पार्टी के नेता पं० मदनमोहन मालवीय एक बहुत उच्च कोटि के आदमी हैं । वे हर प्रकार से पं० मोतीलाल नेहरू के बराबर ही महत्त्व के पुरुष हैं । गाँधीजी को लेकर ये हिन्दू त्रिमूर्ति नेता हैं, जिनके साथ इंग्लैण्ड को बर्ताव करना है । ये अपने भाई पंडित के ही आयु के हैं और उन्हींका पेशा भी करते थे । किन्तु जनता से इनका सम्बन्ध बहुत बड़ा है । इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल में बहुत दिन हुए, १९१० में, उन्होंने

प्रवेश किये। यह एक कट्टर उच्च कोटि के ब्राह्मण हैं और काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर हैं। हिन्दू-जाति में इनका अधिक आतंक है। और इनके प्रति हिन्दू-जाति का प्रेम और श्रद्धा विशेष है। एक भारतीय सदस्य ने गत फरवरी में सरकार की ओर से वाद-विवाद करते हुए कहा कि अगर कोई एक आदमी हिन्दू-जाति का नेता हो सकता है तो वह पण्डित मदनमोहन मालवीयजी हैं। विचार करते हुए आश्चर्य होता है कि एक आदमी २० करोड़ मनुष्यों का नेता हो। सत्य तो यह है कि ये सबके नेता हैं, क्योंकि हुगली में दिसम्बर के महीने में उन्होंने अपने हाथों से अछूतोद्धार किया। यह एक मज़े की बात है कि ये और पं० मोतीलाल अच्छी अंग्रेज़ी बोलते हैं। दोनों अंग्रेज़ी भाषा में दक्ष हैं और इसके पंडित हैं। किन्तु पंडित मोतीलाल के वाक्यों में ध्वनि है, वे गढ़े होते हैं। पर मालवीयजी की शब्दावली बड़ी सरल है और वाक्य-रचना लचकीली होती है। इनके शब्द चुने हुए होते हैं। ये सरकार को कड़ी-से-कड़ी बातें कहते हैं, और अंग्रेज़ी राजनीतिज्ञों को डाटते हैं। किन्तु इनकी और मोतीलाल-जी की कड़वी बातें उतनी कड़वी नहीं हैं जितनी अली भाइयों की होती हैं। पर पार्नेल और हेली अधिक कड़वी बातें कहने-वाले हैं। ये शक्ति से बढ़कर दयालु हैं। इनसे बढ़कर दूसरा कोई नेता स्वार्थरहित नहीं है।

'वृद्धावस्था का इनपर कोई प्रभाव नहीं दीख पड़ता है, यह एक पतले, छोटे तथा सुन्दर ढाँचे के हैं। सफ़ेद अचकन तथा लम्बा सादा दुपट्टा पहने हुए, इनके साहस में उनहत्तरवीं वर्ष-गाँठ में प्रवेश करते हुए भी किसी प्रकार की कमी नहीं है।'

कांग्रेस के इतिहास के लेखक श्री पट्टाभि सीतारमैया नें मालवीयजी के सम्बन्ध में लिखा है:—

'पं० मदनमोहन मालवीय का कांग्रेस-मञ्च पर सबसे पहली बार सन् १८८६ में, कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन में, व्याख्यान हुआ था। तभी से लेकर आप बराबर आजतक उत्साह और लगन के साथ इस राष्ट्रीय संस्था की सेवा करते चले आ रहे हैं। कभी तो एक विनम्र सेवक के रूप में पीछे रहकर और कभी नेता के रूप में आगे आकर, कभी पूरे कर्त्ता-धर्त्ता बनकर और कभी कुछ थोड़ा सा विरोध प्रदर्शित करनेवाले के रूप में प्रकट होकर, कभी असहयोग और सत्याग्रह-आन्दोलन के विरोधी होकर और कभी सत्याग्रही बनने के कारण सरकारी जेलों में जाकर, आपने कांग्रेस की विविध रूप में सेवा की है। सन् १९१८ के अप्रैल मास में २७, २८, और २९ तारीख को वाइसराय ने गत महा-युद्ध के लिए जन, धन तथा अन्य सामग्री एकत्र करने के लिए भारतीय नेताओं की एक सभा बुलायी थी। उसमें गवर्नर, लेफ्टि-नेन्ट गवर्नर, चीफ कमिश्नर, कार्य-कारिणी के सदस्य, बड़ी कौन्सिल के भारतीय तथा यूरोपियन सदस्य, विभिन्न कौन्सिलों के सदस्य, देशी नरेश तथा अनेक सरकारी एवं गैरसरकारी प्रतिष्ठित यूरोपियन और हिन्दुस्तानी नागरिक सम्मिलित हुए थे। इस सभा में शास्त्रीजी, राजा महमूदाबाद, सैयद हसन इमाम, सरदार बहादुर सरदार सुन्दर सिंह मजीठिया और गांधीजी के भाषण 'सम्राट के प्रति भारत की राजभक्ति'वाले प्रस्ताव के समर्थन में हुए थे, जिसे महाराज गायकवाड़ ने पेश किया था। इसके बाद पं० मदनमोहन मालवीय ने वाइसराय को सम्बोधन करके कहा, कि "भारत के आधुनिक इतिहास से एक शिक्षा लीजिए। औरंगज़ेब के ज़माने में सिक्ख गुरुओं ने उसकी सत्ता और प्रभुत्व का मुकाबला किया था। गुरु गोविन्दसिंह ने छोटे-से-छोटे लोगों को, जो आगे बढ़े, अपनाया और गुरु और

शिष्य के बीच में जो अन्तर है, उसे एकदम मिटाकर उन्हें दीक्षित किया। इस तरह गुरु गोविन्दसिंह ने उन लोगों के हृदय पर अधिकार जमा लिया था। अब भी मैं यही चाहता हूँ कि आप अपनी शक्ति भर प्रयत्न करके भारतीय सिपाहियों के लिए ऐसी व्यवस्था कर दीजिए कि जिससे युद्ध-स्थल में अन्य देशों के जो सैनिक उनके कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर युद्ध करते है, उनके बराबर वे अपने को समझ सकें। मैं चाहता हूँ कि इस अवसर पर गुरु गोविन्दसिंह के उत्साह एवं साहस से काम लिया जाय।'

'देश में जब असहयोग-आन्दोलन चला तब मालवीयजी उससे तो दूर रहे, परन्तु कांग्रेस से नहीं। नरमदलवालों ने अपने ज़माने में कांग्रेस को हर प्रकार चलाया, लेकिन जब उनका प्रभाव कम हुआ तो वे उससे अलग हो गये। श्रीमती बेसेंट ने कांग्रेस पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। पर बाद में उन्होंने भी, अपने से प्रबल दलवालों के हाथों मैं उसे सौंप दिया। लेकिन मालवीयजी तमाम उतार-चढ़ावों में प्रशंसा और बदनामी किसी की परवा न करते हुए, सदैव कांग्रेस का पल्ला पकड़े रहे हैं।

'मालवीयजी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमें इतना साहस है कि जिस बात को वह ठीक समझते हैं उसमें चाहे कोई उनका साथ न दे, पर वह अकेले ही मैदान में खम ठोंककर डटे रहते हैं। एक बार वह अपनी लोकप्रियता की चरम सीमा पर थे। दूसरी बार अवस्था यह हुई कि कांग्रेस-मंच पर उनके भाषण को लोग उतने ध्यान से नहीं सुनते थे। १९३० में जब सारे कांग्रेसी सदस्यों ने असेम्बली की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया था, उस समय मालवीयजी वहीं डटे रहे। उन्हें ऐसा करने का अधिकार भी था। क्योंकि वह कांग्रेस के टिकट पर असेम्बली में नहीं गये थे। लेकिन इसके चार मास बाद ही दूसरा समय आया।

मालवीयजी ने उस समय की आवश्यकता को देखकर असेम्बली की मेम्बरी से इस्तीफा दे दिया। सन् १९२१ में उन्होंनें असहयोग आन्दोलन का विरोध किया था। लेकिन सन् १९३० में हमें वह पूरे सत्याग्रही मिलते हैं। सब मिलाकर उनका स्थान अनुपम और अद्वितीय है। हिन्दू की हैसियत से वह उन्नत विचारवाले हैं और गाड़ी को आगे खींचते हैं। कांग्रेसी की स्थिति से वह स्थिति-पालक हैं, इसलिए प्रायः वह पिछड़े हुए विचारवालों का नेतृत्व किया करते हैं। फिर भी कांग्रेस इस बात में अपना गौरव समझती है कि वह सरकारी कौन्सिल और देश की कौन्सिल दोनों में उन्हें निर्विरोध जाने दे। किसी समय में जो बात गाँधीजी के लिए कही जा सकती थी, वही इनके लिए भी कही जा सकती है कि एक समय था जब वह ब्रिटिश-साम्राज्य के मित्र थे; लेकिन अपनें सार्वजनिक जीवन के पिछले दिनों में उन्होंने अपने को, सरकारी निरंकुशता का अपने सारे उत्साह और सारी शक्ति के साथ विरोध करने के लिए विवश पाया। बनारस-हिन्दू-विश्व-विद्यालय उनकी विशेष कृति है। लेकिन वह स्वयं भी एक संस्था हैं। पहले-पहल सन् १९०९ में वह लाहौर कांग्रेस के सभापति हुए थे। कांग्रेस के इस २४ वें अधिवेशन के सभापति चुने तो सर फिरोजशाह मेहता गये थे, परन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों से उन्होंने अधिवेशन से केवल ६ दिन पूर्व इस मान को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। अतः उनके स्थान की पूर्ति मालवीयजी ने ही की थी। ९ वर्ष बाद सन् १९१८ में कांग्रेस के दिल्लीवाले ३३ वें अधिवेशन के सभापतित्व के लिए राष्ट्र नें आपको फिर मनोनीत किया था।'

मिस्टर माण्टेग्यू ने अपनी 'इंडियन डायरी' में लिखा है :—

'पंडित मदनमोहन मालवीय कौंसिल के सबसे अधिक क्रिया-

शील राजनीतिज्ञ हैं। सुन्दर मुखवाले, ब्राह्मण, धवल वसन, मधुर शीलगुण सम्पन्न, उच्च आकांक्षी। वह लेजिस्लेटिव अलेम्बली के महान् नेता हैं।'

'जलपान के बाद मैंने मालवीयजी से बहुत देर तक बातचीत की। बड़े अच्छे बड़े मिलनसार हैं वह। ुझे वे बहुत अच्छे लगते हैं। बड़े ही सच्चे हैं।'[१]

स्व० सी० एफ़० ऐन्ड्रूज़ ने 'ग्रेटमॅन आफ़ इण्डिया' (Greatmen of India) नामक पुस्तक में मालवीयजी के सम्बन्ध में अपनी राय इन सुन्दर शब्दों में प्रकट की है :—

'अब केवल थोड़े से शब्दों में उनके चरित्र के सम्बन्ध में लिखना शेष रह गया है। जो लोग उनको निकट से जानते हैं, उन्होंने उनके चरित्र को अत्यन्त मनोहर और मुग्धकारी पाया है। कोई भी व्यक्ति यहाँ तक कि महात्मा गाँधी भी हिन्दू-जनता के इतने प्रिय नहीं हैं। जनता और राष्ट्र की सेवा करने में रत रहने का इनका बहुत बड़ा लेखा है जो कि उनको वर्तमान काल के जीवित नेताओं में उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करता है। उनका आत्मबल उनके हृदय की कोमलता के समान है और उनकी धर्म-भावना इतनी

---

१. Pandit Madan Mohan Malaviya, the most active politician in any council followed. He is a man of beautiful appearance, a Brahmin, clad in white, with a beautiful voice, perfect manners and an insatiable ambition. He is a great leader of the Legislative Assembly.

After lunch I had a very long talk with Malaviya. He was very nice, very concilitory. I like him very much. He is so earnest.

सरल है कि जैसे एक बच्चे की। और सब बातों के पीछे उनका वह आकर्षक व्यक्तित्व है जिसने उन असंख्य व्यक्तियों के हृदय पर विजय पायी है जिन्होंने कभी उन्हें देखा भी नहीं है; किंतु उनके मातृभूमि तथा हिन्दू-धर्म के लिए किये गये उनके महान् त्याग की बातें सुनी हैं।''[१]

समाज-सेवा

मालवीयजी ब्राह्मणों में सवर्ण विवाह के पक्ष में हैं। १९३७ में इस विषय को लेकर काशी में विद्वानों का एक सम्मेलन हुआ और उसमें प्रमाणों से सवर्ण-विवाह शास्त्र-सम्मत सिद्ध किया गया। सवर्ण-विवाह के सम्बन्ध में उनकी सम्मति यह है :—

संसार में भारतवर्ष ही एक ऐसा पुण्य देश है जहाँ चारों पदार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का उत्तम साधन चातुर्वर्ण्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और ब्रह्मचर्य,

---

१· It remains to try to sum in a few words his character, which all who have kown him intimately have found so gentle and winning. No one, not even Mahatma Gandhi himself is dearer to the vast majority of the Hindu public. He has also a great record of devotion to public national service, which places him very high indeed among those Indian leaders who are still living in our own times. There is in him a bravery or spirit which is equal to his tenderness of heart; and his religious faith is as simple as that of a child. Behind all is a personality so attractive that he has won the hearts of millions who have even seen him but have only known great sacrifice both on behalf of his motherhand and his Hindu faith.

गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमों का क्रम स्थापित है। इन चारों वर्णों में ब्राह्मणों की संख्या सबसे अधिक है; किन्तु ब्राह्मणमात्र का वर्ण एक ही होने पर भी देश के विभाग से ये भिन्न-भिन्न नाम से पुकारे जाते हैं।

इनमें दस नाम प्रधान हैं—

सारस्वताः कान्यकुब्जा गौड-मैथिलकोत्कलाः ।
पञ्चगौडा इति ख्याता विन्ध्यस्योत्तरवासिनः ।। (स्क.पु.)

अर्थात् यह कि जो ब्राह्मण पंजाब में सरस्वती नदी के तट पर बसनेवाले थे वे सारस्वत नाम से पुकारे जाने लगे, इसी प्रकार से कान्यकुब्ज प्रदेश में बसनेवाले ब्राह्मण कान्यकुब्ज कहे जाने लगे, गौड़ देश के ब्राह्मण गौड़, मिथिला के ब्राह्मण मैथिल और उत्कल (उड़ीसा) प्रान्त में बसनेवाले ब्राह्मण उत्कल इस नाम से पुकारे जाने लगे। इसी प्रकार--

कर्णाटाश्चैव तैलंगा गुर्जरा राष्ट्रवासिनः ।
अन्ध्राश्च द्राविडाः पञ्च विन्ध्यदक्षिणवासिनः ।। (स्क.पु.)

अर्थात्--कर्णाटक देश में बसनेवाले कर्णाटक, तैलंग देश में बसने वाले तैलंग कहे जाने लगे और गुर्जर प्रान्त में बसनेवाले गुर्जर, महाराष्ट्र में बसनेवाले महाराष्ट्र, और द्रविण देश में बसने वाले ब्राह्मण द्राविड़ नाम से प्रसिद्ध हुए।

इन दश नामों के अतिरिक्त और कितने नाम ही ब्राह्मणों की श्रेणियों के हैं। इनकी संख्या भी बहुत अधिक है और प्रतिष्ठा भी है।

पहले भिन्न-भिन्न श्रेणी के ब्राह्मणों में परस्पर विवाह-संबंध होता था और अब भी कहीं-कहीं होता है जहाँ कि प्रान्तों की संधियाँ हैं। किन्तु सामान्य रीति से यह प्रणाली चल गयी है कि जिस देश के ब्राह्मण हैं, वे उसी देश के ब्राह्मणों के साथ विवाह

सम्बन्ध करते हैं। अब यह रूढ़ि-सी हो गयी है, किन्तु जैसाकि शास्त्रियों की व्यवस्था से स्पष्ट है, यह रूढ़ि शास्त्र-मूलक नहीं। एक श्रेणी या प्रान्त के ब्राह्मण को दूसरी श्रेणी या प्रान्त के ब्राह्मण के साथ विवाह-सम्बन्ध करना शास्त्रानुकूल है, इसलिए कि ब्राह्मण-मात्र परस्पर एक ही वर्ण है और शास्त्र में सवर्ण विवाह की ही प्रशंसा है। हाँ, भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विवाह-सम्बन्ध परस्पर उन्हींमें होना चाहिए जो परम्परा से ब्राह्मण माने गये हैं और स्वजाति में व्यवहृत हों और कुलाचार अनुकूल हों।

गौड़-ब्राह्मण-महासभा ने यह निश्चय कर दिया है कि गौड़ों का विवाह-संबंध अन्य पंचगौड़ों के साथ अर्थात् सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल और उत्कल के साथ हो। किन्तु सवर्ण-विवाह की प्रथा को प्रचलित करने के लिए यह आवश्यक है कि इस विषय में शास्त्र क्या उपदेश करता है, इसका ज्ञान सब श्रेणी के ब्राह्मणों में फैलाया जाय और जो इस प्रथा के चलाने में कठिनाइयाँ हों, उनको दूर करने का उपाय सोचा जाय। विवाह का क्षेत्र संकुचित होने के कारण बहुत से ब्राह्मणों को विवाह के विषय में बड़े संकटों का सामना करना पड़ता है और कितनी जगह धर्म के विरुद्ध, न केवल सगोत्र सपिंड में विवाह होने लगा है, किन्तु असवर्ण-विवाह की संख्या भी दिन-दिन बढ़ रही है। इसी प्रकार के संकटों को दूर करने के लिए विद्वानों ने सवर्ण-विवाह की व्यवस्था दी है।'

इस व्यवस्था के बाद मालवीयजी ने स्वयं अपनी पौत्री का विवाह गौड़ ब्राह्मण कुल के वर के साथ कराया है।

हिन्दुओं में बहुत से देवी-देवताओं के सामने पशु-बलि देने की प्रथा प्रचलित है। मालवीयजी ने इसका निषेध करने के लिए सं० १९९२ में अपने विचारों को पुस्तकाकार छपवाकर वितरण कराया।

मालवीयजी का मंत्रों पर भी विश्वास है। वे स्वयं मंत्रों का प्रतिदिन जाप करते हैं। मन्त्र-महिमा में वे लिखते हैं :--

सनातन-धर्म की रक्षा और प्रचार चाहने वाले समस्त सत्पुरुष और सत्स्त्रियों से विनयपूर्वक मेरी प्रार्थना है कि जो लोग वैदिक दीक्षा पा चुके हैं उनको भी गायत्री का जप करने के उपरान्त 'ओ३म नमो नारायणाय' और 'ओ३म नमः शिवाय' इन सार्वजनिक मंत्रों का जप करना चाहिए और प्रत्येक हिन्दू-सन्तान को इन परम कल्याणकारी मंत्रों की दीक्षा लेकर तथा अपने सब भाई और बहिनों को दिलाकर अपना और उनका धार्मिक जीवन पवित्र और प्रकाशमय करना चाहिए, जिससे धर्म में उनकी श्रद्धा बढ़े और दृढ़ रहे। वे अपने देश और समाज में सुख, सम्मान और स्वतन्त्रता से रहें तथा दिन-दिन ऊपर उठें और संसार के अन्य मतों को माननेवाली जातियों की दृष्टि में भी सम्मान के योग्य हों। इससे हमारी आत्मा भी प्रसन्न होगी और सारे जगत् का पिता सब का सुहृद सबको शरण देनेवाला घट-घटव्यापी परमात्मा भी प्रसन्न होगा ।। इति ।।"

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रयाग
माघ कृ० १५ सं० १९८६

मदनमोहन मालवीय

विवाह में करार और बड़ी बरात ले जाने के विरोध में भी मालवीयजी ने बड़ा आन्दोलन उठाया था। उन्होंने इस सम्बन्ध में विद्वानों की सभा की और दोनों कुप्रथाओं को रोकने की शास्त्रीय व्यवस्था दिलायी। इस सम्बन्ध में उनके विचार उन्हींके शब्दों में ये हैं :--

'विवाह धार्मिक संस्कार है। इसका समय से होना अत्यन्त आवश्यक है। कन्याओं के विवाह में विलम्ब होने से माता-पिता

भाई-बन्धु को प्रायश्चित्त लगता है और समाज का बल घटता है। इसलिए समाज की रक्षा और उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि कन्याओं का विवाह समय से हो जाय। यह तभी सम्भव है जबकि विवाह में कम-से-कम व्यय किया जाय।

इस विषय में हमारा धर्मशास्त्र सहायक है। धर्मशास्त्र बतलाता है कि विवाह में पिता-माता-भ्राता आदि की ओर से कन्या का पाणि-ग्रहण विवाह-संस्कार का प्रधान अंग है। इनमें बहुत कम व्यय होता है।

वर-वरण अर्थात् तिलक में एक मुद्रा और एक नारियल तथा कुछ वस्त्र से अधिक देने की आवश्यकता नहीं है। जब वर विवाह करने के लिए कन्या के पिता या भ्राता के घर आये, तब उसको कन्या के पिता या भ्राता की ओर से चार वस्त्र दिये जाने का विधान है। उनमें से दो वस्त्र वर कन्या को पहनने को देता है और दो वस्त्र स्वयं धारण करता है। इसके उपरान्त कुश-जल के साथ कन्या का पिता कन्यादान कर वर को देता है और कन्यादानरूपी इस महादान की सांगता के लिए कुछ स्वर्ण का तथा गो का दान करना आवश्यक है। कन्या के पिता को इतना ही दान देना आवश्यक है। और सब इससे अधिक जो कुछ वर को या कन्या को दिया जाता है वह करनेवाले की शक्ति और इच्छा के ऊपर निर्भर है।

जो वर का पिता तिलक के समय या विवाह के समय कोई रकम लेने का करार करता है उसका शास्त्र में कहीं विधान नहीं है, प्रत्युत इसके विपरीत उसकी घोर निन्दा है। किन्तु करार की कुरीति कई जातियों में और कई प्रान्तों में फैल गयी है। यह नितान्त धर्म के विरुद्ध है और अनेक अनर्थों का मूल है।

कई बिरादरियों की सभाओं ने इसकी घोर निन्दा की है; किन्तु

यह प्रथा अभी बन्द नहीं हुई और बहुत से गृहस्थ इसके दु:सह परिणाम से पीड़ित हो रहे हैं। इनका बन्द करना सब प्रकार से आवश्यक है। शास्त्र में अपत्य-विक्रय की घोर निन्दा है और 'अपत्य' शब्द के अर्थ में कन्या और पुत्र दोनों आ जाते हैं। इसलिए प्रत्येक हिन्दूधर्मानुयायी आर्य-सन्तान को उचित है कि वह लड़के का ब्याह करने में कोई भी रकम लेने का करार न करे। हमारे सनातनधर्म की रक्षा के लिए और सम्पूर्ण हिन्दूजाति के हित के लिए यह आवश्यक है कि करार की प्रथा सर्वथा बन्द कर दी जाय।

शास्त्र को पूर्णरीति से विचारकर काशी के विद्वानों की धर्म-परिषद् यह घोषणा करती है कि करार करके कन्या के पक्ष वालों से तिलक या विवाह के समय कोई रकम लेना धर्म और समाज-हित के विरुद्ध है और लोक-परलोक दोनों को बिगाड़ता है।

जो लोग इस व्यवस्था को जानकर भी रुपया या जायदाद देने का करार कर विवाह करेंगे वे पाप और अपयश के भागी होंगे।

धर्मशास्त्र और लोक-व्यवहार का विचार कर काशी की धर्मपरिषद् यह घोषणा करती है कि विवाह में जहाँतक हो सके कम-से-कम बरातियों को ले जाना चाहिए और जो लोग अधिक बरात ले जाते हैं उनको समाज की तरफ़ से यह निवेदन किया जाना चाहिए कि वे बिरादरी के हित के विचार से बरात में कम-से-कम पुरुषों को ले जायें। और सब प्रकार से आवश्यक ख़र्च बचाने का प्रयत्न करें। इसीमें हिन्दू-जाति का मंगल होगा।

इतिशम्।

सभापति—

पं० मदनमोहन मालवीय

मालवीयजी की राजनीति

मालवीयजी के राजनीतिक कामों की आलोचना करनेवाले कहते हैं कि वे सरकार के खुशामदी रहे हैं। पर अपनी २५ वर्ष की आयु से ७६ वर्ष की आयु तक कांग्रेस के मंच से और सरकार के रूबरू कौंसिलों में बैठकर उन्होंने अंग्रेज़ी सरकार की जैसी कटु आलोचना की है, वैसी इतने लम्बे समय तक एक स्वर से शायद ही किसी ने की होगी। उनके बम के गोले सरकार के पेट में पहुँचकर जब-जब फटे होंगे, तब-तब वह अवश्य ही विष का घूँट पीकर रह जाती रही होगी। लार्ड हार्डिज ने उनपर जैसा सन्देह किया था, वैसा ही राउंडटेबुल कान्फ्रेन्स के अवसर पर रैमज़े मेकडानल ने भी किया था। कहा था—'हम मिस्टर गाँधी को उतना खतरनाक नहीं समझते, जितना आपको।' क्या यह सरकार के किसी खुशामदी के लिए कहा जा सकता है ?

पहले मेरा भी यही खयाल था कि मालवीयजी की राजनीति सामयिक होती है। कभी सरकार का विरोध करके वे जनता की पीठ ठोंक देते हैं और मौक़ा पड़ने पर सरकार की भी खुशामद कर लेते हैं; इस तरह वे अपनी गाड़ी दोनों के बीच में से हाँक ले जाते हैं। पर उनके भाषणों और लेखों को पढ़ने पर मुझे अपनी धारणा बिलकुल ग़लत जान पड़ी। वे शुद्ध देशभक्त हैं और उन्होंने देश की निःस्वार्थ सेवा की है। उनकी कार्य-प्रणाली उनकी अपनी ईजाद है, जिसका हममें से बहुतों को परिचय नहीं।

वे सरकार का विरोध ठोस प्रमाणों को उपस्थित करके करते थे; इससे सरकार उनका लोहा मानती थी और भीतर-ही-भीतर कुढ़कर भी वह बाहर से उनको फुसलाये रखना चाहती थी। पर वे कभी सरकारी प्रलोभन में नहीं फँसे।

व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।

वे स्वभाव ही से मधुरभाषी हैं। इससे उनके भाषणों में कटुता के ऊपर मधुरता का चढ़ाव भी चढ़ा रहता था। इससे सरकार को उस 'शुगरकोटेड' कुनैन के निगलने में मुहँ नहीं बिचकाना पड़ता था, पर भीतर तो उसका असर होता ही था।

मालवीयजी उस समय के नेता हैं और शायद अब वही सबसे प्राचीन भी हैं, जब कांग्रेस के मंच पर साल में एक बार उछल-कूदकर और मेज़ पर ज़ोर-ज़ोर से हाथ पटक-पटककर लोग भाषण दे जाते और फिर सालभर बैठे रहते या अगले वर्ष के भाषण के लिए ख़ूब चुभनेवाले महावरों के जमा करने और लच्छेदार भाषा की तैयारी में लगे रहते थे। मालवीयजी यद्यपि भाषण की कला में अपने समकालीन सभी नेताओं से अधिक निपुण थे, पर भाषण के साथ-साथ वे ठोस काम में भी लगे रहते थे।

यहाँ कांग्रेस के अधिवेशनों में दिये हुए उनके भाषणों के कुछ अवतरण दिये जाते हैं। इनमें देखिए, सरकार के लिए वे कैसे थे—

२८ दिसम्बर, १८८७ को मद्रास में कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा—

'सज्जनो, आप देखते हैं कि पार्लमेण्ट हमारे आय-व्यय पर तथा देश के निचोड़े हुए आठ करोड़ रुपये के व्यय पर न तो ध्यान देगी, न दे सकती है। और यदि आय-व्यय के विषय में यह दशा है तो हमारे अन्य मामलों की सुनवाई कब होगी? इसलिए हम पार्लमेण्ट से अनुरोध करते हैं कि वह हमको अपना प्रबन्ध स्वयं करने की आज्ञा दे।'

२६ दिसम्बर, १८८९ को बम्बई में कांग्रेस के पाँचवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा—

'सन् १८५७ में सेना में दो लाख चौवन हज़ार आदमी थे और वार्षिक सैनिक व्यय साढ़े ग्यारह करोड़ था। और आज की

सेना में पहले की अपेक्षा चालीस हज़ार जवान कम हो गये, और वार्षिक व्यय होगया, इकतीस करोड़ पचास लाख। आपको मालूम है कि इसकी पूर्ति किस प्रकार की जाती है? इसकी पूर्त्ति जनता के लिए पेट्रोल और नमक को अधिक महँगा करके और दुर्भिक्ष तथा अकाल के समय लोगों को भूखों मारकर की जाती है।'

२६ दिसम्बर, १८९० को कलकत्ते में कांग्रेस के छठे अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा—

'ये कष्ट के मारे हुए लोग अपने को और अपनी स्त्री तथा बच्चों को भयंकर जाड़े की रात्रि में घासों से ढकते हैं, और जब अधिक जाड़े के कारण नींद नहीं आती, तब वे उसी घास को थोड़ा जलाकर रात काटते हैं। प्रायः सरकारी कर्मचारियों के जाड़े के दौरे के समय उनके चौपायों के चारे के लिए वह भी छीन लिया जाता है। ऐसी अवस्था में वायसराय की परिषद् के सदस्यों ने यह कहा है कि बारह आने प्रतिवर्ष का अधिक भार उनके कष्टों में तनिक भी वृद्धि नहीं करेगा। सज्जनो! क्या आप सोच सकते हैं कि प्रजा का तनिक भी बस हो तो इस प्रकार के सदस्य नियुक्त हो सकेंगे?'

२८ दिसम्बर, १८९१ को नागपुर में कांग्रेस के सातवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा—

'सरकार ने देश की गरीबी मिटाने के लिए क्या सुधार किया? हाँ, कभी-कभी वह सैर करने और रिपोर्ट लिखने के लिए कमीशन नियुक्त कर दिया करती है। पर उनकी लम्बी रिपोर्ट किस काम आती है? सेना के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए 'शिमला आर्मीज़ कमीशन' बैठा, पब्लिक सर्विस कमीशन बैठा, फ़ाइनेंस कमिटी बैठी; फल क्या हुआ? हाँ, योग्यता के साथ अच्छी लिखी हुई और उत्तम छपी हुई और जिल्द बँधी

हुई रिपोर्ट हमें अवश्य मिल गयी ।'

'फौज में जितनी अच्छी-अच्छी नौकरियाँ हैं, जो ऊँची-ऊँची तनख्वाहों के ओहदे हैं, वे सब अंग्रेज़ों को सौंपे जाते हैं। ऐसा क्यों किया जाता है ? इसलिए नहीं कि अंग्रेज़ भारतीयों की अपेक्षा अधिक बलवान अथवा योग्य होते हैं, और इसलिए भी नहीं कि भारतीयों की अपेक्षा वे अधिक बहादुर होते हैं, बल्कि इसलिए कि भारतीयों की अपेक्षा उनका रंग अधिक गोरा होता है ।'

२८ दिसम्बर १८९२ को प्रयाग में, कांग्रेस के आठवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा—

'यह बात एकदम अन्यायपूर्ण है कि इस देश के युवक अपने देश में नौकरी करने के लिए परीक्षा पास करने दस हज़ार मील देश से बाहर भेजे जायँ ।'

२७ दिसम्बर, १८९३ को लाहौर में कांग्रेस के नवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा —

'अन्याय दुःख और दर्द इन (अंग्रेजों) के शासन में बढ़ रहा है ।

यदि उनको (अंग्रेज़ों को) ईश्वर में विश्वास हो कि इस देश के दायित्व का हिसाब उन्हें ईश्वर के सामने देना होगा तो उनको जीवन में एक बार इस देश में अवश्य आना चाहिए । और गाँव-गाँव में जाकर नगर-नगर में घूमकर उन्हें यह देखना चाहिए कि लोग कैसा कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं । गदर के पहले यह देश कैसा था ? तब के जुलाहे कहाँ हैं ? वे कारीगर कहाँ हैं ? और वे देशी बनी वस्तुएँ कहाँ हैं जो हरसाल अधिकाधिक परिमाण में इंग्लैंड और विदेशों को जाती थीं ? यहाँ बैठे हुए सभी लोग विलायती वस्त्र पहने हैं । और जहाँ कहीं आप जाइए, विलायत की बनी चीज़ें और विलायती सामान आपकी ओर घूरते दिखायी पड़ेंगे ।'

२७ दिसम्बर, १८९५ को पूना में कांग्रेस के ग्यारहवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा—

'अंग्रेज जाति को हमारे हितों का वैसा ध्यान नहीं, जैसा वह अपने हितों में रखती है। यह एक ध्रुव सत्य है कि वे अपने हित में इतने तल्लीन हैं कि इस देश की बातो पर उचित रीति से विचार करने के अयोग्य हो गये हैं।'

२८ दिसम्बर, १८९६ को कलकत्ते में कांग्रेस के बारहवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा था—

'भारत-सरकार का व्यवहार अधिकाधिक लगान बढ़ानेवाले ज़मींदार का-सा है, जो अपने असामियों के पास उसके परिवार तथा उसीके निर्वाह भर के लिए छोड़ देता है और उसकी इच्छा प्रत्येक समय यही रहती है कि वह रात दिन अधिकाधिक लगान देने के लिए परिश्रम करे।'

२७ दिसम्बर, १८९७ को अमरावती में कांग्रेस के तेरहवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा था—

'मैं अपने कट्टर से कट्टर विरोधी से पूछता हूँ कि वे अपनी आत्मा से पूछें, हमारा प्रस्ताव उचित और न्यायपूर्ण है कि नहीं? हमारा कथन क्या है ? हमारा कथन है कि भारत के बड़े लाट की परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति सीधे भारतीयों द्वारा हो। हमारा कहना है कि सार्वजनिक नौकरियों के ऊँचे-ऊँचे पदों पर यूरोपियनों की जगह भारतीयों की नियुक्ति करने से शासन अधिक अच्छा होगा और व्यय में भारी कमी संभव हो सकेगी।'

२७ दिसम्बर १९०० को लाहौर में कांग्रेस के सोलहवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा था—

'इंग्लैंड और अन्य विदेशी कारखानों के सस्ते माल ने भारतीय उद्योग-धंधों को समूल नष्ट कर दिया है।'

२६ जनवरी, १९०४ को बम्बई में कांग्रेस के बीसवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा था—

'सरकार हमारी योग्यता और कार्य की कोई क़ीमत न कर, एक दलित जाति की भाँति हमारे साथ व्यवहार करके और जाति-भेद को हमारी योग्यता के मार्ग में बाधक बनाकर हमारी भावनाओं और आशाओं को कुचलती जा रही है।'

२७ दिसम्बर, १९०५ को काशी में कांग्रेस के इक्कीसवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा था—

'हमें स्वदेशी को बहिष्कार के साथ नहीं मिलाना चाहिए। बंग-भंग तो अभी थोड़े ही समय से हुआ है। मेरा स्वयं अनुभव है कि स्वदेशी-आन्दोलन को तीस वर्ष हो गये। जब मैं स्कूल में था, तभी इसकी शिक्षा मुझे दी गयी थी और मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता और गर्व है कि इससे मुझे बहुत लाभ हुआ है। इसको मैं कालेज ही से ग्रहण किये हुए हूँ।'

३१ जनवरी, १९१७ को मद्रास में मालवीयजी ने कहा—

'हम लोगों की आँखों में धूल झोंकी जा रही है। हमसे यहाँ तक छिपाया जा रहा है कि लार्ड हार्डिंज ने भारत के सुधारों का जो ख़रीता भारत-मंत्री के पास भेजा, उसमें क्या है?'

'हमें यह भी विदित है कि इस देश से सम्बन्ध न रखनेवाले कुछ लोग भी बहुत दिनों से इस बात के उद्योग में लगे हुए हैं कि साम्राज्य का संघटन किस प्रकार किया जाय। आप जानते ही हैं कि गोलमेज़ क्या है।'

'हरएक समझदार मनुष्य यह मानने को तैयार है कि विदेशी शासन अनुचित है।'

'हमारा कहना यह है कि यदि विदेशी शासन रहना चाहे तो उसे अपना अस्तित्व सिद्ध करना पड़ेगा।'

१० जुलाई, १९१७ को मालवीयजी ने 'सर्वेंट आफ इंडिया सोसाइटी' (बम्बई) में दी हुई वक्तृता में कहा--

'जिले-जिले में कांग्रेस कमेटियाँ स्थापित करना, गाँव-गाँव में स्वराज्य का ज्ञान पहुँचाना, और घर-घर तथा झोपड़े-झोपड़े में इसका संदेश फैलाना हमारा कर्त्तव्य है। यह बहुत जरूरी है कि देश के कोने-कोने से, घर-घर से और प्रत्येक मनुष्य के कण्ठ से अपने स्वत्व के लिए आवाज़ उठे।'

'प्रस्ताव पास करके छोड़ रखने के दिन अब गये, अब दृढ़तापूर्वक काम करने ही में अपनी कर्म-सिद्धि है।'

२ अगस्त, १९१७ को प्रयाग की एक सार्वजनिक सभा में मालवीयजी ने कहा—

'हमें आन्दोलन, निरन्तर सार्थक आन्दोलन करना चाहिए। यदि हम भ्रम के भूत से न डरें, जो कायरता के फंदे में फँसाकर हमें गुलाम बनाये रखता है तो सफलता दूर नहीं। हमें पुरुषों की भाँति पग बढ़ाना चाहिए।'

८ अक्तूबर. १९१७ को प्रयाग में 'होमरूल लीग' की एक सभा में मालवीयजी ने कहा—

'यह एक दम अस्वाभाविक बात है कि एक देश दूसरे देश पर सदा शासन ही करता रहे।'

२६ दिसंबर, १९१८ को दिल्ली में कांग्रेस के अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा—

'राज्य-शासन व्यर्थ ही बहुत ख़र्चीला है। फ़ौजी और मुल्की नौकरियों में अंग्रेजों को बहुत बड़े-बड़े वेतन दिये गये और देश का वह सब रुपया नष्ट हो रहा है, जो उसके बच्चों को मिल सकता था।'

१९३१ में कराँची में कांग्रेस के अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा—

'हमारे नौजवानों को सबसे बड़ी अगर कोई बात चुभती है तो वह है हमारे देश में विदेशी राज्य। नौजवान एक क्षण के लिए भी यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि यहाँ विदेशी राज्य हो। वे इसी उधेड़-बुन में रहते हैं कि किसी प्रकार हम अपने देश को स्वतंत्र करें।'

'जो मुल्क में स्वतंत्रता क़ायम करने के लिए फाँसी पर चढ़ जाने को तैयार हैं, मैं अपने ऐसे नौजवानों की तारीफ़ करता हूँ।'

'सबका यह संकल्प होना चाहिए कि हम जल्द से जल्द उस काम को पूरा करें जिस काम के लिए भगतसिंह ने अपने जीवन का बलिदान किया है। उसकी सबसे प्रबल इच्छा यह थी कि जल्दी से जल्दी विदेशी राज्य बदल दें।'

१९३२ में कलकत्ते में कांग्रेस के सैंतालीसवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा था—

'सरकार की वर्तमान नीति को नैतिक समर्थन प्राप्त नहीं है। और राजनीतिक दृष्टि से भी वह बुद्धि-संगत नहीं है।'

'भारत और इंग्लैंड का संबंध विरक्त आधार पर स्थित है। अंग्रेज जाति और अंग्रेजी पार्लियामेंट ने यह सोच लिया है कि उन्हें भारत पर शासन करने का नैतिक अधिकार है, जिसका अर्थ अपने राष्ट्र की उन्नति के लिए भारत को लूटना है।'

२८ दिसंबर, १९३६ को फैज़पुर कांग्रेस के इक्यावनवें अधिवेशन में मालवीयजी ने कहा था—

'हम अंग्रेजी राज्य सहन नहीं कर सकते। हम अपना शासन अपने आप कर सकते हैं। शासन करने की हमारी शक्ति क्षीण नहीं हो गयी है, जो हमारे पूर्वजों में थी। संसार के सभी देशों ने यहाँ तक कि मिश्र ने भी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, किन्तु क्या कोई भी भारतीय ऐसा है, जिसका हृदय भारतवर्ष की दुर्दशा देखकर

बार-बार न रोता हो ? सामर्थ्य और बुद्धि रखते हुए भी हम लोग अंग्रेजों के गुलाम हैं, क्या हमें लज्जा नहीं आती ?'

'हम ब्रिटेन की मित्रता चाहते हैं। यदि ब्रिटेन हमारी मित्रता चाहता है तो हम तैयार हैं; किन्तु यदि वह हमें अपने अधीन रखना चाहता है तो हम उसकी मित्रता नहीं चाहते ?'

'मैं पचास वर्ष से कांग्रेस के साथ हूँ। संभव है, मैं बहुत न जिऊँ और अपने जी में यह कसक लेकर मरूँ कि भारत अभी भी पराधीन है। फिर भी मैं यह आशा कर सकता हूँ कि मैं इस भारत को स्वतंत्र देख सकूँगा।'

'आप स्मरण रक्खें कि अंग्रेज जबतक आपसे डरेंगे नहीं, तबतक यहाँ से नहीं भागेंगे।'

'अपनी कायरता को दूर भगा दो, बहादुर बनो और प्रतिज्ञा करो कि आज़ाद होकर ही हम दम लेंगे।"

जनवरी सन् १९३२ में मालवीयजी ने वाइसराय को एक लंबा पत्र लिखा था। उसमें वे लिखते हैं:—

'श्रीमन्! आप जानते थे कि गांधीजी वर्तमान समय के भारतवर्ष के सबसे महान् पुरुष हैं; भारतवर्ष के असंख्य नर-नारियों द्वारा अपने जीवन की पवित्रता और निःस्वार्थता तथा देश एवं मानवता के हितों की अलौकिक भक्ति के लिए पूजे जाते हैं; और संसार के सभी भागों में उनका आदर होता है।

'आपके गांधीजी से मिलने को अस्वीकार कर देने से देश में भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है। यह दुःख का विषय है कि आपने इस बात का अनुभव नहीं किया कि देश की सरकार के वर्तमान अध्यक्ष आपसे मिलने की शिष्टता की आशा करने का ऐसे महापुरुष को अधिकार था। उस शिष्टता का त्याग करके आप दिल्ली के समझौते से निर्धारित मार्ग से विमुख हुए हैं।

इससे आपने भारतवर्ष का राष्ट्रीय अपमान भी किया है।'[१]

२८ फरवरी १९३२ को मालवीयजी ने लंडन के तीन प्रमुख पत्रों को समुद्री तार से भारत की तत्कालीन परिस्थिति का एक विस्तृत विवरण भेजना चाहा, पर तार-घर में वह लिया जाकर भी कई कारण बताकर वापस कर दिया गया। तब मालवीयजी ने उसे स्वयं छपवाकर वितरण करा दिया। उसमें उन्होंने बड़े ही ज़ोरदार शब्दों में सरकार को चेतावनी दी थी। उसका एक अंश यह है :—

'सारा देश तीव्र असन्तोष की ज्वाला में जल रहा है। जो लोग कांग्रेसवादी नहीं हैं और जिन्होंने अबतक राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खा है, वे भी आन्दोलन से सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं और यथासंभव उसकी सहायता कर रहे हैं। वाणिज्य-

---

१. "Your Excellency knew that Mr. Gandhi is the greatest Indian living, that for the purity and unselfishness of his life and his high souled devotion to the cause of his country and of humanity, he is adored by countless millions of India and widely respected in all parts of the world.

"Your refusal to see him might lead to a terrible situation arising in the country. It is a calamity that Your Excellency did not realise that such a man had a right to expect the courtesy of an interview from your Excellency as the head for the time being of the Government of the country. The refusal of that courtesy was a flagrant departure from the path of conciliation laid out through the Delhi Pact. More than that it was a national affront to India,"

व्यवसाय नष्ट हो रहा है। सरकार की प्रतिष्ठा कम हो गयी है। सरकार का आर्थिक दिवाला हो रहा है। जनता के देश की स्वतंत्रता प्राप्त करने के निश्चय को कुचलनेवाली सरकार की वर्तमान नीति की पर्याप्त परीक्षा हो चुकी है, और वह सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हुई है।'[१]

१९०९ में प्रांतीय व्यवस्थापक सभा से दो मेम्बर चुनकर भारतीय व्यवस्थापक सभा में भेजे जाने का नियम बना। दो मेम्बरों में से एक मालवीयजी चुने गये। तबसे वे बराबर उक्त कौंसिल के मेम्बर होते रहे।

कौंसिल में रहकर मालवीयजी ने प्रेस ऐक्ट, शर्तबंद कुली-प्रथा, रौलट बिल, क्षमा-विधान, नमक-कर, सोने की दर और वस्त्र-व्यवसाय-रक्षण आदि बिलों पर सरकार की बड़ी खरी आलोचनायें कीं। पर सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति में कोई अंतर नहीं पड़ा, इससे उन्होंने १९३० में इस्तीफ़ा दे दिया।

कौंसिल में उन्होंने सदा प्रजा का पक्ष लिया और सरकार का ऐसा विरोध किया, जैसा शायद ही किसी मेम्बर ने किया होगा।

---

१. "The country as a whole, is seathing with bitter discontent. Even those who are not congressmen and who so for never concerned themselves with politics, are sympathising with the movement and helping it where they can. Trade and business are being ruined. The prestige of the Government has been lowered as never before. Financial bankruptcy is overtaking the Government. The present policy has now been sufficiently tried and proved to be utterly ineffective for suppressing the determination of the people to win freedom for their country."

कौंसिल में वे कैसे प्रभावशाली माने जाते थे, इसके लिए एक उदाहरण काफी होगा। ड्यूबोले लार्ड रीडिंग का प्राइवेट सेक्रेटरी था। वह मालवीयजी का बहुत आदर करता था। कौंसिल में 'स्वराज्य' पर मालवीयजी के बोल चुकने के बाद वह उनसे मिला और उसने कहा—पहले हमको यह समझाइए कि आप स्वराज्य के उपयुक्त हैं भी।

इसपर मालवीयजी ने कहा—बैठिए, मैं बात करूँगा।

उसने कहा——आपसे बात करने में मुझे डर लगता है कि कहीं मैं आपकी बात मान न लूँ।

इन अवतरणों की मौजूदगी में मालवीयजी को सरकार का ख़ुशामदी समझना कहाँ तक सच होगा, यह विचारने की बात है।

फिर मालवीयजी की राजनीति के सम्बन्ध में ऐसा भ्रम फैला कैसे? यह समझ की त्रुटि है। हमने मालवीयजी की कार्य-प्रणाली पर ग़ौर नहीं किया। बात यह है कि, वे एक नीति-कुशल नेता हैं। सरकार हो या जनता, जिससे देश का कल्याण मिला है, उसीसे उन्होंने उसे लिया है। जनता में विदेशी सरकार के विरुद्ध जाग्रति उत्पन्न करके वे उसे बलिष्ठ भी बनाते रहे हैं और इधर सरकार से जनता को जो लाभ मिल सकता था, लेकर उसे देते भी रहे हैं।

गांधीजी और मालवीयजी

हमारे दोनों मान्य नेताओं में प्रगाढ़ प्रेम है। यद्यपि दोनों का लक्ष्य एक है, फिर भी दोनों के रास्ते जुदा-जुदा हैं। दो शब्दों में यदि उनकी व्याख्या स्वीकार की जासके तो मैं कहूँगा कि गांधीजी ने अबतक 'प्रयोग' किया है और मालवीयजी ने 'उपयोग' किया है। मीठा या खट्टा कैसा भी दही सामने आया, मालवीयजी ने उसको बिलोकर उसका सार ले लिया, और बाँट दिया है।

गांधीजी अपने को 'बनिया' तो कहते हैं, पर बनिये का वास्तविक

काम तो मालवीयजी ने किया है। गाँधीजी तो वास्तव में ब्राह्मण का काम कर रहे हैं। सत्य और अहिंसा ब्राह्मणों के शस्त्र हैं।

गाँधीजी और मालवीयजी की तुलना की ही नहीं जा सकती। दोनों स्पष्टतः दो हैं।

गाँधीजी सन्त हैं। मालवीयजी गृहस्थ संन्यासी हैं।

गाँधीजी सत्य-अहिंसा की कसौटी पर कसकर तब आगे क़दम रखते हैं। मालवीयजी की नीति, मेरी समझ में, भागवतकार के शब्दों में यह रही है :—

'यत्सारभूतं तदुपासनीयम्'।

उनके जीवन के समस्त कार्यों में मुझे उनकी इसी नीति का नेतृत्व दिखायी पड़ता है।

यद्यपि गाँधीजी और मालवीयजी हमारे दोनों नेता अंग्रेजों के स्वभाव और अंग्रेजी गवर्नमेंट की बनावट से पूर्ण परिचित हैं, पर गाँधीजी अपने प्रयोगों द्वारा उनके हृदय-परिवर्तन की सीमा तक पहुँचकर स्वराज्य पाने की आशा रखते हैं; और मालवीयजी की नीति यह रही है कि जितना मिले, उतना लेकर अपने को कुल के लिए तैयार करते रहो और बाक़ी के लिए झगड़ते रहो।

मेरा ख़याल है कि मालवीयजी को अंग्रेजों के हृदय-परिवर्तन की आशा कभी नहीं थी। फ़ैजपुर कांग्रेस के अपने भाषण में उन्होंने साफ़-साफ़ कहा भी है कि 'अंग्रेज जबतक आपसे डरेंगे नहीं, तबतक यहाँ से भागेंगे नहीं'।

राम ने भी समुद्र के हृदय-परिवर्तन के लिए धरना दिया था। पर अन्त में उनको कहना ही पड़ा—

विनय न मानत जलधि जड़, गये तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति॥

प्रीति भय के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती, यह प्राकृतिक नियम-सा है।

और गवर्नमेंट जिस वस्तु का नाम है उसमें हृदय होता ही कहाँ है ? उसमें तो नीचे से ऊपर तक दिमाग़ ही दिमाग़ है । उसे जादू कहिए या माया; जिसका न कोई रूप है, न रंग; जो न काली है न गोरी; न बुढ़िया है, न जवान; लेकिन उसका हरएक पुर्जा उसीका गुलाम होता है। भारत पर गवर्नमेंट के नाम से, समूची अंग्रेज-जाति राज कर रही है, न कि कोई एक अंग्रेज । अतएव समूची जाति का हृदय-परिवर्तन असंभव नहीं, तो कष्ट-साध्य अवश्य है ।

लार्ड लिनलिथगो चाहे कितने ही नेक, दयालु और न्याय-प्रिय हों, पर वायसराय वायसराय ही होगा । लार्ड लिनलिथगो का हृदय-परिवर्तन हो सकता है, पर वायसराय का नहीं; क्योंकि उसके पास हृदय नहीं होता । वह अंग्रेज़-जाति का कल्याण पहले सोचेगा, अपना व्यक्तिगत शायद कभी नहीं ।

दिमाग़ ज़रूर उसके पास होता है और वह केवल भय से बदल सकता है, जो गाँधीजी के पास है तो सही, पर वे उसका प्रयोग नहीं करेंगे । अस्तु; जो हो, गाँधीजी का प्रयोग यदि सफल होता है तो वह संसार की काया-पलट कर देगा और मनुष्य-जीवन का एक अद्भुत चमत्कार कहा जायगा ।

मालवीयजी ने इस तरह का प्रयोग कभी नहीं किया । अत-एव गाँधीजी के जीवन को सामने रखकर हमें मालवीयजी के जीवन को देखना ही नहीं चाहिए ।

कुछ विषयों में राजनीतिक और व्यावहारिक मतभेद होते हुए भी गाँधीजी और मालवीयजी में प्रगाढ़ प्रेम है । दोनों का लक्ष्य एक है, रास्ता जुदा है, पर इसका कोई प्रभाव उनकी व्यक्तिगत मैत्री में नहीं दिखायी पड़ता । दोनों एक दूसरे को खूब चाहते हैं, और दोनों एक दूसरे के विचारों का भार वहन करने में आनन्द अनुभव करते हैं । एक उदाहरण लीजिए:—

२९ अगस्त, १९३१ को 'राजपूताना' जहाज से गाँधीजी और मालवीयजी साथ ही साथ राउंड टेबुल कान्फ्रेंस में शरीक होने के लिए विलायत गये थे। उसी जहाज से आर० टी० सी० के और भी बहुत से मेम्बर गये। भोपाल के नवाब भी थे। वह गाँधीजी और मालवीयजी से विचार-विनिमय करके हिन्दू-मुसलिम समझौते के लिए प्रयत्नशील थे।

९ सितम्बर, १९३१ को भोपाल ने गांधीजी को राज़ी करना चाहा, पर गाँधीजी ने कांग्रेस की राष्ट्रीय माँग ही पर ज़ोर दिया। तब १० सितम्बर को भोपाल ने मालवीयजी को अलग फोड़ना चाहा। मालवीयजी ने कहा—जीवन-मरण का प्रश्न है, मैं लन्दन इसलिए नहीं आया कि पौने सोलह आना लेकर जाऊँ। गाँधीजी का साथ मैं हर्गिज़ नहीं छोड़ूंगा। भोपाल ने कहा—फिर तो बात टूटेगी। पण्डितजी ने कहा—चाहे जो हो।[1]

१२ सितम्बर को गाँधीजी इंग्लैण्ड पहुँचे। पहुँचते ही एक सभा में, जिससे १५०० के लगभग आदमी जमा थे, उनका स्वागत हुआ। हज़ारों सूट-बूट और हैट-धारियों के बीच में, विलायत की भयंकर सर्दी में, जबकि पारा ४६ डिग्री पर था, एक अर्द्धनग्न, कमली ओढ़े हुए भारतीय तपस्वी ने अपना भाषण दिया, तब अंग्रेज़ मुग्ध हो गये। सभा की समाप्ति पर मालवीयजी बिड़लाजी से कहने लगे—गाँधीजी के शरीर की मुझे बड़ी चिन्ता है। यह कपड़े नहीं पहनते, कहीं इनको कुछ हो न जाये। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि रोग हो तो मुझे हो, मौत आये तो मुझे आये।[2]

---

१. दे० श्री घनश्यामदास बिड़ला की 'डायरी के कुछ पन्ने', पृष्ठ २६

२. दे० श्री घनश्यामदास बिड़ला की 'डायरी के कुछ पन्ने', पृ० ३१

अब दूसरी ओर देखिए ।

आर० टी० सी० में अंग्रेज़ों की कूटनीति से हिन्दू-मुसलमानों में समझौता नहीं हो सका । मुसलमानों की तो थाह ही नहीं मिलती थी । कभी कोई माँग पेश कर बैठते, कभी कोई । गाँधीजी अपनी राष्ट्रीय माँग पर अड़े रहे । मालवीयजी हिन्दू-सभा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे । इसपर कुछ हिन्दुओं ने गाँधीजी को कहा कि हम आपको लिखकर दे सकते हैं कि आप मुसलमानों के साथ जैसा मुनासिब समझें, समझौता कर लें । इसपर गाँधीजी ने कहा--जबतक मालवीयजी और डा० मुंजे लिखकर नहीं दे देते, तबतक मैं नहीं कर सकता । यहाँ उनके दस्तखत के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता ।[1]

इस प्रकार दोनों दो हैं और दोनों एक हैं । ऐसा अद्‌भुत समन्वय संसार के दो महान् व्यक्तियों में बहुत कम देखने में आयेगा ।

दोनों एक दूसरे के लिए कितने चिंतित रहते हैं, यह दिखाने के लिए हम गांधीजी के एक पत्र की पूरी नक़ल यहाँ दे रहे हैं । पत्र १९२७ ई० का है ।--

पूज्य भाई साहेब,

आपके स्वास्थ्य के लिए कुछ चिंता रहती है । जब तार पढ़ा तब मैंने दिल्ली तार भेजा था परन्तु उसका कुछ उत्तर नहीं आया । उसके बाद आपका ही तार अखबारों में पढ़कर कुछ शांति हुई ।

हिमालय में आराम लेने के बारे में आपने शिमले से आयुर्वेद में से कुछ श्लोक भी भेजे थे, भला आपकी शिक्षा का पालन आप न करेंगे तो दूसरा आपकी आज्ञा का पालन कैसे करेगा ? मैंने

---

१. दे० श्री घनश्यामदास बिड़ला की 'डायरी के कुछ पन्ने', पृ० १२५

तो कह दिया है मुझे कुछ नया कहने का नहीं है अब मुझको ईश्वर ले जाय तो अच्छा ही है आपको तो शतायु होना होगा क्योंकि प्रतिज्ञा है, परन्तु आप स्वशरीर का रक्षण नहीं करेंगे तो सौ वर्ष तक आप कैसे रहेंगे और सेवा करेंगे ? आपको आराम लेना चाहिए ।

आपका

(ह०) मोहनदास

मनुष्य-बीज

बीज जब मिट्टी के भीतर पहुँचकर अपने को गला देता है, तब धरती, पानी, हवा, सूर्य और आकाश सभी उसके आज्ञानुवर्ती हो जाते हैं । वह जो रस माँगता है, मिट्टी वही रस देती है । जो रंग माँगता है, सूर्य वही रंग देता है । जो आकार चाहता है, आकाश उसके लिए वैसा ही स्थान देता है । मालवीयजी की दशा ठीक बीज की-सी है । शताब्दियों बाद हिन्दू-जाति में यह बीज पड़ा है । अब स्वभावतः जाति के सूर्य, जल, वायु, धरती और आकाश रूपी लोग इस मनुष्य-बीज के आज्ञानुवर्ती तो हो ही जायँगे । अतएव ग़रीब से लेकर राजा-महाराजा और धनियों तक का आकर्षण मालवीयजी पर स्वाभाविक है, किसी बाहरी प्रेरणा का फल-स्वरूप नहीं ।

जीवन-चरित की उपयोगिता

मेरा विश्वास है कि मालवीयजी के जीवन की साधारण जानकारी भी प्राप्त करके हिन्दू-जाति का बहुत बड़ा कल्याण होगा । महापुरुषों के जीवन-चरित से हमको सहज में अपने जीवन का मार्ग दिखलाई पड़ने लगता है और जीवन को कल्याणमय बनाने के साधनों से हम अनायास परिचित हो जाते हैं । इसी से विद्वानों ने कहा है :—

अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ।।

'सदा सत्पुरुषों के बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए । यदि अच्छी तरह चलने की शक्ति न हो तो थोड़ा ही चले; मार्ग पर चलता रहनेवाला नाश को नहीं प्राप्त होता ।'

मालवीयजी अब उस सीमा पर पहुँच गये हैं, जहाँतक पहुँचते-पहुँचते उनके अन्तर्जगत के समस्त सद्गुण उनके बहिर्जगत में आकर विकसित हो रहे हैं। उनके जीवन में त्याग, शील, गुण और कर्म सभी सम्पत्तियाँ मौजूद हैं, जो एक महान् पुरुष के जीवन में संचित होती हैं । उनका जीवन अग्नि में तपाये हुए विशुद्ध सुवर्ण की तरह कान्तिमान् दिखाई पड़ रहा है ।

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणाच्छेदन-ताप-ताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ।।

'जैसे घिसने, काटने, तपाने और कूटने से सुवर्ण की परीक्षा होती है, उसी प्रकार त्याग, शील, गुण और कार्य से पुरुष की परीक्षा होती है ।'

मालवीयजी कठोर-से-कठोर परीक्षाओं में खरे उतरे हैं ।

नीति के एक अन्य श्लोक के भी सब भाव मालवीयजी में मिलते हैं—

प्रस्ताव-सदृशं वाक्यं, स्वभाव-सदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्ति-समं कोपं, यो जानाति स पंडितः ।।

'प्रसंग के अनुसार बोलना, स्वभाव ही से प्रिय बनना और अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करना जो मनुष्य जानता है, वह पंडित है ।'

भर्तृहरि ने महात्मा का प्रकृति-सिद्ध लक्षण यह बताया है :—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्-पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृति-सिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

'विपत्ति में धैर्य, सम्पत्ति में क्षमा, सभा में वाक्पटुता, युद्ध में पराक्रम, यश में रुचि और शास्त्र सुनने में सुरुचि, ये गुण महात्माओं म स्वभाव ही से होते हैं।'

ये सभी गुण मालवीयजी के जीवन में बीज रूप से वर्तमान थे।

जीवन-दाता

ऐसे महान् पुरुष कहीं शताब्दियों में एक उत्पन्न होते हैं। मैंने हिन्दू-जाति के पिछले इतिहास पर दृष्टि डाली तो गत तीन सौ वर्षों में तुलसीदास, दयानन्द, गाँधीजी और मालवीयजी, ये ही चार महान् पुरुष ऐसे दिखाई पड़े, जिन्होंने हिन्दू-जाति के समस्त अंगों के कल्याण के लिए अपने जीवन की सारी शक्तियाँ दान की हैं।

तुलसीदास ने हिन्दू-जाति को रामचरितमानस-रूपी एक ऐसा अक्षय दीपक प्रदान किया है, जो उसके जीवन के अंधकारमय पथ के गड्ढों से उसको सावधान करता रहता है।

स्वामी दयानन्द ने सोयी हुई हिन्दू-जाति को जगाकर उसकी कमज़ोरियों मे उसे उसके आगाह कर दिया और उसे उसके प्राचीन गौरव की याद दिलाकर उसे प्राप्त करने को उत्साहित किया है।

और गाँधीजी स्वामी दयानन्द ही के बताये हुए रोगों और उनके निदानों को लक्ष्य में रखते हुए उसकी चिकित्सा में लगे हैं। इन्होंने इतना और किया है कि तुलसीदास को भी साथ रक्खा है, जो स्वामी दयानन्द को लाभप्रद नहीं जँचे थे।

मालवीयजी इन तीनों के संमिश्रण हैं।

तुलसीदास का प्रयत्न निरंतर जारी है। उसमें कभी कोई विचार बाधक नहीं हो सका है और न होगा। इसी प्रकार मालवीयजी का प्रयत्न हिन्दुओं में अन्तर्बल बढ़ाने की ओर अविराम गति से चल रहा है। हिन्दू-विश्वविद्यालय तुलसीदास के रामचरित-मानस का एक स्थूल विकास है। समय आयेगा, जब

इस विद्यालय से हिन्दुत्व की सूखी हुई नसों में नवीन रक्त का संचार होगा और हिन्दू-जाति फिर अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त कर लेगी।

संसार ग़रीबों का है

संसार को तो ग़रीबों ही ने सुन्दर बनाया है। भगवान ने तो एक अभिमानी धनी की तरह सुख और सौंदर्य को पृथ्वी पर बेहिसाब उँड़ेल दिया था।

क्या प्राकृतिक, क्या मानसिक, सभी सौंदर्य पृथ्वी पर बिखरा हुआ पड़ा था। ग़रीबों ने उसमें हाथ लगाया और बिखरे हुए को समेटा, सबको छाँट-छाँटकर अलग किया। फूलों को क्यारियों में लगाया, वृक्षों को पंक्तिबद्ध किया. घास से लॉन बनाया, रास्ते बनाये, कंकड़ उठा-उठाकर उनपर बिछाये और कूट-पीटकर सड़कें बनायीं। ईंटें तैयार कीं, पत्थर की शिलायें तोड़ीं, लोहा निकाला, उसकी कड़ियाँ ढालीं और फिर उनको जोड़-बटोरकर आलीशान इमारतें बनादीं। उन्हींने रुई, ऊन और रेशम की खोज की और उनसे तरह-तरह के कपड़े तैयार किये। अन्न, दूध, घी, गुड़, चीनी सब उन्हींका आविष्कार तो है। कहाँ तक गिनाया जाये, संसार का सारा सुख और सारा सौंदर्य ग़रीब का दान है, जिससे मनुष्य-समाज कभी उऋण हो ही नहीं सकता। धनी तो सुख और सौंदर्य का भोग-मात्र करता है, वह निर्माण नहीं करता। भोग भोगकर वह सबको बिगाड़ता चलता है और ग़रीब उनको फिरसे बना-बनाकर संसार का सुख और सौंदर्य क़ायम रखता है। उसका कर्म-मय जीवन संसार के लिए कितना मूल्यवान् है!

इसी तरह मानस-जगत् का सुख-सौंदर्य भी ग़रीबों ही की देन है। हमारे ऋषियों और मुनियों से अधिक ग़रीब शायद ही पृथ्वी पर कभी कोई हुआ हो। बन-फल और कंद-मूल, नदी

का जल, तुम्बे का पात्र, मृग-चर्म और कुश की साथरी इससे सस्ते पदार्थ और क्या होंगे ? इन पदार्थों से जीवन की रक्षा करके वे मानस-जगत् को सुखी और सुन्दर बनाने में हजारों वर्ष लगे रहे। उन्होंने मन के विकारों का वर्गीकरण करके जीव के चलने के लिए सड़कें बनायीं, विकारों के स्वाद और उनके गुण बताये, शब्द और उनके अर्थ निर्माण किये और अन्तर्जगत के साथ बाह्य जगत के सुख और सौंदर्य को ग्रहण करने की कला हमें प्रदान की। वे ग़रीब न बने होते तो अन्तर्जगत् का इतना विभव हमें किससे प्राप्त हुआ होता ?

और सबसे विलक्षण बात तो यह है कि उन्होंने मनुष्य-जीवन में ईश्वर का आविष्कार किया है। उनके इस आविष्कार ने दुःख से दग्ध, ताप से पीड़ित, चिन्ता से मूर्च्छित और निराशा से मृत-प्राय मनुष्य-समूह में आशा का संचार किया, जिसने विनय, नम्रता, सहिष्णुता और अहिंसकता को जन्म दिया। इस तरह बाहर और भीतर दोनों स्थानों में ग़रीबों ही का चमत्कार दिखाई पड़ रहा है।

तुलसीदास बड़े ही ग़रीब थे, उनके हाथ से भगवान ने रामचरित-मानस-जैसा एक अनमोल रत्न दान कराया, जिसके लिए राजा-महाराजा सभी हाथ फैलाये रहते हैं। गाँधीजी अपनी इच्छा से ग़रीब बन गये हैं और आज वे पृथ्वी पर सबसे महान् व्यक्ति हैं। इसी तरह मालवीयजी के हाथ का दान हिन्दू-विश्वविद्यालय है, और यह भीरामचरित-मानस जैसा ही चमत्कारपूर्ण है।

अतएव मालवीयजी जैसे महान् व्यक्ति का जीवन-चरित हमारे लिए एक प्रशस्त राजमार्ग है; और हमें गर्व होना चाहिए कि हमीं में से एक ग़रीब के घर से वह शुरू हुआ है।

गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है:—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

इसीको तुलसीदास ने और विस्तार देकर कहा है:—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी ।
कोउ एक होइ धरमव्रतधारी ॥
धर्मसील कोटिक महुँ कोई ।
विषय विमुख विराग रत होई ॥
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई ।
सम्यक ज्ञान सुकृत कोउ लहई ॥
ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ ।
जीवन्मुक्त सुकृत जग सोऊ ॥
तिन सहस्र महुँ सब सुख खानी ।
दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी ॥

सो मालवीयजी हज़ारों में एक, लाखों में एक और करोड़ों में भी एक ही व्यक्ति हैं । ऐसे व्यक्ति के जीवन का रहस्य क्या कम मूल्यवान् होगा ? और उसका उद्‌घाटन यदि मेरी लेखनी से सुचारु रूप से हो सका, तो क्या मुझे कम आनंद प्राप्त होगा ?

परिशिष्ट—१

मालवीयजी के जीवन से संबंध रखनेवाली मुख्य-मुख्य घटनाओं की तालिका

सन्	घटनायें और कार्य
१८६१	जन्म (पौष कृष्ण ८, बुधवार, सं० १९१८)
१८६६	महल्ले की संस्कृत-पाठशाला में पढ़ने के लिये बैठाये गये।
१८६९	यज्ञोपवीत संस्कार हुआ।
१८६९	अंग्रेज़ी स्कूल में भरती हुए।
१८७७	इंट्रेंस पास हुए।
१८७८	विवाह हुआ।
१८८१	स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग शुरू किया। प्रयाग में 'देशी तिजारत कम्पनी' खुली, उसे सहायता पहुँचाते रहे।
१८८०	प्रयाग में 'हिन्दू-समाज' की स्थापना हुई। मालवीयजी कालेज की पढ़ाई चलाते हुए उसके कामों में भी पूरा सहयोग देते रहे।
१८८४	'मध्य हिन्दू-समाज' स्थापित करके मालवीयजी हिन्दू-संगठन और समाज-सुधार का काम करने लगे।
१८८४	कलकत्ते से बी० ए० पास किया।
१८८४	प्रयाग में 'हिन्दी-उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा' स्थापित हुई। मालवीयजी उसके प्रधान कार्य-कर्त्ता हो गये।
१८८५	अध्यापक हुए। वेतन ४०) मासिक।
१८८६	पहली बार कांग्रेस में सम्मिलित हुए और ऐसा सुन्दर और प्रभावशाली भाषण दिया कि कांग्रेस पर सिक्का जम गया। कलकत्ते में यह कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन था।

१८८७ स्वदेश और हिन्दू-जाति के उत्थान में पूरी शक्ति लगाने की अंतर्प्रेरणा से अध्यापकी छोड़ दी ।

१८८७ हरद्वार में भारतधर्म-महामंडल की स्थापना हुई। मालवीय जी उसके महोपदेशक माने जाने लगे ।

१८८७ कालाकाँकर से निकलनेवाले हिन्दी के दैनिक 'हिन्दुस्थान' के सम्पादक हुए ।

१८८९ मालवीयजी के उद्योग से प्रयाग में 'भारती-भवन' पुस्तकालय स्थापित हुआ ।

१८८९ हिंदुस्थान का संपादन छोड़कर वकालत की पढ़ाई शुरू की।

१८८९ पंडित अयोध्यानाथ के अंग्रेज़ी पत्र 'इंडियन यूनियन' के संपादक हुए ।

१८९१ एल-एल० बी० हुए ।

१८९२ ज़िले की वकालत शुरू की ।

१८९३ हाईकोर्ट की वकालत शुरू की ।

१८९५ देवनागरी लिपि को अदालतों में जारी कराने के लिए युक्तप्रांत के तत्कालीन गवर्नर से मिले, और उसके बाद तीन वर्ष तक लगातार उसका मसौदा बनाने में लगे रहे। ऐसा मसौदा देवनागरी या हिन्दी के लिए आजतक और किसी ने नहीं तैयार किया ।

१९०१ प्रयाग में एक हिन्दू बोर्डिंग हाउस बनाने का आन्दोलन उठाया ।

१९०१ इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी के वाइस चेयरमैन चुने गये । इस पद पर तीन वर्ष तक रहे ।

१९०३ प्रांतीय कौंसिल के मेम्बर नियुक्त हुए ।

१९०३ १८८१ में प्रयाग-विश्वविद्यालय खुला था । हिन्दुओं के लिए कोई छात्रावास न होने से हिन्दू विद्यार्थियोंकी असुविधा

देखकर मालवीयजी ने ढाई लाख के लगभग चंदा एकत्र कर 'मेकडानल्ड हिंदू होस्टल' का विशाल भवन बनवाया।

१९०४ हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना की योजना तैयार की।

१९०५ काशी में कांग्रेस के अवसर पर हिन्दू-विश्वविद्यालय की योजना विचारार्थ एक समिति को सौंपी गयी।

१९०५ स्वदेशी-प्रचार का आन्दोलन उठाया।

१९०५ सनातन-धर्म सभा (प्रयाग) के विराट् अधिवेशन में हिन्दू-विश्वविद्यालय की योजना स्वीकृत हुई।

१९०६ कलकत्ता कांग्रेस में सम्मिलित हुए। दादाभाई नौरोज़ी सभापति थे।

१९०७ स्वदेशी-प्रचार का आन्दोलन बड़े ज़ोरों से उठाया।

१९०७ सूरत की कांग्रेस में सम्मिलित हुए और गरम और नरम दलों में मेल कराने का प्रयत्न किया।

१९०७ प्रयाग से हिन्दी साप्ताहिक 'अभ्युदय' निकाला और दो वर्ष तक उसका संपादन किया।

१९०८ लखनऊ में प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के सभापति हुए।

१९०८ नरम दल ने 'कांग्रेस' नाम छोड़कर 'कन्वेंशन' क़ायम किया और उसका कांस्टीटयूशन बनाया, जिसमें 'डोमिनियन-स्टेटस' की माँग कांग्रेस से पहले की गयी। मालवीयजी ने कन्वेंशन में ज़ोरदार भाग लिया।

१९०९ कांग्रेस के सभापति चुने गये।

१९०९ विजयादशमी के दिन से 'लीडर' निकाला।

१९०९ प्रांतीय कौंसिल से बड़ी कौंसिल के लिये चुने गये।

१९०९ प्रेस ऐक्ट का ज़ोरदार विरोध किया।

१९०९ बड़ी कौंसिल में गोखले के शिक्षा-बिल का ज़ोरदार समर्थन किया।

१९१० मालवीयजी के कहने से युक्तप्रांत के गवर्नर सर जान हिवेट ने प्रयाग में प्रदर्शिनी खोली ।

१९१० ९ नवम्बर को प्रयाग में प्रोक्लेमेशन पिलर (घोषणा-स्तंभ मिण्टोपार्क) की नींव पड़ी, जो १९१८ में बनकर तैयार हुआ।

१९१० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पहला अधिवेशन काशी में हुआ, जिसके सभापति मालवीयजी हुए ।

१९१० बड़ी कौंसिल में शर्तबन्द कुली-प्रथा का ज़ोरदार विरोध किया ।

१९११ हिन्दू-विश्वविद्यालय के चन्दे के लिए दौरा प्रारंभ किया ।

१९१२ पब्लिक सर्विस कमीशन के सामने गवाही दी ।

१९१४ मालवीयजी ने होमरूल लीग के आन्दोलन में लगातार ३-४ वर्ष तक योग दिया ।

१९१४ गंगा-नहर (हरद्वार) का आन्दोलन उठाया ।

१९१४ प्रयाग-सेवासमिति की स्थापना हुई, जिसके सभापति मालवीयजी हुए ।

१९१५ इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में हिन्दू-विश्वविद्यालय का बिल पेश हुआ और पास हुआ ।

१९१६ काशी में लार्ड हार्डिंज के हाथ से हिन्दू-विश्वविद्यालय की नींव रक्खी गयी ।

१९१७ विलायत भेजे जानेवाले प्रतिनिधि-मंडल में मालवीयजी चुने गये ।

१९१८ अखिल भारतीय सेवा-समिति-ब्वाय स्काउट्स एसोसियशन की स्थापना हुई । मालवीयजी उसके 'चीफ़ स्काउट' बने ।

१९१८ राउलट बिल का ज़ोरदार विरोध किया ।

१९१८ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नवें अधिवेशन (बम्बई) के सभापति हुए ।

१९१८ कांग्रेस (दिल्ली) के सभापति हुए।

१९१९ इंडेम्निटी बिल के विरोध में बड़ी कौंसिल में ५ घंटे भाषण किया।

१९१९ जलियाँवाला बाग़ के हत्याकांड के बाद पंजाब की सहायता की।

१९१९ पंजाब-जाँच-कमेटी में काम किया।

१९१९ पंजाब के पीड़ितों को सेवा-समिति द्वारा आर्थिक सहायता पहुँचायी।

१९२० बड़ी कौंसिल के चुनाव का परित्याग किया।

१९२१ कांग्रेस (बम्बई) की बैठक में प्रिंस आफ वेल्स के बॉयकाट का प्रस्ताव पास हुआ। मालवीयजी ने उसका विरोध किया।

१९२१ लार्ड रीडिंग से मिले।

१९२२ ४ फरवरी, १९२२ को गोरखपुर ज़िले में चौरीचौरा कांड हुआ। मालवीयजी बारडोली गये और गाँधीजी को देश की परिस्थिति से परिचित किया।

१९२२ बम्बई में 'मालवीय कांफ़्रेन्स' बुलाकर देश की तत्कालीन दशा पर विचार किया।

१९२२ गांधीजी के पकड़े जाने पर मालवीयजी ने पेशावर से डिब्रूगढ़ (आसाम) तक दौरा किया और जनता को स्वराज्य, स्वदेशी और मुसलिम एकता का मर्म समझाया। सरकार ने कई स्थानों पर मालवीयजी पर दफ़ा १४४ लगायी, पर एक बार भी उसने उसका पालन नहीं किया।

१९२३ काशी में अखिल भारतीय हिन्दू-महासभा का अधिवेशन मालवीयजी के सभापतित्व हुआ, जिसमें सनातन-धर्मी आर्यसमाजी, बौद्ध, सिक्ख, जैनी, पारसी सभी सम्प्रदायों

के लोग शामिल हुए।

१९२४ हिन्दुस्तान टाइम्स (अंग्रेज़ी दैनिक—दिल्ली) का प्रबंध हाथ में लिया। अब भी उसकी प्रबन्ध-समिति के अध्यक्ष हैं।

१९२४ प्रान्तीय-सनातनधर्म सभा रावलपिंडी के सभापति हुए।

१९२४ प्रयाग में संगम-स्नान के लिए सत्याग्रह किया।

१९२४ कोहाट में हिन्दू-मुसलिम दंगा हुआ। मालवीयजी वहाँ पहुँचे और दंगे के पीड़ितों को सहायता पहुँचायी।

१९२५ अमृतसर के दुर्गियाना मन्दिर और सरोवर की स्थापना करायी।

१९२६ कलकत्ते में दंगा हुआ। सरकार ने मालवीयजी को कलकत्ते जाने से रोका। पर वे गये।

१९२६ लाला लाजपतराय के साथ नेशनलिस्ट पार्टी क़ायम की।

१९२७ हरिद्वार-तीर्थ की सम्मान-रक्षा के लिए आन्दोलन।

१९२७ काशी में दशाश्वमेध घाट पर मालवीयजी ने अछूतों को मंत्र-दीक्षा दी।

१९२८ अखिल भारतीय सनातन-धर्म महासभा का अधिवेशन मालवीयजी के सभापतित्व में हुआ।

१९२८ पंजाब का दौरा।

१९२८ कलकत्ते में अछूतों को मंत्र-दीक्षा दी।

१९२८ ३१ अक्तूबर, १९२८ को मालवीयजी साइमन कमीशन के वहिष्कार के सम्बन्ध में लाहौर गये। लाला लाजपतराय साथ थे। उसी अवसर रर पुलिस ने लालाजी पर डंडे से वार किया; जिसकी चोट से १७ नवम्बर को लालाजी की मृत्यु हुई।

१९२९ बेलगाँव में हिन्दू महासभा का अधिवेशन मालवीयजी के सभापतित्व में हुआ।

१९२९ मालवीयजी ने लार्ड इरविन से मिलकर और लिखापढ़ी करके राउण्ड टेबुल कान्फ्रेन्स करायी।

१९२९ सनातनधर्म के प्रचार के लिए पंजाब का दौरा किया।

१९३० २ अप्रैल को कांग्रेस के आदेशानुसार मालवीयजी ने व्यवस्थापिका सभा से इस्तीफा दे दिया।

१९३० पेशावर में गोलियाँ चलीं। मालवीयजी फिर पंजाब पहुँचे।

१९३० पहली अगस्त को लोकमान्य तिलक की पुण्यतिथि के जुलूस में मालवीयजी पकड़े गये और जेल भेजे गये।

१९३० २७ अगस्त को दिल्ली में मालवीयजी फिर पकड़े गये और नैनी जेल भेजे गये।

१९३१ २९ अगस्त को मालवीयजी गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए विलायत को रवाना हुए।

१९३२ दिल्ली कांग्रेस में जाते समय दनकौर स्टेशन पर मालवीय-जी पकड़े गये और तीन-चार दिन बाद इलाहाबाद लाकर छोड़ दिये गये।

१९३२ पूना गये और साम्प्रदायिक निर्णय में भाग लिया।

१९३२ १४ जनवरी को मालवीयजी विलायत से लौट आये। और उन्होंने भारतवर्ष की विषम परिस्थिति के सम्बन्ध में वाइसराय को पत्र लिखा।

१९३२ इलाहाबाद में युनिटी कांफ्रेन्स की बैठक करायी।

१९३३ हिन्दू-विश्वविद्यालय से 'सनातन-धर्म' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला।

१९३३ गंगा-नहर का दूसरा झगड़ा।

१९३३ कलकत्ता कांग्रेस में जाते हुए असनसोल स्टेशन पर फिर पकड़े गये।

१९३४ रावलपिंडी में सनातनधर्म महासम्मेलन का सभापतित्व।

१९३४ गाँधीजी के अछूतोद्धार का एक वर्ष का दौरा काशी में समाप्त हुआ। मालवीयजी ने उसकी सभा में भाषण किया।

१९३४ मालवीयजी ने कांग्रेस के अंतर्गत नेशनलिस्ट पार्टी बनायी।

१९३४ बिहार के भूकम्प से पीड़ितों के लिए धन-जन की सहायता लेकर बिहार गये।

१९३५ पूना के हिन्दू-महासभा के सत्रहवें अधिवेशन के सभापति चुने गये।

१९३५ कांग्रेस के पचासवें वर्ष में उसकी स्मृति-शिला का उद्घाटन बम्बई में मालवीयजी के हाथों हुआ।

१९३६ अखिल भारतवर्षीय सनातनधर्म-महासभा का प्रयाग में सभापतित्व किया।

१९३६ नासिक में अछूतों को मंत्र-दीक्षा दी और धर्म-प्रचार किया।

१९३६ शिवरात्रि के अवसर पर काशी में हिंदुओं का बड़ा भारी जुलूस निकला और अगले दिन मालवीयजी ने हरिजनों को मंत्र-दीक्षा दी।

१९३६ फ़ैजपुर कांग्रेस में मालवीयजी ने बड़ा ओज-पूर्ण भाषण दिया।

१९३८ स्वास्थ्य-सुधार के लिए कायाकल्प का प्रयोग किया। १७ जनवरी को कायाकल्प-कुटी में प्रवेश किया और ४५ दिन में पूरा करके निकले।

१९३९ १७ अक्तूबर को हिन्दू-विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर का पद अस्वस्थता के कारण छोड़ा।

१९४० प्रायः अस्वस्थ रहे।

परिशिष्ट—२

हिन्दू-विश्वविद्यालय के चंदे में प्रमुख दान-दाताओं की सूची

हिज हाइनेस श्रीमान् महाराणा साहब उदयपुर	१,५०,०००
,, ,, महाराजा जोधपुर	६,००,०००
तथा सदा के लिए प्रति वर्ष	२४,०००
,, ,, महाराजा जयपुर	५,००,०००
,, ,, महाराजा बीकानेर	२,५०,०००
तथा सदा के लिए प्रति वर्ष	१२,०००
,, ,, महाराजा कोटा	१,५०,०००
,, ,, महाराजा किशनगढ़	५०,०००
,, ,, महाराजा अलवर	२,००,०००
,, ,, महाराजा गायकवाड़ (बड़ौदा)	३,००,०००
,, ,, महाराजा मैसूर	३,२०,०००
,, ,, महाराजा कश्मीर सदा के लिए प्रति वर्ष	१२,०००
,, ,, महाराजा सिन्धिया (ग्वालियर)	५,२५,०००
,, ,, महाराजा होल्कर (इंदौर)	५,००,०००
,, ,, महाराजा पटियाला	५,००,०००
तथा सदा के लिए प्रति वर्ष	२४,०००
,, ,, महाराजा नाभा	१,००,०००
,, ,, महाराजा बनारस	१,००,०००
,, ,, महाराजराणा धौलपुर	८०,०००
,, ,, ठाकुर साहब लीमड़ी	५५,०००
,, ,, महाराजा ट्रावनकोर	१,२५,०००
तथा सदा के लिए प्रति वर्ष	१०,०००

हिज़हाईनेस श्रीमान् महाराजा कोचीन	१,००,०००
तथा सदा के लिए प्रतिवर्ष	६,०००
आनरेबुल श्रीमान् महाराजाधिराज दरभंगा	५,००,०००
महाराजा सर मणीन्द्रचन्द्र नन्दी, कासिमबाज़ार	१,३१,०६५
बाबू ब्रजेन्द्रकिशोर राय चौधरी, गौरीपुर, मैमनसिंह	१,००,०००
डाक्टर सर रासबिहारी घोष	१००,०००
श्रीयुत भोलानाथ बरुआ (आसाम)	१,२०,०००
राजा कृष्टोदास और सेठ हज़ारीमल दवे (कलकत्ता)	१,००,०००
तारकेश्वर महन्तजी	१,००,०००
महाराजा सर भगवतीप्रसादसिंहजी (बलरामपुर अवध)	१,२७,०००
राजा सूरजबख्श सिंह (अवध)	१,००,०००
आनरेबुल राजा मोतीचन्द (बनारस)	१,००,०००
डाक्टर सर सुन्दरलाल (इलाहाबाद)	१,००,०००
राजा सूर्यपालसिंह (अवागढ़)	१,००,०००
राय रामचरनदास बहादुर (इलाहाबाद)	७५,०००
राजा हरिहरप्रसाद नारायणसिंह (अमावाँ पटना)	५०,०००
सेठ साँगीदास जैसीराम (बम्बई)	२,५०,०००
सेठ मथुरादास बसनजी खीमजी	१,५०,०००
सेठ धरमसी और सेठ नरोत्तम मुरारजी गोकुलदास (बम्बई)	१,००,०००
सेठ रामनारायण हरनन्दराय रुइया (बम्बई)	१,००,०००
सेठ खेतसी खैरसी (बम्बई)	१,००,०००
सेठ दयाशंकर दवे (बम्बई)	१,००,०००
सेठ मूलराज खटाऊ और सेठ भीकमदास गोवर्धनदास खटाऊ (बम्बई)	२,८४,६००

राजा बलदेवदास बिड़ला और उनके पुत्र (कलकत्ता और बम्बई)	६,९२,१००
सेठ जीवनलाल पन्नालाल और उनके भाई (बम्बई)	६२,५००
सेठ मूलजी हरीदास (बम्बई)	५०,०००
सेठ सूरजमल हरनन्दराय (बम्बई)	५०,०००
सेठ शान्तिदास आसकरन (बम्बई)	५१,०००
सेठ मनीलाल जुगलदास (बम्बई)	५१,०००
सेठ वसनजी मनजी (बम्बई)	५१,०००
सेठ छबीलदास लक्ष्मीदास (बम्बई)	६१,०००
सेठ बाँकेलाल और सेठ मूगलाल (बम्बई)	५०,०००
सेठ केलाचन्द देवचन्द (बम्बई)	५०,०००
सेठ मंगलदास गिरधरदास पारख (अहमदाबाद)	५१,०००
सेठ हंसराज प्रागजी ठाकरसी (बम्बई)	५१,०००
सेठ ताराचन्द घनश्यामदास (कलकत्ता)	५०,०००
सेठ चतुर्भुज गोवर्धनदास मूल जेठावाले (बम्बई)	१,००,०००
सेठ जमनालाल बजाज (वर्धा)	५०,०००
राजा रामानन्दसिंह और राजा कीर्त्यानन्दसिंह (पूर्नियाँ)	१,००,०००
